

## प्रकीर्णकीय :

श्री 'ध्यानशतक' नाम के प्रसिद्ध 'ध्यानाध्ययन' नाम के १०५ गाथा के शास्त्र श्री पूर्वधर महर्षि पूज्य श्री जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण महाराज ने रचना की, तथा उस पर संक्षिप्त व्याख्या पू. आचार्य श्री हरिभद्र सूरिजी महाराज ने की। दोनों महर्षि ऐसे अति उच्च श्रेणी के विद्वान हैं कि जिनकी पंक्तियों को सूत्राक्षर की तरह अपने रचित शास्त्रों में आधार रूप में बाद के शास्त्रकारों ने लिखा है।

आचार्य पुरंदर श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण महाराज पूर्वधर महर्षि रहे। १४ 'पूर्व' नाम के शास्त्रों, जो श्रुत-सागरस में उन शास्त्रों के अन्तर्गत १ 'पूर्व' नाम के शास्त्र का आप श्री को ज्ञान था। इनके उपरान्त तो 'पूर्व' शास्त्र नष्ट हो गये, इनमें से कितने ही पदार्थों के अवशेष रहे। सूत्र से नष्ट होने का कारण यह कि ये कोई लिखित नहीं थे मात्र मुखपाठ से ही पढ़ाये व याद कराये जाते थे। समय काल के प्रभाव से बुद्धि का ह्रास होने से ग्रहण करना व याद रखना मुश्किल हुआ। अर्थात् महावीर प्रभु के उपरान्त १४ 'पूर्व' में से क्रमशः नष्ट होते होते १००० वर्ष में तो 'पूर्व' ज्ञान समूल नष्ट हो गया। श्री जिनभद्रगणी क्षमा-श्रमण महाराज इसके अन्त समय में हुये इसलिये इनको लगभग १ 'पूर्व' जितना ज्ञान होगा ऐसा माना जाता है।

इन महर्षि ने श्रमणसूत्र में आते 'चउहिं भाणेहिं' पद को लेकर 'भाण' अर्थात् कि ध्यान, उस पर 'ध्यान अध्ययन' रचा है । १०५ गाथा का अर्थात् १०० 'शत' की नजदीक संख्या की गाथाओं का, इसलिये यह अध्ययन 'ध्यान-शतक' के रूप में पहचाना जाता है ।

सूरि पुरंदर श्री हरिभद्र सूरेश्वरजी महाराज ने इस शास्त्र की गाथा के पद पद का गंभीर भाव स्पष्ट करने पूर्ण व्याख्याओं की रचना की है । १४४४ शास्त्रों के प्रणेता रूप में बहुश्रुत महाप्रज्ञ आचार्य भगवन्त की अत्यन्त प्रसिद्धि है । योग शतक, योगदृष्टि सङ्ग्राह्य, योगबिन्दु, अनेकान्तवाद, उपदेश पद, पंचाशक, धर्म ग्रंथों इत्यादि शास्त्रों की रचने के उपरान्त आप श्री ने श्री चैत्यवंदन सूत्र वृत्ति, पंच सूत्रवृत्ति, आवश्यकवृत्ति आदि ग्रंथों की भी रचना की है ।

“ध्यानशतक” शास्त्र की बातें जीवन के साथ गहन संबंध रखने से उन्होंने अनेक अवकाशों में चलते धार्मिक शिविरों में गुजराती पूज्य आचार्य श्री भुवनभानु सूरेश्वरजी महाराज ने इस शास्त्र का गंधार पर “ध्यान तथा जीवन” इस विषय पर प्रवचन किया । जिनका अवतरण लेकर विस्तृत विवेचन तैयार कर गुजराती साप्ताहिक 'दिव्य दर्शन' वर्ष १७ वें के तथा हिन्दी पाक्षिक तीर्थंकर दिव्य दर्शन के अंकों में क्रमशः प्रगट करते रहे । दिव्य दर्शन गुजराती तथा तीर्थ-

कर दिव्य दर्शन हिन्दी के वांचको को इससे अनेरी धर्म प्रेरणा मिलती रही है ।

यह ग्रंथ पूज्य श्री के 'ध्यान' विषय पर चिन्तन तथा अनुभवों व शास्त्रीय सत्यों का असूत्य खजाना बन गया है । 'ध्यान' ये मात्र पद्मासन लगाकर आराधना करने की वस्तु नहीं परन्तु शास्त्रनिहित तमाम शुभ क्रियाओं में शुभ ध्यान कितना ओतप्रोत है इस तथ्य पर सुन्दर प्रकाश डाला है । लगभग तमाम संज्ञी जीवों को एक या दूसरे प्रकार का ध्यान चालु हो होता है परन्तु उसमें 'रौद्र' व 'आर्त' दो अशुभ प्रकार की ही बोलबाल होती है । दैनिक जीवन में मानव कदम कदम पर कितना अधिक दुर्ध्यान करता होता है इसका नमूना पूज्यश्री ने इतना सूक्ष्म दर्शाया है कि ध्यान ध्यान करने वालों का उन्माद पिघल जाये व स्वयं को सच्चा ख्याल हो जाय कि ध्यान की भूमि पर पैर रखने की बात तो दूर रही, सबसे पहले तो दुर्ध्यान के मगरमच्छ जिसने अपने को पक्की पकड़ में ले रखा है उसे छूटने की सख्त जरूरत है । व इसके लिये प्रतिपक्षी शुभ ध्यान पैदा करने वाली शुभ क्रियाओं में उड़ने की आवश्यकता है ।

पूज्य श्री ने दुर्ध्यान की भोजन पकड़ व उससे छूटने के लिये उपयोगी चिन्तन शैली का जो हृदयंगम वर्णन किया है वह प्रत्येक ध्यातोपासक को विचार करता बना दे ऐसा

है । स्वयं को ध्यान में आगे बढ़े हुये मान लेने वालों को भी सिंहावलोकन न्याय में अपनी योग्यता तथा अपनी भूमिका को पुनः एक बार चैक कर लेने की प्रेरणा देता यह ग्रंथ सचमुच ही ध्यान की पिपासा रखने वालों की प्यास तृप्ती करे ऐसा है । पूज्य श्री जैन शासन के एक अनमोल रत्न है उनका ध्यान तथा चिंतन एक तरफ शास्त्रीय सत्यों से परिपूर्ण है तो दूसरी तरफ वर्तमान काल को नयी दिशा बोध करता है ।

इस पुस्तक के विषय में, मन के भावों को कैसे संशोधन करना इस पर बोधक तथा रोचक शैली से विचार किया गया है । साथ ही सुन्दर दृष्टान्त व दलीलें भी प्रस्तुत की गई हैं । अनेक जगहों पर आत्मा की उन्नति की पाप से बचने की चाबी दिखायी गई है । यह सब जीवन में अनुकरण करने हेतु पुनः पुनः अध्ययन करने योग्य है ।

लि. कुमारपाल वि. शाह





ॐ अर्हम् नमः ॐ

# मानव जीवन में ध्यान का महत्व

✽ प्रथम भाग ✽

विवेचनकार :

कर्म साहित्य परम निष्णात सिद्धान्त  
महोदधि स्व. पू. आचार्य भगवन्त श्री  
विजय प्रेम सूरेश्वरजी महाराज के  
शिष्य रत्न प्रभावक प्रवचनकार  
पूज्य आचार्य देव

श्री विजय भुवनभानु सूरेश्वरजी म.

प्रकाशक :

✽ दिव्य दर्शन ट्रस्ट ✽

कुमारपाल वि. शाह

39-कलिकुण्ड सोसायटी

धोलका [जिला-अहमदाबाद]

Pin : 387810

सौजन्य :

चंपालाल अशोककुमार बाफना

स्व. पूज्या मातुश्री की  
पावन स्मृति में



चंपालाल अशोककुमार बाफना

1046, R. G. Street

COIMBATORE - 641001

# मानव जीवन में ध्यान का महत्व

## प्रकरण--१. दुःख में कर्म--निवास पर ध्यान

मानव जीवन में ध्यान महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। मानव को बड़े से बड़ा साधन 'विशिष्ट शक्ति संपन्न मन' मिला है। इस मन की ध्यानधारा पर वह सुख-दुःख का सर्जन करता है, हर्ष-शोक का सर्जन करता है, बदशाही-गरीबी का सर्जन करता है और परलोक के लिये प्रबल शुभाशुभ कर्म का सर्जन कर सकता है। यहां तक कि अनन्त संसार या अनन्त पक्ष का उपार्जन कर सकता है। सब मन पर आधारित है। बाह्य संयोग या परिस्थितियाँ चाहे प्रतिकूल भी हों, किन्तु उनसे दुःखी ही हो जाय ऐसा कोई नियम नहीं। क्योंकि यदि मन का ध्यान कर्म के निकाल पर हो तो खेद-उद्वेग न होकर हर्ष होता है।

## प्रतिकूलता में कर्म का निकाला कैसे ? ( क्यों ? )

अचानक आ पड़ी आपत्ति में कारण कौन ? मनुष्य अचानक बीमार पड़ता है, यकायक दुर्घटना का शिकार बनता है, पत्नी की बीमारी, पुत्र की बीमारी, व्यापार में नुकसान, मालिक की नाराजगी राज्य-कर (टेक्स) महंगाई, गृहभंग आदि यकायक आनेवाली आपत्तियों से वह घिरा जाता है। यह अनचाहा, अनसोचा कैसे घट जाता है ? जीव की यहाँ की बराबर सावधानी हो, उद्वम सही मार्ग पर हो फिर भी ऐसा कैसे हो जाता है ? इस प्रश्न के समाधान में यही कहा जाए कि पूर्वोपाजित अपने स्वयं के अशुभ कर्म के उदय से ही अचानक ऐसी आपत्ति आ पड़ती है।

वहाँ 'भगवान ने ऐसा किया, या ' By Chance ऐसे ही अचानक हो गया,' आदि समाधान लूले हैं। 'कारण के बिना कार्य होता ही नहीं,'-ऐसा जगत में सनातन सिद्धान्त हैं। नही तो दूध के बिना ऐसे ही यकायक दही बन सकता हैं। सूर्य के बिना विश्व पर ऐसे ही ताप और प्रकाश जगमगा सकता है। नही, नहीं कारण के बिना कार्य कैसे हो सकता है? अगर कहें भगवान को कारण माना जाय तो, क्या भगवान इतने निर्दयी वा पक्षपाती है कि अमुक व्यक्ति को ही प्रतिबलता-आपत्ति या दुर्घटना देते हैं? वह भी अपराध के बिना देते हैं?' कई नवजात शिशुओं का यहाँ वा कोई गुनाह नहीं हैं, फिर भी वे बीमार क्यों? यदि भगवान उन्हें बीमार करते हो तो वे कितने क्रूर माने जायेंगे? अतः यह सब बात गलत है। वस, एक ही बात सत्य है कि जीव के स्वयं के पूर्व जन्म में उपार्जित अशुभ कर्म यहाँ पर उदय में आये, इसीसे उस पर अचानक आपत्ति आ जाती है।

**रामचन्द्रजी** राजादशरथ के कुल में कैसे दीपक तुल्य, व कितने सद्गुणी एवं सरल प्रकृति वाले पुत्र? फिर भी उन्हें क्यों राज्याभिषेक के अवसर पर ही वनवास जाना पड़ा? कैकेयी का दोष हो, इसमें राम को दंड? राम का राज्य हक गुम? वारते वहाँ अब तो मानना ही पड़ेगा कि राम के स्वयं के पूर्वकर्म के बिना ऐसा हो ही नहीं सकता।

**सीताजी** महासती थी। रावण उन्हें जंगल में से उठा ले गया, यह सीता के किसी अपराध से? किस भूल से? तो क्या ऐसा कहा जाए कि राम-लक्ष्मण की भूल से ऐसा हुआ? 'वे दोनों बाहर गये इसीलिये रावण के द्वारा सीता का अपहरण

हुआ ? ठोकर कोई खाये और खून किसी और को निकल आये ? खभे से सर किसी का टकराव और फोड़ा किसी और के सर पर उठ आया ? नहीं, स्वयं की भूल से ही स्वयं पर दुःख आता है । रावण जो सीता को उठा ले गया, इसमें सीता के खुद के ही पूर्व कर्म जिम्मेवार थे । वैसे सीताजी वहाँ पर रावण के किसी भी प्रलोभन या भय से चलित नहीं हुई, महापवित्र रहीं फिर भी जब अयोध्या वापिस लौट आयी तब लोगों ने ऐसी पवित्र महासती का अपवाद क्यों गाया ? 'परपुरुष रावण के वहाँ रहकर आयी हुई सीता पवित्र हो ही नहीं सकती,' 'ऐसी स्त्री को राम जैसे को नहीं रखलेनी चाहिये ' आदि कलंक सीता पर बिना अपराध क्यों चढ़ा ? राम जैसे महापुरुष ने उन्हें जंगल में क्यों छुड़वा दिया ? कहना ही पड़ेगा कि सीता के खुद के ही पूर्वोपाजित कर्म ने उदय में आकर यह सब किया । स्वयं के अशुभ कर्म के उदय के बिना आपत्ति कैसे ?

### महावीर प्रभु के कर्म की सरजोरी:-

सारांश, यहां पर आप चाहे जितने अच्छे वने अच्छा वर्ताव करें, अच्छे रहें, परन्तु ज्योंही वैसे कोई पूर्व के अशुभ कर्म उदय में आये, तभी आपत्ति तो आयेगी हो । प्रभु महावीर स्वामी बहुत ही अच्छे थे, फिर भी चारित्र्य लेने के बाद उन पर अपार आपत्ति आयी न ? यह स्वयं के ही पूर्व के कर्मों के उदय से ! चाहे देवता हो या मनुष्य हो या तिर्यंच, सभी ने प्रभु पर घोर उपद्रव किये, परन्तु वे सब तो आपत्ति या उपद्रव में गौण कारण थे, किन्तु प्रधान (मुख्य) कारण तो प्रभु के स्वयं के ही कर्म थे । कर्म की भारी सरजोरी, यह प्रभु को भी नहीं छोड़ती है, प्रभु को भी पकड़ती है । ऐसे कर्म नष्ट हो गये और प्रभु ने केवलज्ञान पाया ।

बाद में तीर्थकर बने., और उसके बाद उन पर कोई उपद्रव या आपत्ति नहीं आयी। सिर्फ एक कर्म का जत्था बाकी रहा होगा, जिससे तीर्थकर बनने के बाद भी गोशाला की तेजोलेश्या की आपत्ति आयी और वह ६ महीने की पीड़ा लायी। इसमें भी गोशाला तो गौण कारण ही था, प्रभु के कर्म ही मुख्य कारण थे। नहीं तो, यदि प्रभु का कर्म शेष न होता तो प्रभु के साथ जघन्य से रहने वाले एक करोड़ देवता क्या गोशाले को रोकते नहीं? देवों के सामने गोशाले की क्या मजाल कि प्रभु के सामने कुछ भी विपरीत करने हेतु कदम भी उठा सके? परन्तु कर्म बलवान है। यह उदय में आये तब भले-भले देवता की आँखों में धूल भोंक देता है, उनके भी दिमाग और कहीं चले जाते हैं और इस तरफ कर्म सरलता से अपना काम कर जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अचानक आयी हुई आफत स्व कर्म के उदय से ही आती है।

### कर्म से दुःख और दुःख से कर्म नाशः--

अब, जिस प्रकार यह सच है कि खुद के अशुभ कर्म के उदय के बिना दुःख या आपत्ति नहीं आती.,

इसी प्रकार यह भी इतना ही सच है कि एक-एक पल की आपत्ति आने के बाद उसे देने वाला उस-उस पल का कर्म टिक ही नहीं सकता।

यानी कि समग्र आपत्ति या दुःख ज्यों भोग लिये, समझ लो उसके साथ ही उसके कर्म खाना हुए, क्योंकि कर्म जिस समय पका, यानी उदय में आया, तभी दुःख या आपत्ति आयी और पका हुआ कर्म अब नीरस होकर आत्मा पर से गिर जाता है। पका हुआ फोड़ा वेदना देता है, पकने के बाद फूट जाता है, फिर वह



फोड़ा तो चला जाता है न ? वस, कर्म का भी कुछ ऐसा ही है ।  
पका हुआ कर्म वेदना देता है, और तुरन्त फूटकर चला जाता है ।

**जितने दुःख भोगेंगे, उतने अशुभ कर्म खत्म**  
**जितने सुख भोगेंगे, उतने शुभ कर्म खत्म**

इसीलिये यह बात कही है कि चाहे जैसी आपत्ति अचानक आ गयी, परन्तु यदि ध्यान कर्म के निकाल पर ही हो कि 'मैं जितना दुःख भोगता हूं, उतने मेरे अशुभ कर्म कम यानी खत्म ही होते जा रहे हैं, कर्म का निकाला ही होता जा रहा है,' तो फिर ऐसे कचरे के निकाल पर खेद क्यों होगा ? इसमें तो खुशी होगी कि 'ओह ! कचरा साफ हो रहा है ।' जब कि ध्यान कर्म के निकाल पर न हो और कर्म के उदय पर या ओर किसी पर हो, तो खेद ही होगा कि, हाय ! यह दुःख कहाँ से आया ? हाय ! उस फलां आदमी ने मेरा विगाड़ा ।'

**दुःख होने पर भी दुःखी नहीं :**

कर्म के निकाल पर जिसकी दृष्टि है, क्या उसे दुःख नहीं है ? हां है, लेकिन खेद नहीं है, उसके मन को दुःख नहीं है, वह दुःखी नहीं है ।

महावीर प्रभु पर दुःख बहुत आये, लेकिन प्रभु दुःखी नहीं थे, क्योंकि प्रभु की दृष्टि अपने कर्मों के निकाल पर था, वे अपने आत्मध्यान में ही मस्त थे ।

इसीलिये तो यह बात है कि जैसा ध्यान हो, उसीके अनुसार मनुष्य सुखी या दुःखी बनता है, एवं हर्ष या शोक का

अनुभव करता है। इसीलिये सुखी बनने की चाबी यही है कि 'ध्यान मलिन नहीं निर्मल रखो, बेकार की वस्तु पर नहीं, लेकिन मुख्य वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करो,' जिससे खेद-उद्वेग छू नहीं पायेंगे। ऐसे निर्मल शुभध्यान से परलोक के लिये भी शुभ कर्म का ही उपाजन होता है, इससे वहाँ भी सुख-सुविधा प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार यहाँ के सुख-दुःख और परलोक की अच्छी या बुरी स्थिति यहाँ के अच्छे या बुरे ध्यान पर निर्भर है। अतः ध्यान यह जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

## प्रकरण-२. ध्यान का जीवन के साथ सम्बन्ध

किसी भी वस्तु पर मन की एकाग्रता यह ध्यान है।  
अशुभ ध्यान से चिन्ता-बेचैनी :-

पहले कहा गया है, इस तरह ध्यान वस्तु के ऊपर ऊपर के बेकार मुद्दे पर हो सकता है या अन्दर के मुख्य मुद्दे पर हो सकता है। उदाहरण के लिये, पैसे मिले, अब उस पर इस तरह से मन जम जाये कि 'यह पैसा न जाय व अब टिका रहे तो अच्छा' तो यह पैसे या वस्तु के ऊपर, ऊपर के मुद्दे पर मन गया। पैसों का टिका रहना यह ऊपर ऊपर की बात है, क्योंकि पैसा यह टिकने वाली वस्तु नहीं है। चाहे थोड़े समय के लिए पैसे टिके हुए दिखायी दें, लेकिन अन्त में तो जाने ही वाले हैं, यह तो निश्चित ही है। यहाँ पर जीते हुए भी पैसे जा सकते हैं, और अन्त में मरकर तो कोई भी पैसे साथ नहीं ले जा सकता, या पीछे वाले कोई उसे पहुँचा भी नहीं सकते। मरे हुएों को क्या मनी-ऑर्डर भेजा जा सकता है? मानों कि कोई बड़ा करोड़पति मर गया, लेकिन उसका वारिस उसका प्रिय पुत्र भी, वह जहाँ गया

हो, वहाँ मात्र पाँच रुपये का भी मनीऑर्डर भेज सकता है? नहीं। यह इसी बात का सूचना करता है कि पैसा कायम सदैव वाली वस्तु नहीं है। अब यदि मन में यही बात बैठ जाये कि 'ये मिले हुए पैसे टिके रहें, तो अच्छा, न जाय तो अच्छा,' तो यह मन की ऊपर की व्यर्थ बात के प्रति दृढ़ आसक्ति हुई। यह अशुभ ध्यान है। इसमें चिन्ता, उलझन और बेचैनी रहती ही है।

### शुभ ध्यान से शान्ति :

परन्तु यदि मुख्य मुद्दे पर मन केन्द्रित हो, उदाहरण के लिये:- 'ये पैसे तो नाशवत पुण्य का विपाक पुण्योदय हैं, मेरे अधीन नहीं हैं; पुण्योदय के अधीन हैं; पुण्योदय समाप्त होते ही ये तो जाने वाले हैं, तो भले पैसे मिले, परन्तु मुझे कुछ भी हर्ष नहीं मानना है, ऐसा लक्ष यदि जम जाये, तो समझ लीजिये कि पैसे के आन्तरिक सच्चे मुद्दे पर ध्यान गया। फिर इसमें शान्ति रहेगी; अभिमान-उन्माद-अति हर्ष आदि नहीं होगा।

ध्यान किस मुद्दे पर रहता है किस प्रकार का रहता है, इस पर से जीवन में सुख-दुःख हर्ष-शोक आदि के अनुभव होते हैं, और जीवन में चलते-फिरते कुछ भी देखने-सुनने आदि पर या याद आने पर, कितनी बार मन किसी न किसी मुद्दे पर तो जम ही जाता है। इसीलिए कहा जाना है कि ध्यान का जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन के सुख-दुःखादि के साथ ध्यान का बड़ा सम्बन्ध है।

### धर्मसाधना में ध्यान का स्थान :

यह तो शुभ-अशुभ, दोनों प्रकार के ध्यान की बात हुई। परन्तु धर्मसाधना में भी शुभ ध्यान की अत्यन्त महत्ता है। इसी-

लिए तो तीर्थकर देव जैसे भी वीतराग बनने के लिए संयम-तप आदि कड़ी धर्म-साधना करते रहते हैं। उसमें उनके प्रतिदिन के २४ घंटों का अधिकांश भाग कायोत्सर्ग-ध्यान में जाता है। उनकी तपस्या जोरदार, उसमें फिर दैवी उपसर्ग-उपद्रव भी बरसते हैं, फिर भी वे शुभध्यान नहीं गँवाते। क्यों नहीं गँवाते? क्योंकि वे समझते हैं कि यदि ध्यान गँवाया, तो साधना निर्बल बन जाती है। ध्यान की बलवत्ता से ही साधना में जोश रहता है तपस्या की उसमें भूख-प्यास लगी, परन्तु शुभ ध्यान बना रहे तो वह तपस्या को दृढ़ करता है, और यदि शुभ ध्यान गँवा दिया, तो तप मुरदार बन जाता है। भूख में दिन तो बिताते हैं, लेकिन रो-रोकर! क्योंकि ध्यान गया खाने पर, खाने की सुख-शान्ति पर फिर मुँह खुश नहीं, किन्तु ढीला होगा, शब्द उल्लास के नहीं, किन्तु उदासी के निकलेंगे। कोई पूछे, 'कैसे हैं?' तो कहेगा कैसे हैं क्या? ढीले हैं आज उपवास किया है, लेकिन यह अपने जैसों का काम नहीं है। ध्यान किस पर है इसमें ध्यान अच्छे खान-पान की सुख-शान्ति पर है। यह अशुभ ध्यान है। परन्तु ध्यान यदि शुभ हो, 'चलो, आज मन को मारकर भी अनादि काल से लगी हुई दुष्ट आहार-संज्ञा को तोड़ा है, इस दुष्टा को पोषण देना आज बन्द रखा है। यह सुन्दर हुआ,'—ऐसा ध्यान हो, तो, तप में उल्लास रहेगा, तप जोरदार होगा। तब पूछो,

प्र.— लेकिन यदि भूख सताती हो, वहाँ मन तो जाता ही है न? क्या इससे ध्यान नहीं विगड़ता? ऐसा अगर प्रश्न करें?

उ—तो इसका अर्थ तो यही हुआ कि 'भूख भूख करते रहना और मन को विगाड़ते रहना!' सही बात तो यह है कि मन जाय, इससे क्या? उसे 'हाय-हाय' में न ले जाकर, यही विचार करना कि,—

‘इसी तरह आहार संज्ञा को रोकते-रोकते आसानी से तप मे आगे बढ़ा जायेगा फिर नहीं और सोचना कि,

‘लग लग भूख प्यास लग, तू लगे, वैसे मेरे करम भागे ।’

यह मंत्र जपते रहें, मन कर्म क्षय पर जाता है तो यह शुभ ध्यान रूप हो जाता है । भूख लगी, यानी पीड़ा तो है ही, फिर भी ध्यान पीड़ा से होने वाले कर्मक्षय के लाभ पर गया; अर्थात् यह शुभ ध्यान हुआ । कर्मक्षय कोई पौ गलिक वस्तु नहीं है, इन्द्रिय का मनपसन्द ‘विषय’ नहीं है, कि इसका ध्यान विगड़ा हुआ कहलाए । पौगलिक वस्तु सत्कार-सन्मान, कीर्ति आदि तथा इन्द्रिय-विषय इनके पसंद या नापसंद मिलने अथवा चले जाने पर ध्यान जाय, तो यह अशुभ ध्यान हुआ; लेकिन कर्म कोई ऐसी दृश्य अनिष्ट चीज नहीं है, इसीलिये उसके क्षय पर ध्यान, यह अशुभ नहीं किन्तु शुभ ध्यान है । भूख-प्यास की पीड़ा के समय भी यह शुभध्यान कमाया जा सकता है । यह ध्यान जितना रखा जाय, उतना ही यह कर्म का नाश करता है । इसीलिये तप करते वक्त भी यदि यही बात ध्यान में रखी हो कि ‘भूख अधिक लगी, तो कर्म अधिक दूटे,’ तो वहाँ पर इस शुभ ध्यान के बल पर तप की साधना जोरदार बनेगी । इसीलिये कहिये—

किसी भी साधना की बलवत्त ध्यान के बल पर नापी जाती हैं ।

नागकेतु महाश्रावक भगवान की पुष्पपूजा कर रहे थे । उस समय ध्यान तो शुभ ही था कि ‘अहो ! कंसा सुन्दर जिनभक्ति का लाभ ! कैसे उत्तम जिनेन्द्रप्रभु !” परन्तु यह भी इतना जोरदार ध्यान नहीं था, उसके ध्यान की साधना इतनी जोरदार नहीं थी ।

किन्तु जहाँ पुष्पों की टोकरी में स्थित छोटे से सर्प ने उंगली पर डंक मारा, और झनझनाहट उठी वहाँ ध्यान का बल बढ़ा, और वहाँ यही साधना इतनी जोरदार जमी, कि उस साधना से दूसरा सब कुछ भुलाकर, यहाँ तक कि अपनी काया के प्रति भी एक दम निराले निरासक्त बन गये, ऐसी अनासक्त योगी पन की साधना हुई। यह साधना वीतराग की भक्ति की साधना थी। भक्ति यानी भजना, आश्रय करना, चरणलीन बनना, एकाकार होना। इससे वे वीतराग सर्वज्ञ हुए ! केवलज्ञानी बने ! ध्यान के बढ़ते हुए बल पर साधनाबल का प्रतिशत बढ़ा, सामान्य भक्ति से अभेद भक्ति हुई और वीतराग को भजते हुए वे स्वयं वीतराग बन गये।

### अशुभ ध्यान-बल से अशुभ प्रवृत्ति बलवान :-

जैसा शुभ ध्यान में होता है, उसी तरह अशुभ में भी यही होता है। विषयों व कषायों की सांसारिक प्रवृत्ति में भी अशुभ ध्यान के बल पर प्रतिशत बढ़ जाता है। उदाहरण के लिये :-पैसे इकठ्ठे करने की प्रवृत्ति सामान्य लोभ के ध्यान की भी होती है। और उत्कृष्ट लोभ-ध्यान की भी हो सकती है।

बेचारे मम्मण सेठ को ऐसा उत्कृष्ट लोभ का ध्यान रहा, जिससे वह सातवीं नरक में गया। ऐसे उसने कहाँ कत्ल, दुराचार, राज-काज के महा आरंभ-समारंभ किये थे ? कुछ भी नहीं करने पर भी सातवीं नरक का आयुष्य किस बल पर बाँधा ? कहिए घन-संग्रह की प्रवृत्ति के आन्तरिक बल पर; यह बल अशुभ लोभ के ध्यान पर जमा, जिससे सातवीं नरक के कर्म इकठ्ठे किये !

चक्रवर्ती का स्त्रीरत्न कहाँ बड़े पाप करता है ? वह



पटरानी खूँखार लड़ाईयां नहीं लड़ती । उसका पुण्य भी इतना जोरदार होता है कि उसके प्रति अन्य सौतन रानियाँ इतनी आदर व सद्भाव वाली होती हैं कि उसके साथ क्लेश व झगड़ों की तो बात भी नहीं होती । तो क्या उसमें ऐसा परिग्रह या लोभ है ? या भूँठ, चोरी, दुराचार आदि पापाचरण हैं ? नहीं । फिर भी वह क्यों छठी नरक में जाती है ? संसार-सुख की साधना के भारी बल पर । यह बल उसके विषय-रंग के उत्कृष्ट अशुभ ध्यान के बल पर जमता है । उस ध्यान में उसकी आत्मा विषयराग में इतनी चकचूर रहती है कि जिससे छठी नारकी के घोर पाप उपार्जन करती है ।

### सामान्य प्रवृत्ति से घोर पाप क्यों ?

बात यह है कि ध्यान के बल पर साधना का बल बढ़ जाता है । इसीलिये सांसारिक प्रवृत्ति ऐसे चाहे सामान्य रूप की हो, परन्तु ध्यान यानी मन की लगन यदि अशुभ रागादि के जोर वाली बनी, तो यह मन की प्रवृत्ति आन्तरिक रूप से प्रबल पाप-रूप होकर घोर कर्म का बन्ध करायेगी ।

देवदर्शन या नवकार जाप जैसे अच्छी सामान्य भी धार्मिक प्रवृत्ति यदि शुभ ध्यान के बल वाली हो, वीतराग के गुणस्मरणादि पर तीव्र राग के ध्यान वाली मन की लगन इन गुणों पर और खुद की अति लघुता-अधमता पर हो, तो वह देवदर्शन व जाप की प्रवृत्ति भी बलवती बनती है ।

**सामान्य धर्मप्रवृत्ति से भी ध्यान के बल से ऊँचा पुण्य मिलता है ।**

सारांश में, ध्यान का इतना उच्च महत्व है, इसीलिये

शुभ-अशुभ ध्यान का स्वरूप जानने की जरूरत है, जिससे अशुभ ध्यान को पहचान कर उसका प्रतिशत कम करते रहें और शुभ ध्यान को समझकर उसका प्रतिशत बढ़ाते रहें ।

भूलिये मत । इस शुभ ध्यान का अद्भुत प्रभाव है । इससे अचिन्त्य सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । तप में संलग्न महात्माओं को, तप के साथ बढ़ाये गये शुभ ध्यान के बल पर महान लब्धियाँ प्राप्त होती हैं ।

सनत्कुमार महामुनि चक्रवर्तीत्व छोड़कर रोगी देह से भी संयम-तप में ध्यान के बल पर ऐसे आगे बढ़े कि स्वयं के थूक के कण में भी अपूर्व औषध-शक्ति प्राप्त की !, फिर भी निःसंगता का शुभ ध्यान इतना ज्वलंत कि उसका उपयोग अपने रोग के निवारण के लिये नहीं करते । सिर्फ जब स्वर्ग के देव रोग दूर करने वाले धन्वंतरी वैद्य के रूप में परीक्षा करने आये, तब अपनी लब्ध-शक्ति का यत्किंचित् चमत्कार बताया, थूक का कण कोढ़ रोग से व्याप्त उंगली पर लगाने से उंगली कंचन सी बनती हुई दिखायी ! इससे उन्होंने सूचित किया कि,

औषधियों से रोग को तुम क्या निकालोगे ? में तो अपने शरीर मल से ही रोग को मिटा सकता हूँ । परन्तु मुझे इस तरह से रोग नहीं मिटाने हैं; क्योंकि रोग तो मेरे मित्र हैं । उनके सहारे यानी कि उन्हें सहन करते-करते मेरे पूर्व के अशुभ कर्म क्षय पा रहे हैं ।

अशुभ कर्म का जैसे-जैसे उदय होता है, वैसे-वैसे ऐसे रोग आदि पीड़ाएँ आती हैं ।

और जैसे-जैसे ये रोगादि भीगे जायें, वैसे-वैसे उदय पाये

हुए कर्म खत्म होते जाते हैं ।

ये कर्म भी ऐसे धीठ होते हैं कि ऐसे रोग दिये बिना खिसकते ही नहीं, आत्मघर को छोड़ते ही नहीं । इसीलिये रोग तो कर्म को निकालने में सहायक होने से मेरे मित्र हैं, तो फिर कर्मचोरों को निकालने में सहायक मित्र जैसे रोग को क्यों निकाला जाए ?”

महामुनि के मन की लगन इसी वस्तु पर थी । उनका ध्यान रोगमित्र के द्वारा कर्म के निकाल पर लगा हुआ था तो इससे अद्भुत लब्धियाँ उत्पन्न हुईं; रोगों की क्या मजाल कि वे ज्यादा समय तक टिके रह सकें ? एक लाख वर्ष के चरित्र-पर्याय में सिर्फ पहले ७०० वर्ष रोग रहे । बाद में तो उन महात्मा की काया निरोगी व कंचनवर्णी बन गयी । साथ में कमायी हुई अद्भुत लब्धियाँ भी स्थिर बन गईं जिनसे जगत पर अपरंपार उपकार करते चले ! ! दवा-डाक्टर के पीछे पड़े हुआँ को इसमें क्या देखने को मिलेगा ? उन्हें तो मिलेंगे शरीर-राग के भारी कुसंस्कार और अशुभ कर्मों के ढेर ।

इसीलिये शुभ ध्यान तो बड़ी से बड़ी साधना है । यह बढ़ाया जाए तो ठेठ केवलज्ञान-सर्वज्ञता तक पहुँचा दे, इतनी ताकत यह रखता है ।

परन्तु इतना ध्यान में रहे कि यह ध्यान यानी चीवोसों घंटे या दिन-रात में अधिकतर पद्मासन लगाकर ‘ॐ’ करते हुए बैठने की चीज नहीं है । अकेले इससे उद्धार नहीं होता, अशुभ ध्यान टालने का जबरदस्त प्रयत्न चाहिये ।

एक बाबा था । उसे घोड़ा रखने की इच्छा हुई । गया

एक राजा के पास । राजा प्रणाम करके पूछता है,

‘कहिये बाबाजी ! क्या आज्ञा है ?’

बाबा ने कहा— ‘मुझे घोड़ा चाहिये ।’

यह सुनकर राजा को आश्चर्य हुआ । उसने पूछा—‘आप तो संसार-त्यागी हैं, घोड़ा लेकर भला क्या करेंगे ?’

‘क्या करेंगे ? काश्मीर से कन्याकुमारी तक के सब तीर्थ-स्थलों की यात्रा करेंगे’ ।

राजा ने कहा ‘अच्छा, ठीक है ।’ अपने अनुचर के द्वारा एक अच्छा घोड़ा मंगवाकर राजा उसे देते हैं और कहते हैं—

‘लीजिये बाबाजी ! यह घोड़ा’ ।

बाबा कहने लगा - ‘मुझे यह घोड़ा नहीं, तुम्हारी सवारी का खास घोड़ा चाहिये ।’

राजा को लगा कि ये बाबाजी सिर्फ यात्रा के अर्थी नहीं लगते । नहीं तो इन्हें लड़ाई में सामने उछलते हुए भालों को देखकर भी न डरने वाले खास उत्तम कीमती घोड़े की भला क्या जरूरत है ?’

राजा कहता है—‘माफ कीजियेगा । वह घोड़ा तो हम नहीं दे सकते ।’

‘नहीं दोगे ? देख लेना ।’ वस इतना कहकर बाबा तो वहाँ से चलता बना । उसने भी मन में गाँठ बांध ली कि ‘मैं तो गाँव के बाहर जाकर ध्यान लगाऊँगा और उसका प्रभाव दिखाऊँगा ।’

बाबा तो गया गाँव के बाहर, ध्यान लगाया । ध्यान में से लय, लय में से समाधि । शरीर तो जड़ जैसा बन गया । राजस्थान जैसा वह प्रदेश था । हवा के झपाटों से शरीर पर धूल

की परतें जम गयीं; लेकिन बाबा तो इससे बेखबर था । ५ - १० दिन बीते; वह रेतों में दबा ही रहा । एक बार तूफानी हवा से थोड़ी धूल हटी तो सर का ऊपरी भाग दिखने लगा । वहाँ से गुजरने वाले एक व्यक्ति ने जब यह देखा, तो धीरे धीरे धूल हटायो । बाबा को समाधि में देख थोड़ा भ्रमोड़ा, लेकिन बाबा को तो कोई भान ही नहीं था । वह सोचने लगा कि 'यह समाधि उतरे, तो बाबा बाहर के भान में आये ।' गाँव में जाकर किसी जानकार को बुला लाया । उसने सुई की नोक बाबा के प्रत्येक अंग पर चुभोकर देखी । बाबा ने जिस अंग पर मन को केन्द्रित किया था, उस अंग पर सुई की नोक दबाते ही बाबा ने आँखें खोलीं और आँखें खोलते ही चिल्लाया 'घोड़ा देता है या नहीं ?'

जानकार व्यक्ति समझ गया कि 'किसीके पास से घोड़ा लेने की इच्छा में यह बाबा ध्यान-समाधि में चढ़ा लगता है ।'

कहिये, ऐसा ध्यान आत्मा का क्या कल्याण कर सकता है ।

### प्रकरण-३. नमस्कार मंत्र के ध्यान के दृष्टांत

दिमाग को सिर्फ ॐ आदि में लीन या केन्द्रित कर देने मात्र से कार्य नहीं सघता; क्योंकि आत्मा में कई पुराने कुसंस्कार व वासनायें भरी पड़ी हैं, उन्हें कैसे निकाला जाय ? उनका निर्मूलन कैसे किया जाय । उन्हें निर्मूल करने के लिये तो उनसे विरुद्ध, सुसंस्कारों का पोषण करने वाली जोरदार धर्मप्रवृत्ति चाहिये; मन की पूर्ण लगन वाली प्रवृत्ति चाहिये; और यह मन की लगन ही वास्तव में सतत ध्यान रूप में आदरणीय है ।

**'ज्ञान-ध्यान', इसमें 'ध्यान' यानी ? :**

कहा जाता है - 'ज्ञान - ध्यान में रत मुनि', उसमें 'ज्ञान'

यानी पंचविध शास्त्र-स्वाध्याय; और 'ध्यान' यानी क्रिया में मन की एकाग्रता। इसीलिये शास्त्र यह बताता है कि प्रत्येक धार्मिक आचार-अनुष्ठान जो एकाग्र मन से होता है, मन की लगन से होता है, यह ध्यान रूप है। यहाँ तक कहा गया है कि ध्यान सिर्फ मानसिक नहीं, कायिकगुप्ति व वाचिकगुप्ति रूप भी है। इसीलिये तो मोक्ष जाने से पहले योग-निरोध जिस शुक्लध्यान से करते हैं, वह मानसिक एकाग्र चिन्तनरूप नहीं होता; किन्तु काययोग की महागुप्ति रूप होता है; क्योंकि ऐसे असाधारण काययोग से योगों का रोध करते हैं। इसलिये यह उत्कृष्ट ध्यान है।

**इसीलिये जैनशासन की शैली से-**

चाहे साधु हो या श्रावक, यह अपने आचार-अनुष्ठान के कर्तव्य एकाग्र मन से करे, तो वह मुख्य रूप से ध्यान है। यही अनादि की कुवासनाओं को तोड़ने के लिये समर्थ है। अलवत्ता, ये साधु या श्रावक के नियत कर्तव्यों को निभाकर वचे हुए समय में पंचपरमेष्ठि या अरिहंत परमात्मा का एकान्त में ध्यान करे, ऐसा विधान 'उपदेशपद', 'अष्टकजी' तथा 'उपमति' शास्त्र में है।

तो अब हम यह देखें कि यह परमेष्ठि ध्यान किसी प्रकार होता है?

**थोड़े समय के ध्यान से क्या लाभ :**

प्र. ऊपर कहा गया, उस प्रकार आवश्यक कर्तव्य करने के बाद तो सिर्फ पात्र-आधे घंटे जितना समय रहता है; इतने कम समय किये गये परमेष्ठि-ध्यान से क्या लाभ हो सकता है?

उ. इसमें समय का सवाल नहीं है, महत्त्व ध्यान का है। नागकेतु का ध्यान कहां लंबे काल तक चला था? फिर भी उस ध्यान ने उन्हें केवल-ज्ञान दिलाया। अलवत्ता इसके पीछे चालु श्रावकत्व की धार्मिक क्रियाओं-आचारों में रखा जाने वाला अचूक



प्रणिधान, मन की तन्मयता यानी शुभ-ध्यान कारण-भूत था । बहुत अभ्यास से मन ऐसे ध्यान का अभ्यस्त हो गया था, आत्मा निर्मल हुई थी, जिससे अवसर आने पर अल्प समय के अनासंग ध्यान ने केवलज्ञान दिलाया । यह ध्यान इतनी ताकत वाला बन गया ! इसी प्रकार पंचपरमेष्ठि का अल्प समय का भी ध्यान सामर्थ्यवाला बन सकता है । सिर्फ,

(१) उसके पीछे श्रावकत्व के देवदर्शनादि जो दूसरे आचार-अनुष्ठान साथे जायें, वे एकदम शुभ-ध्यान वाले साथे जायें, यह जरूरी है । तथा

(२) परमेष्ठि ध्यान किस प्रकार करना उसकी पद्धति जानकर बाद में उसके अनुसार ध्यान करना चाहिये ।

**मन की ३ अवस्थायें : चित्त, भावना और ध्यान ।**

यहाँ पर इतना समझना है कि ध्यान मन की एक अवस्था है, मन की एक क्रिया है ।

(१) मन चाहे-जैसे उल्टे-सीधे, असम्बद्ध विचार करता हो, तो उसे 'चित्त' कहा जाता है ।

(२) मन ऐसे एक प्रकार के व्यवस्थित विचार करे कि जिससे आत्मा भावित हो, यह मन को 'भावना' अवस्था है । उदाहरण के लिये : मैत्री आदि भावना अथवा अनित्यता भावना, अशरण भावना आदि । तत्त्वार्थ सूत्रकार इसे 'अनुप्रेक्षा' कहते हैं । अनुप्रेक्षा यानी जाने हुए, पढ़े हुए, अनुभव किये हुए का स्मरण - चिन्तन ।

(३) मन किसी विषय पर एकाग्र हो जाय, यह 'ध्यान' अवस्था है। किसी भी एक विषय पर मन की लगन, केन्द्रित मन, मन का समर्पण, मन की तन्मयता, यह 'ध्यान' है।

चित्त, भावना, ध्यान-ये शुभ विषय के भी होते हैं और अशुभ विषय के भी होते हैं। उदाहरण के लिये :-

### शुभाशुभ चित्त, भावना और ध्यान :

(१) संसार के धन-स्त्री-आहारादि, वस्तुओं, सांसारिक कार्यों या व्यक्तियों के विषय में उल्टे-सीधे, असबद्ध विचार करना ये अशुभ चित्त हैं, जबकि आत्म-हितकर वस्तुओं, जैसे कि भगवान की प्रतिमा, मन्दिर, धर्मक्षेत्र, संघ, धर्मोपकरण आदि के सम्बन्ध बिना विचार, क्षण में इसका और क्षण में उसका विचार, ये शुभ चित्त हैं।

(२) वर-विरोध, कठोरता, ईर्ष्या आदि का चिन्तन, ये अशुभ भावनाएँ हैं। इसी तरह अनित्य पदार्थों में नित्यत्व का चिन्तन, अशरणभूत में शरणदाता का चिन्तन ये भी अशुभ भावनाएँ हैं। जब कि मंत्री, करुणा, प्रमोद आदि का चिन्तन या जगत के संयोगों की अनित्यता का चिन्तन, 'घर, पैसा, कुटुंब आदि जीव को अन्त में शरणभूत नहीं हैं', इस प्रकार अशरणता का चिन्तन, ये शुभ भावनाएँ हैं। जिस प्रकार यह अनुप्रेक्षा है, उसी प्रकार पढ़े हुए, समझे हुए, शास्त्रसूत्रों का सूत्र से या अर्थ से पुनरावर्तन-पुनःस्मरण भी अनुप्रेक्षा है। ये शुभ भावनाएँ हैं।

(३) ध्यान में किसी पसन्द-नापसन्द, काया, धन, माल, कुटुंबी आदि सांसारिक विषय पर एकाग्र चिन्तन, ये अशुभ

ध्यान हैं, जबकि जिनाज्ञा, जिन-वचन, कर्म के विपाक, रागादि के अनर्थ, लोकस्थिति आदि किसी विषय पर एकाग्र चिन्तन शुभ ध्यान हैं। हमें मुख्य तो इस शुभ-अशुभ ध्यान को समझना है। जिससे अशुभ से वचकर शुभ को बारम्बार अपनायें। परन्तु पहले जो अल्प समय का भी परमेष्ठि ध्यान लाभदायी कहा गया, उसका थोड़ा विचार कर लें, जिससे आज से हो उसका प्रयोग-अभ्यास शुरू किया जा सके।

परमेष्ठि यानी परमपद पर रहे हुए, अरिहंत भगवान्, सिद्ध भगवान्, आचार्य महाराज, उपाध्याय महाराज, और साधु महाराज, ये पाँच परमेष्ठि हैं। नवकार मंत्र में इन पाँचों को नमस्कार किया गया है। एक-एक नवकार का एक-एक पद है, जैसे कि 'नमो अरिहंताणं,' 'नमो सिद्धाणं' आदि। इस प्रकार पाँच पदों के अलावा इस नवकार को अनुमोदना हेतु नमस्कार के सर्वोत्तम फल और प्रभाव को दर्शाने वाले चार पद की चूलिका है। इस प्रकार कुल-मिलाकर नौ पद का नवकार महामंत्र है।

### परमेष्ठि - नवकार - महामंत्र कैसे ?

(१) इस जीवन में सांसारिक सिद्धियाँ देने वाले मंत्र तो कई हैं; परन्तु वे परलोक की सद्गति और सुख समृद्धि नहीं दिला सकते। जबकि नवकार मंत्र में इहलोक-परलोक, उभय में सुख सिद्धियाँ देने की, यहाँ तक कि मोक्ष दिलाने की ताकत है। इसीलिये यह महामंत्र है।

(२) सर्वशास्त्र पढ़ने के प्रारंभ में नवकार मंत्र का स्मरण किया जाता है, इसीलिये भी यह महामंत्र है।

(३) समस्त शास्त्रों के पारगामी को भी अन्तकाल में याद करने योग्य नवकार मंत्र है। इसीलिये यह महामंत्र है।

(४) जगत में अनन्तकाल में बहुत-से परिवर्तन होते हैं, परन्तु यह नवकार मंत्र शाश्वत रहता है, इसीलिये यह महामंत्र है।

नवकार महामंत्र पर क्षणभर के लिये भी यदि मन लग जाय, क्षण भर के लिये भी इसका ध्यान किया जाय, तो जीवन में अविन्त्य सिद्धियाँ दिलाता है। अन्तकाल में इसका एकाग्र ध्यान करते-करते पापी मनुष्यों ने तो क्या, पशु जैसों ने भी मरकर परभव में सुन्दर सद्गति पाई है।

### नवकार महामंत्र के प्रभाव के उदाहरण :

शिवकुमार को यहाँ पद सिद्धि :

शास्त्र में शिवकुमार का उदाहरण आता है। जुआरी-व्यसनी बने हुए पुत्र को श्रावक पिता कहता है, 'देख भाई ! आखिर जब भी तू आपत्ति में बहुत दुःखी हो जाय, तब नमस्कार मंत्र (नवकार मंत्र) याद करना।'

पिता मर गया। व्यसनों के कारण वह पुत्र निर्धन हो गया। अब आजीविका के लिये बड़े प्रयत्न करता है। उसमें एक दम्भी योगी ने उसे प्रलोभन दिया कि 'चल, तू मेरा उत्तर साधक बन जा, मैं मंत्रसाधना करके तुझे सुवर्ण दिलाऊँगा।'

जंगल में अग्नि का कुंड बनाकर एक मुर्दा रख कर उसके सामने शिवकुमार को बिठाकर योगी अपना मंत्र जाप करता है। मुर्दे के हाथ में तलवार रखी है, मंत्र से मुर्दा उठने लगता है।

शिवकुमार घबराने लगा कि, 'हाय ! यह उठकर कहीं मुझ पर तलवार से घाव तो नहीं कर देगा ? हाय ! मैं यहाँ कहाँ फँस गया ? कहाँ मैं सोने के लोभ में पड़ा ? अब क्या किया जाय ? उठकर भागने लगूँ और योगी क्रोध करने लगे तो ? मुर्दा उठ सकता है, तो दौड़ क्यों नहीं सकता ? कौन जाने ?' घबराये हुए शिवकुमार को तभी अचानक पिता की अन्तिम बात याद आयी कि 'आपत्ति में बहुत दुखी हो जाय, तब नवकार मंत्र को याद करना ।'

बस, शिवकुमार नवकार मंत्र को ही सच्ची शरण मानकर गद्गद् हृदय से उसका स्मरण करने लगा । उसका ऐसा प्रभाव पड़ा कि मुर्दा उठ-उठकर वापिस नीचे ही गिरता ।

योगी की शंका हुई । पूछा, 'अरे ! तू कोई मंत्र पढ़ रहा है ?' उसने कहा- 'अरे भाई ! मुझ जैसे अनपढ़ को भला मंत्र कहाँ से आयेगा ? वैसा मंत्र आता हो तो भूखा क्यों मरता ?'

जोगी समझा 'तब तो शायद मेरे जपने में ही कोई कमी रही है, चलो, फिर से जप लूँ ।' वह फिर से मंत्र जाप करने लगा और मुर्दा फिर से उठने लगा । शिवकुमार ने तो नवकार मंत्र का प्रभाव देख लिया है, इसलिये और भी अधिक श्रद्धा से प्रभो ! यहाँ आप ही की शरण हूँ ऐसे शरण भाव से नवकार मंत्र का रटन करने लगा, जिससे मुर्दा फिर से गिरा । जोगी पुनः पूछता है, तो शिवकुमार वही जवाब देता है । जो जोगी ने दृढ़ हो करके तीसरी बार जाप शुरू किया और इस तरफ शिवकुमार मंत्र का रटन करता है । तब मंत्र का अधिष्ठायक देव योगी पर कुपित हुआ, मुर्दे को उठाकर उसी तलवार से योगी को मारकर

अग्नि में फेंक दिया, और योगी (स्वर्ण) पुरुष बन गया । यह देखकर शिवकुमार के आश्चर्य का पार न रहा ।

स्वर्णपुरुष यानी पुरुषाकार की सोने की मूर्ति । उसका एक अंग आज काट लिया जाय, तो दूसरे दिन वही सोने का अंग मूर्ति पर अखंड तैयार रहना है । रोज-व-रोज काटते ही चले जायें, फिर भी दूसरे दिन वह सुवर्णमूर्ति अखंड ही रहेगी । शिवकुमार मौत से तो बचा ही, साथ ही साथ इतना स्वर्ण भी कमाया । किसके बल पर ? नवकार मंत्र के एकाग्र ध्यान पर । थोड़े ही समय का यह ध्यान था न ? लेकिन दिल से, श्रद्धा से, गद्गदता से, एक मात्र शरण मानकर किया गया, अल्प समय का भी नवकार मंत्र का ध्यान इस जीवन में भी अचिन्त्य सिद्धियाँ प्रदान करता है ।

यह देखने के बाद शिवकुमार का संपूर्ण जीवन सुधर गया, वह महान् श्रावक बना । उसके बाद तो प्रतिदिन नवकार मंत्र का बारम्बार स्मरण कैसा किया होगा ? तो उससे परभव में भी कैसी सुन्दर सद्गति ?

### नवकार का यहाँ पर प्रभाव :-

यह तो शास्त्र में कहा गया उदाहरण है, लेकिन वर्तमान काल में भी इस जीवन में अनुभव किये जाते हुए नवकार मंत्र के प्रभाव के उदाहरण सुने जाते हैं । वि. सं. २००७ में कुछ मुनि खान देश में विचर रहे थे । एकबार उन्हें वहाँ पर नया बना मकान ठहरने के लिये मिला । ऊपरी मंजिल पर एक मुनि पानी छान रहे थे । मकान में इलेक्ट्रिक की नयी फिटिंग



हो रही थी; अचानक मुनि का हाथ पास में लटकते एक विजली के तार को छू गया। मुनि तो नवकार मंत्र के अभ्यासी थे। तार छूते ही जैसे ही शरीर में झनझनाहट का अनुभव हुआ कि तुरन्त ही सहज भाव से हृदय में 'नमो अरिहंतागं' ऐसा स्मरण होकर मुख में से 'नमो अरिहंताणं' के शब्द निकले। उसका ऐसा अद्भुत प्रभाव पड़ा कि तार तो रहा एक ओर और मुनि तो तुरन्त दूसरी ओर ढल पड़े। बाद में स्वस्थ होकर देखते हैं तो उन्हें अनोखा चमत्कार लगा कि 'मेरे सारे शरीर में झनझनाहट हुई और शरीर खींचने लगा था, कि अब मरा। तब यह क्या हो गया? वस, नमस्कारमंत्र यानी नवकार मंत्र ने हो मुझे बचाया है।'।

**घंटे में नवकार का नियम :-**

इस से खास खयाल में रखियेगा कि जीवन में नवकार मंत्र का अच्छा अभ्यास होगा, तो ऐसी किसी दुर्घटना के समय अचानक इसका स्मरण तुरन्त हो पायेगा। इस अभ्यास के लिये सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, बाहर जाते या घर में प्रवेश करते हुए, प्रत्येक काम के प्रारम्भ में 'नवकार मंत्र' या 'अरिहंत नमस्कार' तुरन्त याद आना चाहिये। विशेष अभ्यास के लिये सुबह जागे, तब से 'प्रति घंटे एक नवकार' का नियम कर, घंटे-घंटे में इसका स्मरण किया जा सकता है। यह नियम जागते समय का है, सोते समय का नहीं।

घर में, दुकान में, डायरी में चार-पाँच जगह 'प्रत्येक घंटे में नवकार' ऐसा लिखकर रखने से यह नियम याद आयेगा इसका अभ्यास पड़ेगा। बाद में तो ६ से ७ में, ७ से ८ में ... इस प्रकार घंटे भर के लिये, चाहे जब एक बार नवकार को याद करना है। ऐसा करने से तो घंटे में दो-तीन बार भी नवकार याद आयेगा।

## अगले भव में नवकार पाने के लिये देव की सुज्ञता

एक देवता को ज्ञानी ने भविष्य वाणी की कि अगले जन्म में तुम बन्दर के रूप में अमुक जंगल में जन्म लोगे। उसने क्या किया ? उस जंगल में जाकर प्रत्येक शिला पर रत्नमय नवकार मंत्र खुदवा दिया और अपने विमान में भी यहाँ-वहाँ रत्नमय नवकार लिखा और जब तक जीया, तब तक बारंवार उसी पर मन को जोड़ा। बाद में मरकर वह वानर के रूप में जन्मा। जंगल में शिला पर नवकार मंत्र देखते ही उसे जाति स्मरण ज्ञान हुआ, तुरन्त ही धर्म पाकर अनशन किया और मरकर स्वर्ग में गया।

नवकार के ध्यान का प्रभाव कैसा ? इसीलिये इसका खूब अभ्यास चाहिये। यदि ऐसा अभ्यास न हो, तो संभव है कि किसी दृष्टान्त के समय 'ओ माँ ! ओ बाप !' ऐसा ही कुछ याद आयेगा ! थोड़ी सी आपत्ति में भी दुर्ध्यान ही होने वाला है, और अन्तकाल में भी हाय-हाय ही होने वाली है।

**नवकार मंत्र के श्रद्धापूर्वक किये गये स्मरण का अजब प्रभाव !**

### एक मुस्लिम का प्रसंग :-

कुछ वर्षों पहले अखबार में पढ़ा था। बिहार प्रदेश में एक मुसलमान को किसी गुरु के योग से नवकार मंत्र मिला। गुरु ने उसका भाव भी समझाया कि 'इसमें राग, द्वेष, क्रोध, लाभ आदि दूषणों से सर्वथा रहित ऐसे अरिहंत परमात्मा तथा सिद्ध परमात्मा को नमस्कार किया गया है। इसी तरह ऐसे बनने के लिये प्रयत्न

कर रहे संसार के त्यागी आचार्य, उपाध्याय व साधु को नमस्कार किया गया है । इसीलिये हम भी स्मरण के साथ-साथ इन दूषणों को निकालते रहें । अत्यन्त श्रद्धापूर्वक इस प्रकार नमस्कार मंत्र का बारंबार स्मरण किया जाय, तो इसका अद्भुत प्रभाव पड़ता है । राग-द्वेष घट जाते हैं और पर भव में भी सद्गति मिलती है ।’

यह बात मियाँभाई के गले वरावर उतर गयी थी । वह इस महामंत्र का रटन करता रहता । साथ ही साथ उसने दिलमें से राग, द्वेष, अभिमान भी निकाल फेंके । एक बार एक दूसरे मुस्लिम भाई ने उनके होंठों को फड़फड़ाते देखकर कहा, ‘अरे ! काफिर की तरह यह क्या बड़बड़ा रहा है ? धर्मभ्रष्ट हो गया क्या ? तब ये भाई कहते हैं कि, ‘मैं और कुछ नहीं कर रहा, खुदा का नाम ही रट रहा हूँ ।’

दूसरे तो कुछ न बोले, लेकिन एक मुस्लिम से यह सहन न हुआ । वह कहने लगा-‘छोड़ दे यह काफिरों की रटन । नहीं तो समझता है . . .’ धमकी मिली, लेकिन उसने तो धीमा-धीमा रटन चालु ही रखा ।

वह मियाँ तो गुस्से से आगबबूला हो उठा । ‘साला, काफिर हो बन गया है, इसे तो मार डालूँ ।’ कुछ दिनों बाद वह एक टोकरी में साँप ले आया और संध्या के बाद नवकार मंत्र का रटन करने वाले मियाँ के घर में छुपकर घुसा और उसके सोने के पलंग के नीचे टोकरी का ढक्कन ढीला रखकर चला गया । कुछ देर के बाद टोकरी में से साँप निकलकर पलंग पर चढ़ा ।

अब रात पड़ी और जैसे ही नवकार मंत्र का रटन करने वाला मुस्लिम भाई सोने से लिये पलंग की ओर जाता है, उसने पलंग पर साँप देखा। वह तो बिल्कुल नहीं घबराया। उसने जोर से तीन बार नवकार मंत्र का उच्चारण किया और साँप वहाँ से दूसरी ओर उतरकर चलता बना। उस व्यक्ति की महामंत्र पर इतनी श्रद्धा थी कि मंत्र रटते-रटते वहाँ ही वह उसी पलंग पर आराम से सो गया। मन में श्रद्धा है कि 'मेरे पास महामंत्र है, मुझे क्या होने वाला है?' इसलिये उसे तो बिल्कुल घबराहट हुई नहीं कि कहीं साँप वापिस आकर डस ले।

अब ऐसा हुआ कि थोड़ी देर के बाद टोकरी रख जाने वाला मुसलमान भाई दौड़ता-दौड़ता उसके पास आया और गिड़गिड़ाकर कहता हैं—“भाई, मुझे माफ करना। वह साँप मैंने ही रखा था, मुझे माफ करना।”

यह भाई कहता है—‘अरे भाई ! यह कैसे ? साँप तो यहीं कहीं से आया होगा !’

उस व्यक्ति ने पलंग के नीचे से टोकरी निकाली और कहा ‘देखो भाई ! इसमें साँप मैंने ही रखा था। अब मुझे माफ कीजिये।’

‘अच्छा भाई, माफ किया। मेरे मन में तो कुछ है ही नहीं ! काफी रात हो चली है, जाईये अब घर जाकर सो जाईये।’

लेकिन यह व्यक्ति तो हाथ जोड़कर बारंवार कहता है, ‘भाई ! हमें माफ करना।’ तब पहला भाई कहता है—‘बात क्या

है ? मेरे मन में कुछ नहीं है । मैंने तो तुम्हें माफ कर ही दिया है ।'

तब यह भाई कहता है - 'भाई ! दया कीजिये । मेरे पुत्र को साँप ने काटा है । आपके पास तो कोई मंत्र है, जिससे आप तो बच गये हैं । अब मेरे पुत्र का जहर भी उतार दो । मुझ पर दया करो । जल्दी चलो, नहीं तो मेरा पुत्र मर जायेगा ।'

खूबी तो इस बात की है कि नवकार मंत्र के इस आराधक के मन में बैर की विल्कुल गाँठ नहीं है । इसीलिये तो वह ऐसा नहीं कहता है कि- 'ऐसी बात है तब तो मुझे मारने की कोशिश करनेवाले का पुत्र तो मरना ही चाहिए । जा उठ, चला जा, यहाँ से, वदमाश ।' नहीं, ऐसी कोई थोड़ी-सी भावना भी उसके दिल में नहीं उठती । वह तो आन्तरिक भाव से विधि-पूर्वक नवकार मंत्र गिनने वाला है । इसकी विधि यह है कि, राग-द्वेष, ईर्ष्या-वैर, क्रोध, लोभ, मद, माया, आदि को दबाकर दया, सौम्यता, उपशम रखते हुए महामंत्र का स्मरण करना चाहिये । दिल उदार, श्रेष्ठ, बड़ा व दया से भरा बनाना चाहिये ।

मियाँ तुरन्त ही कहता है, 'ऐसी बात है, तब जल्दी क्यों नहीं कहता ? दोनों गये । जाकर देखता है कि उस भाई का पुत्र जमीन पर बेहोश पड़ा है । उसने तुरन्त ही पानी मँगाया । हाथ में पानी लेकर नवकार मंत्र का रटन किया और वह पानी लड़के पर छाँटा । तुरन्त ही उसका जहर उतर गया, लड़का उठा और बैठा हो गया । उसके पिता को तो आश्चर्य हुआ, 'कैसा है इसका मंत्र ? इसे, खुद को भी साँप नहीं डसा, और मेरे पुत्र का भी जहर उतार दिया । विशेषता तो इस बात की है कि

इसको मेरे प्रति तनिक भी क्रोध नहीं आया, अन्तर में बैर नहीं, बदले की भावना नहीं और मेरे पुत्र को चंगा कर दिया ! !'

तुरन्त ही वह नवकार मंत्र का स्मरण करने वाले मुस्लिम के पाँत्रों में गिरा और क्षमा मांगता हुआ उसका बहुत आभार माना ।

इस जीवन में ही नवकार मंत्र के होने वाले प्रभाव के तो ऐसे कई दृष्टान्त मिलेंगे । शर्त बस इतनी है कि किसी भी आशा लालसा के बिना, आत्म-कल्याण हेतु श्रद्धा से भरा महामंत्र का स्मरण रहना चाहिये और साथ ही साथ स्वयं के राग, द्वेष, ईर्ष्या, अभिमान आदि को दवाते रहना चाहिये । इसके यहाँ तो प्रभाव होगा ही, परभव में भी सद्गति मिलेगी ।

सिर्फ अन्त समय में भी यदि नवकार मंत्र का अचूक ध्यान लग, जाय तो भी यह परभव में सद्गति और सुख-समृद्धि दिलाता है ।

इसके कई दृष्टान्त शास्त्रों में आते हैं ।

**नवकार-प्रभाव के अनेक दृष्टान्त :-**

शिकारी के द्वारा बाणों से बींधी गयी और मरणासन्न चील, मुनि के द्वारा सुनाये गये नवकार मंत्र के ध्यान से सुदशना राजकुमारी बनी, जिसने वहाँ पर 'समली विहार' नामक भव्य जिनालय बनवाया ।

रास्ते पर पड़ा मरणासन्न बैल, श्रावक के द्वारा सुनाये गये नवकार मंत्र को ध्यान से सुनकर मरा तो उसी नगरी में राज-कुमार बना, जो आगे जाकर बाली का भाई सुग्रीव बना ।



कमठ तापस के जलते हुए काष्ठ में से बाहर निकाले गये अर्द्धदग्ध सर्प को पार्श्वकुमार की तरफ से नवकार मंत्र मिला, उसके ध्यान से वह मरकर नागकुमार देवों का इन्द्र धरणेन्द्र बना ।

## जीवन में ध्यान कितना अद्भुत काम करता है ?

ये तो हुए तिर्यच के उदाहरण-वैसे मनुष्य के भी कई दृष्टान्त हैं । भोल - भोलनी सिंह के जबड़े में चबाये जाने पर भी नवकार मंत्र के ध्यान के प्रभाव से मरकर राजा-रानी बने ।

स्थूलभद्र के भाई श्रीयक मंत्री की एक दिन के उपवास से रात में मृत्यु हो गयी, लेकिन नवकार मंत्र के ध्यान में मरकर देव बना ।

## महावत को शूली पर मरते हुए नवकार :-

देशनिकाला पायी हुई रानी और उसका यार-महावत एक गाँव बाहर मन्दिर में सोये हुए थे । वहाँ एक चोरी करके चोर आया, उसके पीछे सिपाही आ रहे थे । रानी जागी, चोर को देखा, तो उस पर मोहित हो गयी । चोर के सिखाने पर सिपाहियों के आगे वही साक्षी दी कि 'महावत चोर है ।' महावत को सिपाही नगर के राजा के पास ले गये । राजाने उसे शूली पर चढ़वा दिया । वहाँ उसे जोरदार प्यास लगी । वहाँ से गुजरते हुए एक श्रावक के पास से उसने पानी माँगा । श्रावक ने कहा- 'ले यह नवकार मंत्र गिन, तब तक मैं पानी ले आता हूँ ।' नवकार गिनते-गिनते वह महावत मर गया और मरकर देव बना । श्रावक पानी लेकर महावत के पास आ ही रहा था कि राजा

उसे डाँटने लगा—“तू चोर को पानी क्यों धिलाने जा रहा था ?”  
ऐसा कहकर राजा उसे मारने लगा कि वहाँ देव ने आकाश में एक विशाल शिला विकुर्वित की। घबराकर राजा ने माफी माँगी और पूछा। देव ने सारी बात स्पष्ट की। राजा ने श्रावक का बहुमान किया और स्वयं नवकार मंत्र का आराधक बना।

### चंडपिंगल चोर को नवकार :—

ऐसा ही चंडपिंगल चोर के प्रसंग में भी हुआ। वह एक वेश्या का प्रेमी था। एक बार रानी का हार चुराकर लाया और वेश्या को भेंट में देता है। वेश्या पूछती है—‘यह हार तुम कहाँ से लाये हो ? देखो, मैं श्राविका बनी हूँ। उसमें तीसरे व्रत में मुझे नियम है कि चोरी न करूँ और चोरी का माल भी न लूँ।’ चंडपिंगल ने उसे झूठा विश्वास दिलाकर हार दे दिया। एक बार उत्सव में वह बेचारो हार पहनकर बाहर निकली। रानी की दासियों ने वह हार देखकर उसे पकड़वा दिया। राजा पूछता है—‘बोल, यह हार कहाँ से आया ?’

### आदर्श श्रावक व्रत :—

देखिये ! वेश्या होने पर भी वह श्राविका बनी हुई होने से विचार करती है कि ‘यदि मैं चोर का नाम बता दूँ, तो राजा उसे मार डालेगा; चोर की हत्या में मैं निमित्त बनूँगी। हिंसा में निमित्त बनने से मेरे पहले अहिंसा व्रत का आदर्श नहीं रह पायेगा। इसलिये नाम तो लूँगी ही नहीं, चाहे मरना क्यों न पड़े।’

कहिये, (१) उसका चोरी-त्याग का व्रत कैसा ? और

(२) अहिंसा व्रत कैसा ? आदर्श व्रत ना ? आपसे क्या ऐसा हो सकता है कि मुझे चोरी की वस्तु भी नहीं चलेगी और किसी की हिंसा में निमित्त भी न बनूँ ? वह तो वेश्या थी, लेकिन बाद में जैन धर्म पाया था । आप तो जन्म से जैन धर्म पाये हुए हैं, तो इतना भी आपसे न होगा ?

### पाप की छूट में :-

मानवजीवन की गुणसुवास ले जायेंगे या अकेली दोष-दुष्कृत्यों की वदबू ही आत्मा में भरेंगे ? ध्यान रखना कि जीवन तो, चाहे जैसे चले, चाहे जैसे वर्तन करे तो भी एक दिन पूरा तो होने ही वाला है । परन्तु भरपूर राग-द्वेष, अभिमान-ईर्ष्या-लालसाओं आदि दोषों से, और सीधे या टेढ़े, हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार आदि दुष्कृत्यों से तुम्हारी ही प्राणप्यारी आत्मा भारी हो रही है । अधिक अफसोस तो इस बात का है कि शक्य ऐसी भी दुष्कृत्य त्याग की प्रतिज्ञा न करने से उस दुष्कृत्य का सेवन तो शायद कभी होने वाला ही है, या शायद नहीं भी हो, लेकिन-

प्र.-पाप न कहे किन्तु व्रत न ले इसमें दोष क्या ?

उ.-‘मुझे इस पाप का त्याग नहीं, छूट है इस वृत्ति में भी मन सदा ही पाप की अपेक्षा वाला बना रहेगा यह दोष है । जैसे पाप करना या कराना या पाप का समर्थन करना, यह दोष-रूप है, वैसे ही पाप करने की अपेक्षा रखना यह भी दोषरूप है । इससे पाप का बन्ध निरन्तर होता रहेगा । इससे बचने और त्याग में आने के लिये यह वेश्या एक आदर्श है ।

वेश्या राजा से कहती है, ‘हार मेरा है ।’

‘लेकिन तेरे पास आया कहाँ से ?’

जवाब में ‘मेरा है’, इसके सिवाय वह कुछ नहीं बोलती । इसलिये राजा ने उसे जेल में भिजवा दिया और प्रतिदिन उस से सच बात प्रकट कराने के लिये चाबुक मरवाता है । वेश्या एकमात्र अपने व्रत का आदर्श पालन व चोर पर की दया सुरक्षित रखने के लिये मृत्यु तक की तैयारी के साथ चाबुक की मार सहती है ।

जीवन में ऐसा कोई एक भी व्रत का पालन या दयादि गुण रखा हो, तो वह आत्मा को बहुत ऊँचा उठाता है । व्रत पालन और दयादि गुण की कमाई को भविष्य के किसी मानव-भवं के लिये टालने की अपेक्षा तो यहाँ पर ही व्रत और गुणों को क्यों संभाला जाय ? भविष्य की किसे खबर है कि मानव भव कब हाथ में आयेगा ? क्योंकि यदि यहाँ पर जीवन को व्रत-मय न बनाया, तो पहले कहा गया, उस तरह दिल की अपेक्षा और मन की लेश्या खराब ही रहने वाली है, इसी तरह यदि गुण की कमाई न रखी, तो दोषसेवन ही रहने वाला है । कहो, बाद में पर भव कैसे मिलेगे ? वहाँ पर कितने सितम, दुःख सहने होंगे ?

चंडपिंगल चोर को वेश्या की इस स्थिति के बारे में पता चला । उसके मन में हुआ कि ‘अरे ! मैं कितना नीच हूँ कि इस बेचारी को फँसवा दिया । इससे विश्वासघात किया और इसका व्रत तुड़वाया ? यह कितनी उत्तम है कि मुझे बचाने के लिये राजा के पास मेरा नाम भी नहीं लेती और प्रतिदिन जेल में चाबुक खाती है । मैं भी मेरे पापों का प्रायश्चित्त कर लूँ ।’

ऐसा विचार कर, राजा के पास जाकर सच्ची बात बता दी। राजा ने वेश्या को धन्यवाद देने के साथ इसकी क्षमा माँग कर उसे छोड़ दिया। लेकिन वेश्या के जाने के बाद चोर को शूली की सजा फरमादी। चोर को शूली पर चढ़ाने हेतु ले गये। वेश्या को यह ज्ञात होते ही वह तुरन्त ही राजा के पास चोर को धर्म सुनाने की आज्ञा माँगकर बध-स्थान पर पहुँची। वहाँ चोर को तो शूली दे दी गयी थी। वेश्या उसे नवकार मंत्र सुनाने लगी। साथ में कहा—राजा पर या इन सिपाहियों पर क्रोध मत करना। स्वयं के दुष्कृत्य पर पश्चाताप करना और अब मरने की तैयारी है तो मैं बोलती हूँ उस नवकार महा मंत्र को ही ध्यान में रखना और इस प्रकार नियाणा (पर भव को आशंसा) कर ले कि 'मैं इस राजा का पुत्र बनूँ।' जिससे बाद में तेरा और मेरा, दोनों का परस्पर उद्धार करें।"

चोर को वेश्या पर प्रेम तो था ही, बहुमान भी अथाह हो गया था और अन्त काल में ऐसी शिक्षा देती है, जिससे मन में राजपुत्र होने का संकल्प करके नवकार मंत्र के ध्यान पर चढ़ गया। कहने की जरूरत नहीं है कि नवकार मंत्र के प्रभाव से वह मरकर रानी के गर्भ में गया। वेश्या इस ओर दिन गिन रही है। नौ महीने होने पर रानी ने पुत्र को जन्म दिया, तब वेश्या ने जान लिया कि 'निश्चित यह चंडपिगल ही राजपुत्र बना है।'

अब उस बच्चे को प्रतिबोध देना है। इसलिये वेश्या राजा के पास जाकर राजपुत्र को झूला झुलाने की आज्ञा माँगकर झुलाती है। झुलाते हुए बारंबार गाती है—'झूली रे झूनी चंडपिगला ! ....' यह सुनकर बालक को जातिस्मरण ज्ञान हुआ

वह हर्षित हुआ। यह देखकर वेश्या को आशा बँधी। बोलने जैसा होने पर उसके साथ बात की। वेश्या ने धर्म समझाया। अन्त में दोनों ने अपना कल्याण किया।

**मन को जीतने के लिये उसे खीले पर बाँधो :-**

चोर चंडपिंगल को अन्त में भी नवकार का ध्यान लगने से, उसने कैसी सुन्दर सद्गति और धर्म पाया! फिर रोज के जीवन में नवकार मंत्र का अचूक ध्यान करने से कैसा कल्याण होगा? परन्तु वह ध्यान तन्मयता से, गद्गद् होकर, दूसरे विचारों को दूर रखकर करना चाहिये। प्रभात में १५ मिनट के लिये भी ऐसा ध्यान धरा जाय, तो वह पूरे दिन पर अच्छा असर छोड़ता है। पाव घंटे के लिये भी नवकार परमेष्ठि-ध्यान यानी मन को संसार पर से उठा देना और अच्छे आलंबन के खीले पर बांधना! यदि मन को खीले पर बाँध सको, तो यह आत्मा को मन पर महान विजय है। खीले बाँधने के लिये क्या करना चाहिये? अच्छा आलंबन चाहिये। इस आलंबन में पहला आलंबन है - अरिहंत, अरिहंत - नवकार (यानी 'नमो अरिहंताणं'), परमेष्ठि-नमस्कार, नमस्कार महामंत्र।

**अरिहंत-नमस्कार किसलिये ?**

प्रातः उठते ही मन में 'नमो अरिहंताणं' याद आये। अपने यहाँ नियम है कि सोते या जागते, घर के बाहर निकलते या प्रवेश करते हुए, खाते-पीते, यहाँ तक कि किसी भी कार्य के प्रारंभ में अरिहंत-नमस्कार 'नमो अरिहंताणं' (सप्ताक्षरी मंत्र) याद करना। इससे चित्त की विशुद्धि होती है। काम संसार के हैं,



फिर भी यदि अरिहंत-नमस्कार से चित्त विशुद्धि की जाये तो मन कोमल रहेगा, पाप तीव्र भाव से नहीं होगा। सम्यक्त्व पाने से पहले का यह लक्षण है कि 'तीव्र भाव से पाप न करे' घोर संसार पर बहुमान न धरे, सर्वत्र औचित्य का पालन करें' तो पाप-चरण में मन की तीव्रता-कठोरता कैसे रुके? कोमलता कैसे आये? मन में कुछ विशुद्धि आने से। यह अरिहंत को चित्त में लाने से होता है।

चित्त-विशुद्धि लाने का महान् साधन अरिहंत नमस्कार है, क्योंकि अरिहंत वीतराग है, अनन्त ज्ञानी है, जगदुद्धारक है।

इसलिये निद्रा से जागृत होते ही 'नमो अरिहंताणं' या 'अरिहंत' याद लाना है। बाद में शास्त्र-विधि यह है कि शय्या से बाहर निकलकर स्वस्थता से बैठकर नमस्कार महामंत्र 'नवकार' गिनना। नवकार में पंच परमेष्ठि को नमस्कार हो और नमस्कार करने के लिये पहले विनय चाहिये। इसलिये शय्या से बाहर निकल कर नमस्कार किया जाता है। शय्या पर बैठे-बैठे तो अपनी सेठाई बताने जैसा है। इसमें विनय कहाँ होगा? तो नमस्कार कैसा?

अब नमस्कार-महामंत्र एकाग्रता से गिनने के लिये, यानी उस पर मन का स्थिर ध्यान लगाने के लिये २/३ रीतियाँ हैं।

## प्रकरण ४—नवकार के ध्यान की रीति

(१) पहली रीति यह है कि नवकार के प्रत्येक अक्षर पर अलग-अलग मन लगाकर ध्यान रखना। यह ध्यान रखते

हुए क्रमशः अक्षर के बाद अक्षर बोलना । यह ध्यान रखने के लिये नजर के सामने मानों वे अक्षर लिखे हों, वैसे दिखायी दें । उदाहरण के लिये :-

‘न.....मो.....अ.....रि.... हं... ता ....णं....’ । एक बार जो अक्षर बोला जाय, वही अक्षर देखना । एक पद के अक्षर पूरे होने के बाद तुरन्त ही दूसरे पद के अक्षर शुरू होते हैं । संपूर्ण नवकार के अक्षर एक धारा से पूरे होते हैं । उसमें बीच में दूसरा एक भी विचार नहीं आना चाहिए । आता है तो सिर्फ उस अक्षर का ध्यान । इस तरह चाहे एक ही नवकार याद क्यों न करें, उसमें दूसरे विचार नहीं आते ।

### जाप में दूसरे विचार कैसे रुकें ?

प्र०- दूसरे विचार किस प्रकार रुक सकते हैं ? नवकार स्मरण, जाप आदि करते समय तो दूसरे विचार और भी अधिक सताते हैं, जैसे उन्हें अभी ही फुरसत मिली हो !

उ०- ऐसा कहाँ होता है ? जहाँ सिर्फ स्मरण करके या बोलकर जाप करना हो, वहाँ ही ऐसा होता है । लेकिन यहाँ तो सामने वे अक्षर मानों लिखे हुए हों, इस तरह पढ़ते हैं । वह भी अखंड, सुन्दर सफेद अक्षर ही पढ़ना है । पढ़ने के लिये मन को बराबर उस विषय में पिरोना पड़ता है । पढ़ने की ओर ही ध्यान होने से दूसरे विचार मन में प्रवेश भी नहीं पा सकते । एक अक्षर ठीक से पढ़ लिया कि तुरन्त ही वह अक्षर लुप्त हो जाता है और दूसरा अक्षर आ जाता है । दूसरा अक्षर पढ़ते ही तीसरा अक्षर आया ही समझो । यह पढ़ने में मन

बराबर लग जाय, तो फिर दूसरे विचार को स्थान ही कहाँ से मिलता है ? ऐसा नियम रख लेना चाहिये कि यदि कोई दूसरा विचार मन में आ भी जाय, तो फिर पहले से न ... मो .. अ ... आदि से शुरु करना ( अक्षर को पढ़ना बाँचना है, यह न भूले ।) इससे यह लाभ होगा कि पहले जो दूसरा विचार मन में प्रवेश कर गया था, वह अब प्रवेश नहीं पा सके, इसकी अधिक सावधानी रहेगी । प्रारंभिक प्रयास में चाहे दो-तीन बार शुरु भी करना पड़े, लेकिन उसमें अब नहीं जाना । शुरु-शुरु में संपूर्ण नवकार पूरा न हो पाये, तो पहले पाँच पदों को ही पढ़ने में मन लगाना चाहिये, लेकिन अभ्यास तो एकाग्र ध्यान का ही करने का लक्ष्य रखना चाहिये । इतना ध्यान रखना कि, अक्षर पहले बोलकर, बाद में नहीं पढ़ना चाहिये, परन्तु पहले उस-उस अक्षर को प्रकट रूपसे देखकर व पढ़कर तुरन्त ही अन्दर में बोला जाता है । मन में बोलने की बात ऐसी है कि नवकार बहुत ही रटा हुआ होने से सहज में ही बोला जाता है । उसमें दूसरे विचार आ जाय, तो भी बोला जा सकता है । लेकिन लिखा हुआ पढ़कर ही बोलना हो, तो मन पहले उस लिखे हुए विषय में और पढ़ने में पिरोना पड़ता है । इससे वहाँ दूसरे विचार को अवकाश ही नहीं मिलता । किसी का पत्र पढ़ने में मन कैसा तन्मय हो जाता है ? पढ़ते वक्त दूसरा कोई विचार ही नहीं आता !

### ‘लोगस्स नमुत्थुणं’ का ध्यान :-

इसी तरह लोगस्स नमुत्थुणं सूत्र का भी ध्यान हो सकता है । अलबत्ता, पहले तो नवकार का ध्यान खूब अभ्यास

में लाना चाहिये । एक धारा से २-३-४-५ नवकार का ध्यान लगातार चले, इस प्रकार करना चाहिये । उसमें जब मन अच्छी तरह से अभ्यस्त हो जाय, तो 'लोगस्स सूत्र' बड़ा होने से, उसके एक-एक अक्षर को पढ़ने में ध्यान, (आरम्भ से अन्त तक), अन्य किसी विचार के बिना अखंड रूप से चलता है । इस में इतना ध्यान रखना चाहिये कि दो अक्षर इकट्ठे दिखायी नहीं दें । नहीं तो, उतावल करने से मन की स्थिरता नहीं रह पायेगी ।

### २४ तीर्थकरों के नाम का ध्यान :

जैसा इस अक्षर का ध्यान है वैसा ही पूरे शब्द का ध्यान हो सकता है । चौबीस तीर्थकर देवों के नाम तो आते हैं न ? वस आख मूढ़कर नवकार के अक्षर की तरह यहाँ पर भी एक-एक भगवान का नाम नजर के सामने लिखा हुआ हो, इस तरह लाना और मन ही मन पढ़कर बोलना । पढ़कर ही बोलना, यह नियम नहीं भूलना चाहिये । स्टेशन के प्लेटफॉर्म पर तख्ते पर गाँव का नाम कैसा स्पष्ट और बड़े अक्षरों में लिखा दिखायी देता है ? इसी तरह यहाँ पर भगवान का नाम दिखाई दे । पहले भगवान का नाम 'ऋषभदेव' देखने के बाद पढ़ा व बोला गया कि तुरन्त ही वह अलोप-अदृश्य होकर दूसरे भगवान का नाम 'अजितनाथ' नजर के सामने दिखाई दे । वह पढ़कर बोला कि तुरन्त तीसरे प्रभु का नाम 'सम्भवनाथ' आये, सुविधा के लिए ऐसा 'ऋषभदेव' अजितनाथ एक बड़े ड्रम की कल्पना कर, यह ड्रम गोल फिरता रहे व एकेक नाम उस पर लिखे हुए बड़े अक्षर में पढ़ा जाए । ऐसे आगे बढ़ते हुए कदाचित् दूसरा विचार भी आ जाये, तो पुनः पहले से पढ़ना शुरू करना चाहिये । पहले दिन चाहे थोड़े नामों का एक धारा से एकाग्र ध्यान हो, परन्तु रीति यही है । बाद में आगे

बढ़ते हुए एक बार २४ नाम पूरे होते ही तुरन्त पहले नाम से शुरु करना है, करना क्या, खुद ही शुरु ही हो जाता है। ऐसे करते-करते एक बार चौबीसी, दूसरी बार चौबीसी, तीसरी बार चौबीसी इस तरह ध्यान की धारा बढ़ती जायेगी। इस तरह १०० - २०० - १००० नाम तक ध्यान करते हुए, बीच में कोई विचार मन में प्रवेश नहीं करेगा।

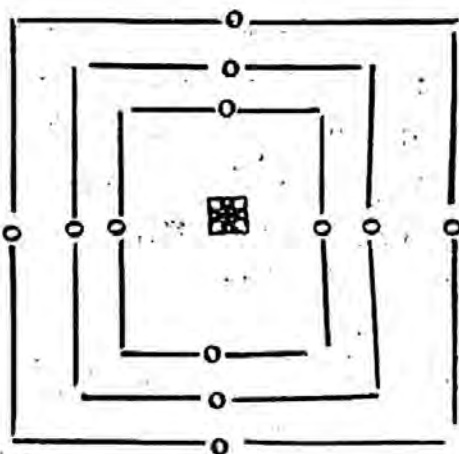
सुबह सुबह शान्त व शीतल वातावरण में, परम तारक, परम मंगलमय, २४ तीर्थंकर भगवान के पवित्र मंगल नाम इस तरह एकाग्र ध्यान से याद किये जाये, तो दिन भर आत्मा पर उसका कितना भारी सुन्दर असर पड़ता है।

### नवकार मंत्र के ध्यान की दूसरी रीति :-

१०८ नवकार जाप माला लिये बिना या अँगुली के पोरों पर गिने बिना, एकाग्रतापूर्वक करने के लिये यह रीति है।

### समवसरण पर जाप :-

तिलोकनाथ तीर्थंकर परमात्मा के समवसरण का चित्र तो आपने देखा ही होगा। समवसरण गोल भी होता है और चौकोर भी। समवसरण में तीन गढ़ होते हैं। नीचे का गढ़ सबसे बड़ा होता है, दूसरा गढ़ उससे छोटा होता है और उसके ऊपर उससे भी छोटा गढ़ होता है। हमें जैसे एरोप्लेन में से नीचे चौकोर समवसरण दिखाई दे इसके इन तीन गढ़ों की दीवार-रेखाओं का उपयोग करना है। प्रत्येक गढ़ की ४-४ दीवार और प्रत्येक दीवार के बीच में प्रवेश द्वार होता है। उसकी रेखायें इस तरह बनती हैं :



प्रत्येक दिशा की एक एक रेखा के बीच में द्वार (०) आने से रेखा के दो भाग हुए। अब हमें एक-एक गढ़ की ४-४ रेखा पर कुल ३६ नवकार का जाप करना है। इस तरह तीन गढ़ पर कुल १०८ नवकार का जाप होगा। प्रत्येक रेखा के को भाग होने से, प्रत्येक भाग पर ४-४ नवकार व बीच के द्वार पर १ नवकार इस तरह प्रत्येक रेखा पर ६-६ नवकार गिने जायेंगे जो इस प्रकार है -

		१	४	५	६	६	
		*	*	*	*	*	
३६	३५	२	३		७	८	*१०
३५	३४				११*		*१३
३४					१२*		
३३					१६*		*१४
३१	३०				१७*		*१५
२८	२६			२१		२०	*१८
	२६	२५		*		*	
	२७	२४		*३	*२	१६	
				४०			



इसमें नंबर दिये हैं, उस तरह पहले अन्दर के छोटे गढ़ से शुरु करना । उसमें भी ऊपर की रेखा में बायीं ओर, ऊपर से शुरु करना । गढ़ की रेखा पर ऊपर नीचे फूल रखे हैं, और एक फूल प्रवेशद्वार के ऊपर है । इस तरह एक रेखा पर ६ फूल होते हैं । प्रत्येक फूल पर नजर रखकर १-१ नवकार गिनना ।

इसमें नियम हैं कि गढ़ के बाहर से अन्दर प्रवेश करना और अन्दर के नजदीक के फूल पर से होकर गढ़ से बाहर निकलना । फिर बाहर ही प्रवेश द्वार के फूल से, दूसरी ओर के बाहर के फूल से होकर अन्दर प्रवेश करना । बाहर से अन्दर प्रवेश करके बाहर निकलना, यह नियम है । चित्र में इसी के अनुसार १. २, ३, ४ आदि अंक रखे गये हैं । इस क्रम से चलते हुए दृष्टि उठानी नहीं पड़ेगी, अविच्छिन्न धारा से क्रम चलता रहेगा ।

एक रेखा के जाप के अन्त में बाहर निकलने के बाद बाहर से ही साथ वाली रेखा के बाहरी फूल पर जाये । इस प्रकार करते हुए एक गढ़ गिना जाय, बाद में उसके ऊपर के दूसरे गढ़ पर और उसके बाद सबसे ऊपर के बड़े गढ़ पर गिने । इस प्रकार १०८ नवकार गिने जायेंगे । इसमें हम सबसे छोटे गढ़ से शुरु करके सत्रसे बड़े गढ़ पर गये । इसी तरह सबसे बड़े गढ़ से शुरु करके सबसे छोटे गढ़ पर भी जाया जा सकता है ।

### इस जाप से एकाग्रता किससे ?

इस जाप में मन को बराबर सजग रहना पड़ेगा, नहीं तो कोई फूल चूक जायेगा । तब शंका भी पड़ सकती है कि 'कौन से फूल पर जाप चल रहा था ? इस फूल पर या उस फूल पर ।' ऐसी भूल-भूलैया न हो जाय, इसके लिये सहज रूप से ही मन

सावधान रहकर नवकार गिनेगा, जिससे दूसरे विचार मन में नहीं घुमेंगे और एकाग्र ध्यान हो सकेगा। इसमें माला आदि की भी जरूरत नहीं है। आँखें मूँदकर सामने समवसरण का चित्र स्मृति-पटल पर खड़ा करें और हाथ जोड़कर उसी पर जाप चलायें। २०-४० लोगस का काउस्सग भी इस तरह गढ़ पर किया जा सकता है।

प्रभात में इस तरह सिर्फ १०८ नवकार गिनकर देखिये कि मन कैसा शान्त व (चुस्त) स्फूर्तिवाला बनता है तब प्रश्न होता है कि—

प्र० इसमें ध्यान तो फूल पर रहेगा न ? ध्यान के बिना नवकार ऐसे ही नहीं गिना जा सकता ?

उ० फूल तो एक आलंबन है। उसके आधार पर ध्यान तो नवकार पर रखना है। इसके लिये ऐसा हो सकता है:-

**ध्यान फूल के बदले नवकार पर किस प्रकार ?**

(१) प्रत्येक फूल के बीच में कणिका है और आजु-बाजु आठ पंखुडियाँ हैं। इन नौ में से प्रत्येक पर नवकार का एक-एक पद लिखा हुआ है। वह पढ़कर गिनना। मध्य की कणिका पर पहला पद, उसके ऊपर की पंखुड़ी पर दूसरा, दायीं ओर तीसरा पद, नीचे चौथा, बायीं ओर पाँचवा, बाद में कोनों की पंखुडियों पर ६-७-८-९ वां पद इस प्रकार सिद्धचक्रजी के यंत्र पर हो, इसी तरह नवपद मन में धारना। इस प्रकार ध्यान करने से नवकार पर ध्यान रहेगा। इसमें इतना ख्याल रखना कि नजर के सामने रेखा तो रहेगी ही और उस पर रहे हुए नौ फूलों में से प्रत्येक पर नवकार गिना जाता है। इससे कौन सी रेखा और कौन सा फूल

चल रहा हैं, यह नहीं भुलाया जा सकेगा । इसी तरह पद भी एकदम सही चलेंगे । रेखा एक बार ६ नवकार तक आड़ी और वाद में ६ नवकार तक तिरछी (खड़ी) दिखेगी । इसी तरह वाद में एक बार आड़ी और एक बार तिरछी दिखेगी । प्रत्येक रेखा पर के ६ फूलों पर ६ नवकार गिने जाते हैं ।

(२) अथवा, प्रत्येक पंखुड़ी के बदले पूरे फूल पर ही ऊपर से नीचे नवकार के ६ पद लिखे हुए हैं, ऐसा ध्यान कर के उन्हें पढ़े व गिने । फूल एकदम लाल है, उन पर नवकार के पद रत्न जैसे सफेद लिखे हुए है, इस प्रकार देखें । अथवा फूल के बदले खड़ी पट्टी पर भी नवकार के ६ पद लिखे हुए देखे जा सकते हैं । अथवा फूल की जगह पर एक-एक मुँह इस तरह प्रत्येक रेखा पर नी मुख दिखें, और प्रत्येक मुख के होंठ फड़फड़ाते हुए दिखें । ये होंठ नवकार का एक-एक पद बोल रहे हैं, ऐसा देखना । अनुभव करेंगे, तो इसकी धारणा बराबर होगी । बोलने वाले हम नहीं हैं, लेकिन सामने वाले मुखों के होंठ हैं । हम तो सिर्फ देखने वाले व सुनने वाले हैं । इसमें भी मुख से क्रमशः एक-एक पद होंठ फड़फड़ाकर बोला जाता हुआ दिखेगा । दृष्टि होंठों पर केन्द्रित रहेगी ।

इन तीनों में से किसी भी रीति से समवसरण के गढ़ पर १०८ नवकार गिने जा सकते हैं !

### हृदय कमल पर धारणा:-

समवसरण के बदले हमारे हृदय पर धारणा करके भी नवकार गिने जा सकते हैं । हृदय की एकदम लाल कमल के रूप में कल्पना करें । उसके बीच में कर्णिका व आजुबाजु आठ पंख-झिप्याँ हैं । प्रत्येक पर पूर्वोक्त रीति से सफेद रत्नमय अक्षरों का

• एक-एक पद दिखे और वह पढ़ते जायें । प्र०-अब इसमें पहला नवकार, दूसरा, तीसरा नवकार, ऐसी धारणा किस प्रकार रहेगी?

उ०-जब पहला नवकार गिना जाय, तब पहला पद अधिक गहरा या बड़े अक्षरों में दिखाई देंगे । वह बोलते हुए उस पर अधिक भार दिया जायेगा । बाद में दूसरा नवकार शुरू होने पर दूसरा पद गहरा व बड़े अक्षरों में दिखेगा और बाकी के पद सामान्य ही दिखाई देंगे । इसी तरह तीसरा नवकार गिनते वक्त तीसरा पद अधिक गहरा या बड़ा दिखेगा । इस प्रकार सहज रूप में ही नौ नवकार का जाप हो पायेगा । इसमें अंक नहीं रखने पड़ेंगे । क्रमशः एक-एक पद गहराता जायेगा ! जैसे-पहले नवकार में सिर्फ पहला पद गहरा, दूसरे में सिर्फ दूसरा पद, तीसरे नवकार में तीसरा पद ! इसी तरह चलते रहना ।

प्र० इस तरह तो नौ नवकार गिने जा सकते हैं । लेकिन अब १०८ नवकार गिनते हैं, तो किस प्रकार गिने जायें ?

**हृदय कमल पर १०८ नवकार किस प्रकार गिनें ?**

उ०-यह भी सरल है । हमारे हृदय कमल को वारी-वारी से सिद्धचक्रजी के गट्टे के एक-एक स्थान पर रहा हुआ सोचें । पहले, बीच में अरिहन्त के स्थान पर नौ नवकार पूरे हों, फिर दूसरे सिद्ध भगवान के स्थान पर, हृदय की कल्पना कर, वहाँ नौ नवकार गिनें । फिर आचार्य पद के स्थान पर हृदय कमल की धारणा करें । .. इस तरह नौवीं बार नौवें स्थान पर हृदय-कमल की धारणा करें । तत्पश्चात् सिद्धचक्रयंत्र के ऊपरी भाग यानी कलश के मुख पर, दायीं व बायीं आँख पर हृदयकमल की धारणा करना । इस तरह १२ स्थान पर हृदयकमल की धारणा करके ६-६ नवकार गिनने से कुल १०८ नवकार का जाप होगा ।

## पदार्थ पर ध्यान :-

यद तो हुआ-नवकार के अक्षर पर, पद पर ध्यान । इसे पदस्थ ध्यान कहते हैं । परन्तु पद के बदले पदार्थ पर अर्थात् प्रत्येक पद के अर्थ पर ध्यान करना हो, तो इस प्रकार होता है ।

### दृष्टि के सामने समवसरण लायें :-

समवसरण के बीच में अरिहंत परमात्मा विराजमान हैं । उनके मस्तक के ऊपर सिद्धशिला पर सिद्ध भगवान हैं. प्रभु के चरणों के अगे दायीं ओर गणधर-आचार्य महाराजों की पंक्ति है, उनके नीचे उपाध्याय महाराजों की पंक्ति और उनके नीचे साधु-महाराजों की पंक्ति हैं । इस प्रकार की धारणा करनी चाहिये । अब आचा० उपा० साधु प्रभु के सामने हाथ जोड़ कर बैठे हैं । समवसरण भी तिरछी तरफ से एक के पीछे एक ऐसे अनन्त देखे । इनमें अनन्त अरिहंत अनन्त आचार्य-उपा०-साधु ! बाद में नवकार का प्रत्येक परमेष्ठि पद बोलते हुए उन-उन अरिहंत, सिद्ध, आचार्य आदि परमेष्ठियों को देखें । इस प्रकार 'नमो लोए सब्बसा-हूणं, बोलते हुए साधुओं की पंक्ति देखें व मानसिक नमस्कार भी करते जावें । बाद में प्रवेश द्वार की आगे की भूमि पर ऊपर-ऊपर ६ ठा, ७ वां, ८ वां और ९ वां पद लिखा हुआ पढ़ें । नौवें पद में अरिहंत प्रभु के समीप पहुँचा जायेगा और पुनः वहीं से दूसरा नवकार शुरू होगा । इस प्रकार के अर्थध्यान में अन्तिम चार पद देखने के बदले समवसरण पर पाँचों परमेष्ठियों को नमस्कार करके सामने खड़े रहकर अन्तिम चार पद बोलते हुए यह धारणा करनी है कि ये पाँचों नमस्कार सर्व पापों का नाश कर रहे हैं मानों हमारे दिल में से पाप बाहर फेंके जा रहे हैं या जलकर खाक हो रहे हैं । यह नमस्कार सर्व मंगलों में श्रेष्ठ मंगल क्रिया है । यह

तो एकदम बलवान अन्तरायकर्मों को भी मानों चकनाचूर कर देता है। इस समवसरण की धारणा में, सामने अनन्त समवसरण की भी कल्पना की जा सकती है।

(२) नवकार के पदों के पदार्थ की दूसरी रीति से इस प्रकार धारणा हो सकती है--इसमें--

अरिहंत पदार्थ अर्थात् आठ प्रातिहार्य से शोभित वीतराग देवाधिदेव (१) वे रत्नमय सिंहासन पर विराजमान हैं (कुर्सी पर बैठे हों, उस तरह बैठे हैं) और नीचे रत्नमय पादपीठ पर प्रभु के चरण स्थापित हैं। (२) दोनों तरफ चामर बीजे जाते हैं। (३) मस्तक के पीछे सूर्य जैसा भामंडल प्रकाशपुज है। (४) ऊपर रत्न-मोतीमय भुमकों वाले, ३ गोलाकार छत्र हैं। (५) प्रभु की पीठ के पीछे ऊँचा अशोक वृक्ष (६) आकाश में से हो रही पुष्प वर्षा, (७) गगन में बजती देवदुंदुभि और (८) प्रभु के पास वांसुरी बजाते हुए देवों की दिव्यध्वनि हैं। इस प्रकार अष्ट प्रातिहार्य यानी कि शोभा करने वाले परिवार से अरिहंत परमात्मा शोभित हो रहे हैं।

सिद्ध भगवान् स्फटिक जैसे निर्मल और ज्ञानज्योतिर्मय हैं। वे रत्नमय सिद्धशिला पर विराजमान हैं।

आचार्य महाराज व्याख्यानपीठ पर विराजकर चतुर्विध-संघ को देशना दे रहे हैं।

उपाध्यायजी महाराज बाजोठ चौकी पर विराजे हुए हैं, वे वाचना दे रहे हैं और उनके आगे अर्द्धगोलाकार मंडली में मुनि महाराज हाथ जोड़कर वाचना सुन रहे हैं।

साधु महाराज कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े हैं। उनकी मुख



मुद्रा प्रशान्त है, आँखें अर्द्ध मूंदी हुई हैं, और दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर स्थापित है ।

अब नवकार के पहले पाँच पद गिनने के लिये सामने पाँच पृथ्वी-पाँच मंजिल की तरह धारें । वाद में एक-एक पद बोलें, तब एक-एक पृथ्वी क्रमशः उन-उन परमेष्ठियों से एकदम भरी हुई दिखायी दे । उदाहरण के लिये-‘नमो अरिहंताणं’ बोलते हुए सामने अष्ट प्रातिहायं युक्त अरिहंत भगवंतों से भरी पृथ्वी दिखायी दे ।

‘अरिहताणं’-यह बहुवचन का प्रयोग है । इसमें सर्व काल के अनन्त अरिहंत लिये जा सकते हैं । अतः सामने पृथ्वी पर अनन्त अरिहंत देखना और मानसिक रूप से दो हाथ जोड़कर हमारा मस्तक झुकता है, इस तरह कल्पना करे । वाद में ‘नमो सिद्धाणं’ बोलते हुए सोचना कि ऊपर की पृथ्वी सिद्धशिला की है, जिस पर अनन्त सिद्ध भगवान हैं उन्हें नमस्कार करना । उसके बाद नीचे पृथ्वी पर देशना देते हुए अनन्त आचार्य महाराजों से उसे एकदम भरी हुई देखकर ‘नमो आचार्याणं’ पद बोला जाता है और आचार्यों को नमस्कार किया जाता है । उसके नीचे की पृथ्वी पर चौथा पद बोलते वक्त, पढ़ाते हुए अनन्त उपाध्याय दिखते हैं व उन्हें नमन होता है । अन्त में, नीचे की पृथ्वी पर, पाँचवां पद बोलते हुए काउसग-ध्यान में खड़े हुए अनन्त मुनि महाराज दिखते हैं व उन्हें नमस्कार होता है । (देखिये ‘प्रतिक्रमण सूत्र चित्रार्थक’)

**अभ्यास से पदोच्चरण-यह है स्विच को दबाना-**

उपरोक्त रूप से देखने के लिये बहुत अभ्यास करना पड़ता है । बहुत अभ्यास होने के बाद तो बोलते ही सामने वे-वे

परमेष्ठि अपने-अपने पोज में तुरन्त दिख पड़ते हैं, जैसे कि बिजली के स्विच को दबाते ही तुरन्त लाईट हो जाती है। बहुत अभ्यास करने से ही ऐसा हो सकता है।

वाद में अन्तिम चार पदों के समय ऐसा सोचें कि पाँच पृथ्वी पर अनन्त परमेष्ठि भगवंत हैं, उन्हें हम नमस्कार कर रहे हैं। यह नमस्कार सर्व पापों को समाप्त करता है और सर्व मंगलों में श्रेष्ठ मंगल के रूप में अन्तराय कर्मों को चकनाचूर कर देता है, यह सोचें।

इस प्रकार नवकार के पदार्थ का ध्यान होता है। रोज प्रभात में उठकर स्वस्थ चित्त से, आँखें मींचकर यह ध्यान किया जाय तो यह चित्त को एकदम निर्मल करने के साथ शरीर को भी स्फूर्ति देता है और इसकी छाया पूरे दिन पर पड़ती है। प्रतिदिन ऐसा करने से चित्त की स्थिरता का अभ्यास मिलता है।

### लोगस्स का पदार्थ ध्यान:-

जिस प्रकार नवकार का पदार्थ से ध्यान किया जाता है, उसी प्रकार 'लोगस्स-सूत्र' का भी पदार्थध्यान हो सकता है। 'लोगस्स' की पहली गाथा में 'लोक उद्योतकर, धर्म-तीर्थकर, जिन और अरिहंत ऐसे चौबीसों केवलियों का मैं कीर्तन करूँगा'-ऐसा कहा गया है। इसमें पदार्थ यह देखना है कि 'चौबीस भी'-अर्थात् इसमें दूसरे अनन्त प्रभु तो हैं ही, साथ ही साथ वर्तमान चौबीसी के २४ भगवान भी हैं। इससे अपनी नजर के सामने, आगे चौबीस व उनकी दायाँ बायीं ओर अनन्त तीर्थकर देव आते हैं तो कहा कि १) लोक के उद्योतकर, २) धर्म तीर्थकर, ३) जिन, ४) अरिहंत की मुद्रा में। उनकी कैसी-कैसी मुद्रायें नजर के सामने

लायी जायें ? १) सर्वज्ञ हुए उस समय का गोदोहिकासन (गाय दुहने का आसन) । इस आसन से लोक-उद्योतकर । (२) धर्म-तीर्थस्थापना के समय देशना देते हुए, वे धर्मतीर्थकर । काउसग ध्यान में रागादि को जीतते हुए-जिन, और ४) आठ प्रातिहार्य युक्त सिंहासन पर बैठे हुए-अरिहंत ।

इसमें पहले में सब तीर्थंकर केवलज्ञान पाते वक्त उभड़क 'गोदोहिका' आसन पर रहे हुए दिखे । दूसरे में, समवसरण पर बैठकर बोलते हुए दिखायी देते हैं । तीसरे में, यह स्थिति लाने से पूर्व ध्यान में खड़े हुए, भक्त या शत्रु पर राग-द्वेष को रोकने वाले दिखते हैं । चौथे में, आठ प्रातिहार्यों से शोभते हुए दिखायी देते हैं ।

अथवा 'उज्जोअगरे' बोलते हुए प्रभु के हृदय में केवल-ज्ञान का प्रकाश देखना; 'तित्थयरे' बोलते हुए मुख बोलता हुआ दिखायी दे, तुरन्त ही 'जिणे' बोलते हुए ऊपर आँखों में वीतरागता दिखती है और उसके तुरन्त बाद 'अरिहंते' बोलते हुए मुख के वाजु में चामर वीजते हुए दिखायी देते हैं । या प्रभु के मुखके पीछे भामंडल (प्रकाश-पुंज) दिखाई दे ।

## २ री - ३ री - ४ थी गाथा :-

अब २ री- ३ री ४ थी गाथा में २४ भगवान के नाम के साथ उन्हें वन्दन किया गया है । प्रत्येक गाथा में ८-८ भगवान के नाम हैं । किसी पंक्ति में १, किसी में २ या किसी में ३ नाम हैं । जिस पंक्ति में जितने नाम हैं, उतने भगवान को वह-वह पंक्ति बोलते वक्त नजर के सामने लावें । इसका क्रम इस प्रकार

है कि दूसरी गाथा में पहली पंक्ति में २ भगवान, दूसरी पंक्ति में ३ भगवान... आदि

गा०-२	गा०-३	गा०-४
२ ००	१ ०	३ ०००
३ ०००	३ ०००	२ ००
२ ००	२ ००	१ ०
१ ०	२ ००	२ ००

और निम्नोक्त रूप से उन भगवानों को नजर के सामने लावें:-

☐ ..... ☐  
☐ ..... ☐ ..... ☐  
☐ ..... ☐  
☐  


---

☐  
☐ ... ☐ ..... ☐  
☐ ..... ☐  
☐ ..... ☐  


---

☐ ..... ☐ .. ☐  
☐ ..... ☐  
☐  
☐ ..... ☐

इसमें प्रत्येक में प्रभु बैठे हैं, ऐसा देखें और उस-उस

पंक्ति में आने वाले भगवान का नाम बोलें। जैसे-पहली पंक्ति में 'उसभ-म जिअं', इसके साथ 'वंदे' है अर्थात् मैं वन्दन करता हूँ और वह प्रत्येक भगवान के लिए होता है। हम प्रत्येक नाम बोलते वक्त प्रत्येक भगवान के चरण में शिर झुकाकर वन्दन कर रहे हैं, ऐसा देखें। अभ्यास करने पर यह आयेगा। इसके लिये पहले तो धीमे-धीमे एक-एक नाम बोलते जायें और उसके साथ ही साथ उस-उस कोष्ठक में उन उन भगवान को देखते जायें व वन्दन करते जायें। इस तरह आगे बढ़ें।

### ५ वीं गाथा :-

पाँचवीं गाथा में आता है-'चउवीसंपि' अर्थात् चौबीस भी। यानी कि आजुवाजु अनन्त तीर्थंकरों के साथ बीच में इन २४ भगवान को सामने रखकर हम स्तुति करते हैं, ऐसे देखते हुए उन्हें 'निर्मल' व 'अजर-अमर' रूप में देखना और प्रार्थना (आशंसा) करनी कि 'ये चौबीस जिनवर भी मुझ पर कृपा करें मैं इनका प्रभाव प्राप्त करूँ।

### ६ वीं गाथा में :-

'कीर्तन-वंदन पूजन कराये हुए व श्रेष्ठ सिद्ध' के रूप में इन प्रभु को देखना और उनके पास 'आसग्य'-भाव आरोग्य मोक्ष के लिये 'बोधिलाभ' यानी जैनधर्म की सम्यग्दर्शनादिकी तथा उत्तम भाव समाधि की मांग करते हों, ऐसा देखे।

### ७ वीं गाथा में :-

इन भगवान को चन्द्रों से भी अधिक निर्मल, सूर्यों से अति प्रकाशकर और समुद्रों से अतिशय गंभीर सिद्ध के रूप में देखें और उनके पास मोक्ष माँगते हों, ऐसा सोचना।

इस प्रकार संपूर्ण लोगस्स की प्रत्येक पंक्ति का पदार्थ नजर सामने खड़ा करके उस पर मन लगायें । इस प्रकार 'लोगस्स' का ध्यान होता है । प्रतिदिन प्रभात में जागकर एक बार भी यह ध्यान किया जाय, तो उसमें कितने ही पाप कर्मों का नाश हो जाता है और अपार पुण्य बंधता है । एक तीर्थंकर भगवान का भी वंदनस्तुति का अचिन्त्य फल मिलता है, तो चौबीस और साथ में अनन्त तीर्थंकर प्रभु को वन्दना - स्तुति करने का कितना महान फल मिलेगा ?

कहने का तात्पर्य यह है कि मन को भटकते हुए व अशुभ पदार्थों में लगने से रोककर दिन के भंगल प्रारंभ में नवकार व लोगस्स के ध्यान में मन लगाना चाहिये ।

## प्रकरण ५. शुभ भाव के भव्य लाभ व उपाय

मन को स्थिर और निर्मल करने के लिये ध्यान के इन प्रारंभिक प्रकारों की बात हुई, परन्तु हमारा विषय यह है कि-

### ध्यान का जीवन के साथ क्या सम्बन्ध है ?

इस पर बहुत विचार करना है । हम संक्षेप में देखेंगे कि-

- (१) ध्यान का जीवन के साथ मुख्य सम्बन्ध कैसे है ?
- (२) ध्यान के प्रकार कितने और कौन-कौन से हैं ?
- (३) अब प्रत्येक का स्वरूप क्या है ?
- (४) जीवन में यह क्या-क्या काम करता है ?
- (५) हृदय में उन ध्यानों के होने के बाह्य लक्षण कौन-२ से हैं ? उन ध्यानों का फल क्या है ? आदि आदि । इसमें पहली बात यह है-



## ध्यान का जीवन के साथ मुख्य सम्बन्ध (क्यों) कैसे ?

जीवन क्या है ? कोई व्यवहार, कोई वाणी या कोई भाव-भावना विचार । नींद लें, यह भी एक प्रकार का व्यवहार ही है । इन्द्रियों से कुछ देखें, सुने, चखें आदि अथवा शरीर के अंग हिलायें यह भी एक व्यवहार ही है । इस प्रकार, जो बोलें, वह वाणी है और विचार करें, भाव-भावना-मनोरथ आदि करें, वह विचार है । जड़ का कोई वर्तव, वाणी या विचार नहीं है, इसलिये उसका जीवन नहीं है । जहर जो खाता है, वह मरता है, यह जहर का स्वभाव है, जहर का कार्य है । लेकिन यह जहर का जीवन नहीं है । जीवन चेतन आत्मा को होता है और वह स्वाधीन है ।

### आत्मा का स्वातंत्र्य :

कैसे वर्तव, वाणी या विचार किये जायें, इसमें आत्मा स्वतंत्र है नायक हैं । अलवत्ता प्रवृत्ति, आयुष्य, बल आदि सामग्री से पहुँच पाये, उतने प्रमाण में ही कर सकते हैं, फिर भी स्वाधीन कहने का तात्पर्य यह है कि स्वयं की मर्जी के अनुसार वाणी-विचार-वर्तन का प्रवर्तन किया जा सकता है । आत्मा किसी भी वाणी=विचार-वर्तन को पलट भी सकती है और रोक भी सकती है । (देखिए In Search of Divine Light )

### अपना महत्त्व समझिये ।

यदि हम अपनी आत्मा का यह महत्त्व समझ लें कि 'वाणी-विचार-वर्तन पर अपना वर्चस्व है', तो हमें लगेगा कि हम एक सम्राट् हैं । जिस प्रकार राज अपने नौकर-वर्ग को

हुकम देता है और उसका पालन होता है उसी प्रकार हम अपने शरीर, अवयव, इन्द्रिय, वाणी व मन को जैसा हुकम दें, उसीके अनुसार वे सब चलते हैं। अपना ऐसा वर्चस्व समझने से काया आदि को आज्ञा देकर असत्, अशुभ, दुष्ट बर्ताव, उच्चारण व विचार को रोक सकते हैं। बाहर किसी को हुकम देते हैं उसी तरह अन्दर इस काया, मन आदि को हुकम देना है कि 'यह अशुभ वर्तन, बोलना, सोचना छोड़ दो और शुभ-अच्छा वर्तन करो, सोचो व बोलो।'।

### विचार का बड़ा प्रभाव :

जीवन-वर्तन, वाणी व विचार है और इसका आत्मा पर बहुत असर पड़ता है। इनमें भी विशेष-रूप से विचार का भारी असर पड़ता है। यह आत्मा में उस प्रकार के संस्कार, संस्कार-नाश, कर्मबन्ध व कर्मक्षय खड़े करता है। तो क्या वाणी व बर्ताव का असर नहीं है? है! इनका विचार पर बहुत असर पड़ता है। स्त्री पर हो दृष्टि लगाते रहें, तो असत्-मलीन विचार चलते हैं। वीतराग की मूर्ति पर ही एक नजर से देखते रहें, तो शुभ विचारधारा चलती है।

आज के सिनेमा दर्शन, रेडियो, संगीतश्रवण, अखबार वांचन, शोक-सुविधाओं के उद्भट साधनों के उपयोग आदि ने मानवजाति की विचारधारा को अधम, कलुषित व तामसी बना दिया है।

इसमें यदि संवेग-वैराग्य-नीति, जिनवाणी का श्रवण, जिनभक्ति, साधु - समागम, तीर्थयात्राकरण, आदि मिल जायें तो अच्छी विचारधारा चलने लगती है।

आचार का विचार पर असर पड़ता है और विचार का असर कर्म तथा संस्कार पर पड़ता है ।

महावीर प्रभु के स्वयं के हस्तदीक्षित शिष्य अवधिज्ञानी महर्षि श्री धर्मदासगणि महाराज 'उपदेश-माला' शास्त्र में लिखते हैं कि,—

जं जं समयं जीवो, आविसई जेण जेण भावेण ।

सो तम्मि तम्मि समए, सुहासुहं बंधए यम्भ ॥

—अर्थात् जिस-जिस समय में जीव जैसे-जैसे (शुभ या अशुभ) भाव से युक्त बनता है, उस उस समय में (उतने परिणाम में) वह शुभ या अशुभ कर्म बांधता है । शुभ भाव से शुभ कर्म और अशुभ भाव से अशुभ कर्म बांधता है । हमारे यहाँ कहावत है कि—

**‘क्रियाए कर्म, उपयोगे धर्म परिणामे बंध’ ।**

(१) जैसी क्रिया करोगे, वैसे कर्मों कहलाओगे । व्यापार की क्रिया से व्यापारी, मारने की क्रिया से हिंसक, बचाने की क्रिया से रक्षक-दयालु आदि .. आदि ।

अथवा क्रियाएँ, कर्म यानी जैसी क्रिया करें उसके अनुसार कर्म भूमिका यानी भाव उत्पन्न होते हैं ।

(२) ‘उपयोगे धर्म’ यानी देवदर्शनादि बाह्य धर्मक्रिया चाहे जितनी की जाय, लेकिन उसमें चित्त का जितना उपयोग हो, जितनी जागृति हो, उतना आन्तरिक धर्म गिना जाता है; और उपयोग ही पाप-क्षयादि का लाभ देता है । बाह्य धर्म-क्रिया करने पर भी चित्त बाहर भटकता हो, तो यह आन्तरिक

धर्म नहीं हुआ। जितना चित्त के उपयोग के साथ किया जाय, उतना ही धर्म।

(३) 'परिणामे बंध' अर्थात् आत्मा के जैसे शुभ-अशुभ परिणाम भाव, अध्यवसाय हों, उन्हीं के अनुसार शुभाशुभ कर्म का बंध होता है।

इसमें भी यही बात आती है कि

(१) जैसा भाव, वैसा बंध। अकेला बंध ही नहीं होता, किन्तु

(२) जैसा भाव, वैसा संक्रमण भी होता है। इतना ही नहीं,

(३) भावना के अनुसार कर्मों का संक्रमण यानी पुण्य से पाप या पाप से पुण्य रूप परिवर्तन होता है। इसके आगे-

(४) जैसे भाव वैसी उद्वर्तना-अपवर्तना। अर्थात् शुभ या अशुभ कर्म की वृद्धि या ह्रास। और आगे बढ़कर-

(५) जैसे भाव वैसे मोहनीय कर्म के उदय व क्षयोपशम होते हैं।

कहिये, अन्तर के परिणाम, भाव, अध्यवसाय कितना प्रसर करते हैं ?

क्रिया कदाचित्त धर्म की हो और उसमें भाव बिगाड़ दें, तो बाह्य धर्म एक ओर घरा रह जाता है और बिगड़े हुए भाव से अशुभ कर्म बंध-संक्रमण-कर्म संक्रमण आदि कितने ही अहितों की कतार खड़ी हो जाती है।

इससे विपरीत, क्रिया पाप की हो, लेकिन अन्तर में शुभ भाव हुआ तो शुभ कर्म बंध, शुभ संक्रमण, अशुभ कर्मों का शुभ में संक्रमण, अशुभ कर्मों की स्थिति में कटौती आदि कल्याणों की पंक्ति आ खड़ी होती है। उदाहरण के लिये, देखिये।

## चूल्हा जलाते हुए शुभ विचार

किसी श्राविका को चूल्हा जलाने का अवसर आया । चूल्हा जलाती है, लेकिन उसके दिल में हलचल (हलबल) मची कि 'अरे ! इस संसार में रहकर कैसा जीवसंहार करना पड़ता है ? चूल्हे में कितने अग्निकाय के जीव जन्म ले लेकर मरेंगे ? कितने उड़ते हुए या किसी कोने में रहे हुए त्रस जीव मरेंगे ? कितने असंख्य वायुकाय के जीव जलकर मरेंगे ? तब इस चूल्हे पर रसोई होगी । उसमें वनस्पतिकाय अपकाय आदि के कितने जीव मरेंगे ? अरे ! इन जीवों ने मेरा क्या अपराध किया है कि मैं इन बेचारों को मरणान्त पीड़ा देकर इनका सहार करती हूँ ? वह भी रोज - ब - रोज ! कैसा है यह संसार ? कैसे इस षट्काय जीवों के संहारमय से छूट पाऊँगी ?

## चूल्हा जलाते हुए शुभ भाव कौन कौन से ?

जब सोचिये, यह चूल्हा जलाते हुए कितने शुभ भाव अन्तर में उछल रहे हैं ? उसे—

१. हिंसा पाप का भारी खेद है,

२. जीवों पर दया है,

३. संसार पर उद्वेग है और

४. चारित्र्य की अभिलाषा है । पाप क्रियायें तो करती ही पड़ती हैं, लेकिन हृदय शुभ भाव में रमण कर रहा है । इसमें कर्मों का बंध कैसा ? संक्रमण कैसा ? संस्करण कैसा ? आदि का विचार कीजिये । ध्यान रखियेगा कि

पाप का, दुष्कृत्य का खेद/संताप है—यह भी महान शुभ-भाव है ।

भांभरिया मुनि के घातक राजा को बाद में अपने इस घोर अपकृत्य का अत्यन्त खेद, संताप व पश्चाताप जगा व बढ़ता ही गया, तो वे मोहनीय कर्म का विध्वंस करते-करते अन्त में वीतराग बने और बाद में तुरन्त वहाँ हो ज्ञानावरण आदि शेष घाती कर्मों का नाश करके केवल ज्ञान पाया, वीतराग सर्वज्ञ बन गये । बाद में आयुष्य पूर्ण होने पर मोक्ष पाया । एक महर्षि की हत्या करने का घोर पाप । और उसी भव में मोक्ष क्या यह हो सकता है ? फिर भी कैसे हुआ ? उत्कृष्ट शुभ भाव के बिना तो ऐसा होगा ही नहीं न ? तो यहाँ ऐसे कौन-से शुभ भाव आये ? कहिये पाप-दुष्कृत्य के ज्वलंत भडभड सुलगते हुए संतापखेद-पश्चाताप का भाव ही प्रबल शुभ भाव के रूप में उपस्थित हो गया । जिस प्रकार किसी सुकृत की अनुमोदना का भाव, शुभ भाव है । इसी प्रकार पाप के संताप का भाव भी शुभ भाव है । ग्वालिन के पुत्र ने खीर के सुपात्र दान का सुकृत किया, बाद में उसी रात उसकी मृत्यु हो गयी । मरने तक वह उस सुकृत की अत्यन्त अनुमोदना करता रहा, तो उस अनुमोदना के शुभ भाव ने उसे अगले जन्म में महान ऋद्धि संपन्न शालिभद्र बनाया । इस प्रकार पापकृत्य का पश्चाताप भी शुभ भाव होने से आत्मा को ऊपर चढ़ाता है । वस, तो इसी प्रकार उस श्राविका का रसोई करते हुए षट्काय जीव के संहार का (१) संताप-खेद — पश्चाताप भी शुभ भाव है । ऐसी निरपराधी जीवों



के प्रति अत्यंत (२) करुणा की भावना आ गयी, हृदय पिघल गया, यह भी शुभ भाव है । इस प्रकार ऐसे संहारमय (३) संसार पर जो ग्लानि हुई, यह भी महान वैराग्य का शुभ भाव है और (४) संयम-चारित्र्य की कांक्षा जागी यह भी शुभ भाव है ।

अब यह शुभ भाव उसे क्या-क्या भेंट देता है यह देखिये ।

**शुभ भाव से कौन से उपहार ?**

**शुभ भाव शुभ कर्मों को बांधता है :-**

जीव प्रतिसमय कर्म बांधता है । एक समय भी खाली नहीं जाता । प्रति समय कर्म बंध चालू ही रहता है । जिस प्रकार भाव, शुभ व अशुभ दो प्रकार के हैं, उसी प्रकार कर्म भी दो प्रकार के हैं- शुभ व अशुभ । दोनों प्रकार के कर्म में भी जत्था है, lot है । इसमें शुभ कर्म से अशुभ कर्म का जत्था बड़ा है, क्योंकि अशुभ कर्मों के जत्थे में ज्ञानावरण कर्म, दर्शनावरण कर्म मोहनीय कर्म व अन्तराय कर्म तो आते ही हैं और इनके विरोधीभूत ऐसे कोई कर्म नहीं कि जो शुभ के जत्थे में आये ! तथा वेदनीय कर्म आदि में भी शुभ-अशुभ दोनों हैं । अलवत्ता पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पाँच अन्तराय कर्म व कषाय मोहनीय आदि कर्म ऐसे हैं कि जो शुभ भाव से शुभ कर्म बंधते वक्त भी बंधते हैं । फिर भी शुभ भाव के प्रताप से इन कर्मों का रस कम बंधना है । इससे इसका भोग करते समय यह ऐसी तोव्रता नहीं दिखाता ।

अब देखिये, शुभ भाव से शुभ कर्म बंधते हैं । इसके जत्थे में क्या-क्या आता है ? पहला शाता-वेदनीय कर्म आता है, जिसके उदय के वक्त जीव को सुख शाता का अनुभव होता है । तब आप कहते हैं न कि शरीर अच्छा, निरोगी व स्वस्थ हो तो सब कुछ अच्छा हैं । शरीर अच्छा हो तो धर्म सूझे तो नये शातावेदनीय आदि की कमाई होती है । यहाँ के शुभ भाव से भावी की स्थिति भी कैसी शुभ बना दी ? शुभ भाव से शाता वेदनीय के साथ यशदायी यश-नाम कर्म, सौभाग्य नाम कर्म ( जिससे दूसरे हमारा आदर करें ) आदेय नाम कर्म ( जिससे हमारा वचन दूसरों को मान्य हो ), सुस्वर नाम कर्म, इसी तरह अच्छा शरीर, अच्छा वर्ण अच्छा गोत्रकर्म आदि ऐसे शुभ कर्म बंधते हैं । मन के भाव अशुभ हों, तों इन सबसे विपरीत अशाता कर्म, अपयश कर्म, दौर्भाग्य अनादेय-दुःस्वर नाम कर्म, नीच गोत्र, अशुभ वर्णादि आदि का अशुभ का जत्था इकट्ठा होता है ।

### शुभ भाव में कितने लाभ ?

(१) तब विचार करने जैसा हैं कि श्राविका चूल्हा फूंकते हुए भी पाप-हिंसा का खेद, जीवों की दया, संसार की ग्लानि, मोक्ष की लालसा आदि शुभ भावों में चढ़ती है, इसमें कितने शुभ कर्मों का lot बाँधती है ? यह शुभ भाव रहे, तब तक प्रति समय वह शुभ कर्म बाँधती है । एक आँख के पलक भ्राकने में असंख्य बार यह lot बाँधती है ।

(२) बाद में यह तो स्वाभाविक ही है कि ये शाता आदि बाँधे जाते हों, तब तक अशाता अपयश आदि अशुभ कर्म बंधते हुए रुक जाते हैं, यह लाभ अलग !

(३) और तीसरा लाभ यह है कि शुभ के बंध के समय पुराने बांधकर रखे गये विरोधी अशाता-वेदनीयादि अशुभ कर्मों में से कितने ही कर्म पुदगल इस शुभ के साथ मिल जाते हैं, अर्थात् अशुभ का शुभ में संक्रमण होता है, अर्थात् ये अशुभ मिटकर शुभ बन जाते हैं नीम के रस की कटोरी गन्ने के रस में धूप में गिर जाय, तो वह कडवाहट खोकर मिठास पाता है न ? ऐसा यहाँ भी होता है । शुभ भाव के समय बधते हुए मीठे शातावेदनीय कर्म में कुछ पुराने कडवे अशाता कर्म मिलकर, मीठे शाता वेदनीय रूप बन जाते हैं । ऐसा दूसरे यश कम आदि में होता है । इसीका नाम संक्रमण है । इसका भी लाभ होता है ।

(४) शुभ भाव के समय पुराने अशुभ कर्मों के स्थिति-रस भी कटते चले जाते हैं, यह अपवर्तना कहलाती है । इसी तरह पुराने शुभ कर्मों का रस बढ़ता जाय, वह उद्वर्तना । इसका भी लाभ मिलता है ।

(५) शुभ भाव के समय, अशुभ भाव में जो 'उदय प्राप्त कषाय मोहनीय' कर्म अपना रसानुभव दिखाता, वह नहीं दिखा सकता । उसे वैसे ही चले जाना पड़ता है । उदाहरण के लिये-क्षमा-दया का शुभ भाव जगा, उस समय उदय प्राप्त क्रोधकर्म अपना गुस्सा, क्रूरता आदि का अनुभव नहीं करा सकता । और उस कर्म को ऐसे ही चले जाना पड़ता है । इसे प्रदेशोदय से कर्मक्षय हुआ कहते हैं । रसानुभव कराये, उसका नाम विपाकोदय, न कराये वह प्रदेशोदय ।

(६) और एक लाभ अच्छे संस्करण का होता है अभी शुभ भाव करो, यह भविष्य के लिये इसके संस्कार खड़े करता

है, जो पुनः शुभ भाव लाता है, शुभ भाव को दृढ़ बनाता है, प्रबल बनाता है । दया का क्षमा का वंराग्य का आदि शुभ भाव करते रहने से उसके ऐसे अच्छे संस्कार पड़ते रहते हैं कि जो आगे विशेष प्रबल शुभ भाव लाते हैं । तो उसके बाद होने व लाभ भावी लाभ कितना सुन्दर ?

(७) इन सब स्थितियों में अशुभ कर्मों का बंध रुकता है । अशुभ में संक्रमण रुकता है, शुभ कर्म के रस की अपवर्तना रुकती है अशुभ संस्कार आते हुए रुकते हैं आदि लाभ भी तो होते है न ?

एक श्राविका रसोंई करते हुए व चूल्हा फूकते हुए भी यदि १. पाप का खेद २. जीवों की दया, ३. संसार पर उद्वेग और ४. मोक्ष की लालसा के शुभ भाव में रमण करती है, तो इतने सारे लाभ पाती है । तब देवदर्शनादि धर्मक्रिया के समय शुभ भाव में रमण करे, तो कितने सुन्दर लाभ पायेगी ? ऐसा मत कहियेगा कि-

प्र०-तो फिर महत्त्व शुभ भाव का ही रहा न चाहे जैसी क्रिया चलेगी ?

**क्रिया का भी क्या महत्त्व है ?**

उ०-‘चाहे जो क्रिया चलेगी’ इसका अर्थ तो यह होता है कि ‘पाप क्रिया हो तो भी हर्ज नहीं, भाव अच्छे रखना । ऐसा नहीं बोलना चाहिये, नहीं सोचना चाहिये क्योंकि-

**सामान्य से क्रिया-भाव की प्रेरक है ।**

शुभ धर्म क्रिया से शुभ भाव जगता है, अशुभ क्रिया से

अशुभ भाव जगता है, यह सामान्य नियम है ।

वीतराग के दर्शन में वैराग्य आदि शुभ भाव जगते हैं, बढ़ते हैं प्रिया के दर्शन से मोह, राग जागता है, बढ़ता है ।

दुःखी को दान दिया जाय वहाँ दया का भाव रहता है । स्वयं के ही रग-विलास में खर्च किया जाय-वहाँ मोह, निन्दुरता आदि अशुभ भावों का पोषण होता है ।

रूपये गिनते वक्त मोह के भाव बढ़ते हैं, नवकारवाली गिनते हुए धर्मराग बढ़ता है । इसी लिए शक्य शुभ प्रवृत्ति में रहना ।

इसलिये यह सामान्य नियम है कि धर्म क्रिया से शुभ भावों का पोषण होता है, पाप क्रिया से अशुभ भाव का पोषण होता है ।

फिर भी अपवाद स्वरूप ऐसा भी हो सकता है कि यदि सावधानी रखी जाय, तो पाप-क्रिया में भी आप शुभ भाव जगा सकते हैं । लेकिन यह अपवाद कहलाता है । दिन भर की पाप क्रियायें, पाप वाणो, मन से सासारिक योजनायें करते वक्त तथा इन्द्रियों के विषय संपर्क के समय निरीक्षण करके देख लीजिये कि शुभ भाव कितने आते हैं ? और अशुभ भाव कितने आते हैं ? इसीके ऊपर से नियम का पता चल जायेगा । अधिकतर तो आर्तध्यान के ही भाव चल रहे होते हैं ।

**शुभ भाव के लिये क्या करें ?:-**

इसीलिये कर्तव्य यह है कि धर्मक्रिया शुभ प्रवृत्ति, धर्ममय

वाणी, मन से मैत्री आदि भावनायें धर्म साधना की योजनायें आदि उ लासपूर्वक खूब करनी चाहिये और शुभ भावों का वेग बढ़ाना चाहिए। संसार में रहे बिना छुटकारा नहीं और उसमें पाप प्रवृत्ति भी करनी पड़ती है। वहाँ हो सके, उतनी जागृति रखकर वैसे-वैसे शुभ भाव करते रहना चाहिये। फिर तो चाहे जैसी सांसारिक प्रवृत्ति हो, लेकिन यदि आप चाहें, तो शुभ भाव पैदा कर सकते हैं। पहले कहा गया, उस प्रकार पाप का खेद, जीवों पर दया, मैत्री, संसार-गृहवास पर ग्लानि, देव-गुरु पर भक्ति-बहुमान-श्रद्धा, क्षमा, नम्रता, त्याग-तप के मनोरथ, सुकृत की अनुमोदना दुष्कृत का खेद आदि अनेकानेक शुभभाव हैं। जहाँ पर जो शुभ भाव आ सकता हो, लाना चाहिए इसके लिये शास्त्र जो कहता है, वह ध्यान में रखना है कि।

**शुभ भाव से शुभ कर्म बंधता है, अशुभ भाव से अशुभ।**

दोनों प्रकार के भावों में कर्मों के जत्थे के जत्थे आते हैं। शुभ हो या अशुभ! वे भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म समय जैसे काल में अलग-अलग। आँख एक बार झपकती है इतने में तो असंख्य समय बीत जाते हैं। उतने काल के लिये भी शुभ भाव आया, तो भी उनके असंख्य समयों में से प्रत्येक समय शुभ कर्मों के जत्थे एकत्रित होते ही गये। अर्थात् एक पलक मात्र में ऐसा असंख्य बार होता है। इससे विपरीत एक पलक झपकने के समय के अशुभ भाव के समय अशुभ कर्म के जत्थे असंख्य बार एकत्रित होते हैं। जीवन में यह घटमाल सतत चलता रहता है। तब यह प्रश्न होता है।

**ध्यान का जीवन के साथ क्या सम्बन्ध है।**

शुभ ध्यान में शुभ भाव जुड़े हुए हैं और अशुभ ध्यान में



अशुभ भाव जुड़े हुए हैं और जीवन में ध्यान बहुत चलता है इसलिये इसमें जुड़े हुए शुभ-अशुभ भाव पर वैसे-वैसे कर्मवध चलते रहते हैं। यह जीवन के साथ ध्यान का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

## ध्यान और प्रसन्नचन्द्र

इस विषय में पहले जो 'नमस्कार', 'लोग्स' का ध्यान बताया गया, मात्र उतना ही मत समझिये। शास्त्र ने कहा है कि -

**‘स्थिरम् अध्यवसानं ध्यानम्’**

अर्थात् स्थिर अध्यवसान ही ध्यान है। अध्यवसान यानी चित्त के अध्यवसाय, भाव, परिणाम। ये स्थिर हो, यानी कि चाहे एक क्षण भी चित्त के भाव एकाग्र हों, तन्मय हों, यह ध्यान है। इसमें क्षण भर के लिये भी मनोयोग की स्थिरता है। ऐसे तो वचनयोग-काययोग की स्थिरता यानी निरोध, यह भी ध्यान रूप है। यह बात आगे बतायी जायेगी। इतना लक्ष्य में रहे कि ध्यान शुभ व अशुभ, इन दो प्रकारों का है। क्योंकि,

## ध्यान शुभ या अशुभ कैसे जाना जाता है ?

चित्त के भाव शुभ भी होते हैं, और अशुभ भी होते हैं। आगे बताया जायेगा कि (१) इस संसार के मनपसंद पदार्थों के प्रति, 'ये किस प्रकार मिले, मिलने के बाद जायें, नहीं, अथवा नापसंद मिल न जायें, मिल जायें, तो कैसे टलें ?' इस पर मन की तीव्र लगन, यह अशुभ ध्यान अशुभ प्रणिधान, अथवा अशुभ अध्यवसान है। इसी तरह पीड़ा-व्याधि-वेदना टालने के प्रत मन की तन्मयता हो: हिंसा, झूठ, चोरी, अनीति के धन-माल आदि के संरक्षण के विषय में मन की तन्मयता, यह सब अशुभ ध्यान है। (२) इससे विपरीत, सर्वज्ञशासन, कर्म के विपाक,

रागादि दोषों के अनर्थ, विश्व या विश्व के किसी भी तत्त्व पर मन की तन्मयता, यह शुभ ध्यान है। हमारे हृदय के भाव इसमें किस पर स्थिर रहते हैं, उस पर से यह जाना जा सकता है कि हम शुभ ध्यान में हैं या अशुभ में।

तो क्या हमें किसी न किसी प्रकार का विचार नहीं आता? कोई मनोरथ, कोई चिन्ता, चिन्तन, चित्त की मस्ती या हताशा आदि क्या हमारे मन में नहीं चला करती? चलती ही है। क्षण भर के लिये मन उसमें तन्मय भी होता है। यहाँ कहा गया इस प्रकार हमें देखना है कि 'यह शुभ ध्यान में जाता है? या अशुभ ध्यान में?' जैसा यह शुभ या अशुभ ध्यान होगा, वैसे ही कर्म बंधेंगे।

**अर्थात् जीवन के साथ जितने प्रमाण में जैसे शुभ या अशुभ ध्यान जुड़े हुए हैं, उतने ही प्रमाण में वैसे कर्मों का बंध होता रहेगा।**

कर्म के बंध के साथ, पहले कहा गया उस तरह संक्रमण, अपवर्तनादि, संस्करण आदि तो चलेंगे ही। शुभ ध्यान के समय यह सब शुभ कमाई होगी। और अशुभ ध्यान के समय, इससे विपरीत, सब अशुभ कमाई होगी। अभी अच्छा ध्यान है, तो शुभ प्रवाह चालु, लेकिन अगले ही क्षण बुरा ध्यान आया, तो तुरन्त अशुभ प्रवाह चालु होने ही वाला है।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का नाम तो आपने सुना ही होगा। उन्हें एक बार अशुभ ध्यान ऐसा उठा कि वह क्रमशः अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया, वहाँ सातवीं तरक के अशुभ कर्म

एकत्रित किये । बाद में तुरन्त ही शुभ ध्यान पर चढ़े, तो अनुत्तर विमान में जाकर भोगे जा सकें, ऐसे शुभ कर्मों का बंध करने वाले और अशुभ का शुभ में संक्रमण करने वाले बने । तब भी ध्यान धारा तो चालु ही थी । इसीलिये तो उससे भी आगे बढ़कर मोहनीय आदि कर्मों का संपूर्ण चूरा करके वीतराग सर्वज्ञ बने । कहिये, क्षण के ध्यान का कितना प्रभाव ? उसका कितना सामर्थ्य ? लेकिन ऐसा क्षण का शुभ ध्यान अचानक ही नहीं पैदा हो गया । उसके पीछे, यह ताकत लाने वाली उच्च अहिंसा-संयम-तप आदि की साधना रूप तैयारी की हुई थी, उसके योग्य भूमिका बनी हुई थी । जैसे अशुभ ध्यान जन्म-जन्म की वैसी बुरी भूमिका पर जगता है, उसी तरह अच्छा ध्यान भी अच्छी भूमिका के बल पर जगता है ।

मूल रूप में वे प्रसन्नचन्द राजा थे । त्रिलोकवधु परम-तारक श्री महावीर परमात्मा उनके नगर के बाहर पधारे हैं । राजा ने प्रभु की देशना सुनी और वैराग्य जगमगा उठा । फिर तो क्या ? इतर शास्त्र भी कहते हैं कि,

‘यदहरेव विरजेत्, तदहरेव प्रव्रजेत्’

जिस दिन इस संसार पर वैराग्य हो, उसी दिन यह संसार छोड़कर सदा के लिये चल पड़ना चाहिये । त्रिभुवन गुरु श्री महावीर प्रभु के पास ऐसे हजारों दीक्षित हुए ।’

देखिये ने, वे ११ गणधर किस प्रकार साधु बने ? प्रभु के पास आये, वाणी सुनी और वैराग्य पाकर वही पर, उसी समय ४४०० विद्यार्थियों के साथ संसार त्यागकर अणगार मुनि बन गये और प्रभु के चरणों में बैठ गये । सगे-संबन्धियों

को पूछे बिना, आज्ञा लिये बिना या धर्म का कोई भी अभ्यास किये बिना क्या इस प्रकार चारित्र्य लिया जा सकता है ? लेकिन उनके मन को लग गया कि—

### गणधरों की कौन सी समझ पर वहीं पर दीक्षा ?

‘इस जीव को बनावटी स्वजन तो जन्म-जन्म में मिले और जीव उन स्वजनों की मरजी नहीं होने पर भी मरा ! वह भी स्वजनों के मोह में किये गये पापों का कष्ट अंजाम अकेले ही भोगना पड़े, ऐसे भव चक्र में भटकने वाला होकर मरा ! तब भवचक्र में से मुक्त करनेवाले ऐसे सच्चे स्वजन भूत परमात्मा या सद्गुरु का मिलन कहाँ सुलभ है ? अति अति दुर्लभ ! एक मानव भव भी यदि दुर्लभ है, तो फिर उसमें आर्य देश में, आर्य कुल में जन्म, और शुद्ध परमात्मा, शुद्ध गुरु का मिलना तो कितना दुर्लभ है । घोर जंगल में कोई ऐसे दाता मिल गये हों और महा निधान देते हों अथवा ऐसे संरक्षक मिल गये हों और शरण देते हों तो क्या सगे-संबन्धियों से पूछने जायेंगे कि ‘मैं निधान लूँ या नहीं ? मैं रक्षण लूँ या नहीं ?’

ग्यारह ब्राह्मण व उनके ४४०० ( चौवालीस सौ ) विद्यार्थी प्रभु की वाणी से वैराग्य पाकर वहीं पर दीक्षित हो गये । प्रभु के शिष्य बन गये ।

### दो वर्ष के बालक को छोड़कर दीक्षा ?

प्रसन्न चन्द्र राजा को प्रभु की देशना सुनकर वैराग्य जाग उठा । अब तुरन्त ही चारित्र्य लेना है, कैसे लिया जाय ? इस प्रकार लिया; घर में दो वर्ष का नन्हा-सा पुत्र है, उसे राज-

गद्दी पर स्थापित कर दिया। मंत्री को योग्य सूचना-निर्देश आदि देकर स्वयं ने प्रभु के पास आकर दीक्षा ली।

प्र० दो वर्ष के बच्चे को उसकी माँ और मंत्री के आधार पर छोड़कर दीक्षा ली जा सकती है ?

उ० (१) उनका हिसाब तो यही था कि कर्म के परवश होकर हमें या हमारे स्वजन को कभी न कभी मरना तो पड़ता ही है और एक-दूसरे को छोड़ना तो पड़ता ही है। अनंत बार इस प्रकार उन्हें छोड़ा है, तो फिर धर्म के परवश होकर ऐसे अति दुर्लभ भव में स्वजन को छोड़ना पड़े, इसमें क्या हर्ज है ? कर्म के परवश छोड़ते ही है, तो धर्म के परवश होकर नहीं छोड़ेंगे ?

(२) मृत्यु का कोई काल अकाल नहीं है, अकाल मौत भी आती है तो धर्म के लिये कोई भी काल अकाल क्यों ? धर्म किसी भी काल में हो सकता है। दूसरी बात यह है कि

(३) दीक्षा देने वाले यहाँ महावीर प्रभु हैं। उनके कृत्य पर आपको प्रश्न करना है ? तो फिर वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा पर श्रद्धा-बहुमान ही नहीं रहेगा। यदि उनके प्रति अथाह श्रद्धा-बहुमान है, तो उनकी करनी पर प्रश्न क्यों ?

**गौतम स्वामी को प्रभु पर कितनी श्रद्धा ?**

देखिये, प्रभु श्रीमहावीर स्वामी ने अन्तिम देशना में गौतमगणधर को बीच में से उठाकर देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध

देने के लिये भेजा । गौतमस्वामी गये, उपदेश दिया । स्वयं द्वादशांगी आगमों के रचयिता और चार ज्ञान के धनी । उन्होंने कैसा उपदेश दिया होगा ? अद्भुत । तो भी अभाग्य देवशर्मा को पत्नी के राग के कारण प्रतिबोध नहीं हुआ । कंचन और कामिनी का राग बुरा है । ऐसी देशना से भी जो बोध न पा सके, वह सामान्य उपदेश से भला क्या बोध पायेगा ? फिर भी गौतम स्वामी को प्रभु पर प्रश्न नहीं उठा कि 'प्रभु ने क्या देखकर ऐसे पत्थर को प्रतिबोध करने के लिये मुझे भेजा होगा ?' उन्हें तो उल्टे, अपना वैराग्य बढ़ा, व देवशर्मा पर दया आयी कि 'अरे-अरे ! प्रभु जैसे ज्ञानी इसे प्रतिबोध कराते हैं, फिर भी बेचारा बोध नहीं पाता है ! कैसा कर्मपीडित है !' उन्हें प्रभु की करुणा पर प्रश्न नहीं उठा, क्यों ? क्योंकि उन्हें प्रभु के प्रति अथाह श्रद्धा-भक्ति-आदर था । इसीलिये तो प्रभु जो कहे, जो करे, वह योग्य ही लगता था । इसी तरह प्रभुने जो उन्हें, दूसरे दस मुख्य तथा ४४०० को दीक्षा दी, प्रसन्नचन्द्र को दीक्षा दी, इस पर प्रश्न नहीं होगा ।

**सर्वज्ञ वचन पर श्रद्धा न हो, तो मन बिगड़ता है :**

यदि मन को पवित्र रखना हो, तो सर्वज्ञ के वर्ताव या वचन के अथाह श्रद्धा-भक्ति-आदर होना चाहिये । मन का ध्यान बिगड़ने का यही कारण है कि, अन्त में जाकर एक वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा के कथन-वर्ताव पर भी उतनी भरपूर श्रद्धा-बहुमान-आदर नहीं है-व स्वाभिमान है जिससे अयोग्य प्रश्न, अयोग्य शंका और अयोग्य तर्क उठते हैं । शंकारहित अथाह श्रद्धा हो तो प्रतिदिन रोना आयेगा कि 'अरे अरे प्रभु ! आप तो संसार



व रागद्वेष को जहर जैसा बताकर हमें कहते हैं कि 'ये रखने लायक नहीं हैं, और मैं उन्हीं से चिपक रहा हूँ?' , कहिये, रोज आता है ऐसा रोना ? यदि आता हो, तो संसार छूटते हुए देर न लगेगी । वेकार की शंका व तर्क करके मन का ध्यान नहीं बिगाड़ा जाता ।

प्रसन्नचन्द्र अब राजा नहीं हैं, वे राजर्षि बन गये । फिर तो क्या ? वस लग गये साधना में । अत्यंत शुद्ध समय, घोर तपस्या, और धूप में आतापना जैसे कष्ट उठाने लग गए ।

### चारित्र लिया तो लेकर जाना :

सत्ताधीश राजापन के सुख क्यों छोड़े हैं ? जड़पुद्गल के संग और सार-संभाल बुरे हैं, खतरनाक हैं, इसीलिये उन्हें छोड़ा । तो फिर अब जड़ काया की सार-संभाल क्यों ? काया को कष्ट से कसा जाय, तो आत्मा गुणों व पुण्यों का कमाई कर लेती है ।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि चारित्र-पालन में जोरदार लग गये । क्यों ? उन्होंने देखा कि 'मैं कर्म से बहुत ठगा गया, जन्मो-जन्म ठगा गया । कर्म ने मेरी विडम्बना, बुरी हालत और अधःपतन करने में कोई कमी नहीं रखी है । तो फिर अब इन कर्मों के नाशक शस्त्र-संयम, तप, ध्यान, जिनाज्ञापालन आदि हाथ में आये, तो अब इनमें ऐसा लग जाऊँ कि इन कर्मों को तहस नहस कर दूँ । मुझ परेशान करने वाले कर्मों को मैं ही अब परेशान क्यों न करूँ ? यह उतावल लगने के बाद साधना में क्यों कुष्ठ बाकी रखेंगे ? बाह्य-आभ्यन्तर तप से काया का कसने में, विषय-त्याग से इन्द्रियों को कसने में, इसी तरह ध्यान से मन को बश करने में पूर्ण रूप से तल्लीन बन गये । वस एक ही सूत्र-

‘कसो कसो काया, इन्द्रियों व मन को । जैसे इन्हे कसेंगे, वैसे-वैसे कर्म कटेंगे आत्मतेज बढेगा ।’

शास्त्र कहता है, ‘देहे दुःखं महाफलं, लेकिन दुःख सहन करना भी आना चाहिये । प्रभु महावीर ने कैसे-कैसे जालिम दुःख सहे ? तो उन्होंने क्या पाया ? केवलज्ञान, वीतराग-सर्वज्ञ-परमात्मपन । दुःखों को सहर्ष सहन किया; दुःख सहने में दीवाली के दिन माने, दुःख को कर्मरोग मिटाने की दवा-माना

**सीताजी वे कैसे संयोग में कैसी समझ से,  
कैसी साधना की ?**

सीताजी चारित्र्य लेकर बाहरवें देवलोक की इन्द्र कैसे बनी होंगी ? काया, इन्द्रियों व मन को कोमल-कोमल ही रखकर, या कस कर ? वे समझती थी कि,

यदि मुझे काया और इन्द्रियों को लहर ही करानी होती, तो कई संयोग थे । अग्नि की खाई सरोवर बन गयी, ऐसा दिव्य करने पर, इन्द्रियों व काया को लहर करा सकती थी । राम के मुझे जंगल में छोड़ने व बाद में राम के द्वारा इसके अपार पछतावे पर मैं अपनी काया व इन्द्रियों को खुश कर सकती थी । लव व कुश जैसे दो मातृभक्त पुत्र मिले इन सब बातों पर काया व इन्द्रियों को अच्छी तरह से विषय सुख दे सकती थी, लेकिन इससे क्या ?

विषय सुख में लहर करने से यहाँ पर कर्म की गुलामी करनी पड़ती है । परभाव में भी नयी गुलामी सर पर ओढ़नी पड़ती है ।

काया-इन्द्रियों और मन की सेवा चाकरी तो अनन्त काल तक कर-करके जवी कर्म से पीड़ित होता हुआ, इस विराट भव-चक्र में भटकता रहा, अब यह नहीं करना है ।' क्या समझे ?

**रंग विलास-यह कर्म की गुलामी है :**

यहाँ पर काया को सुख में रखना, यानि यहाँ पर भी कर्म की गुलामी करने का ही धंधा है; क्योंकि इसमें कर्म के द्वारा खड़े किये गये विषमय विषयों के अधीन हुआ जाता है । दुश्मन के प्रलोभन से ललचाये और उसके अधीन बनना, यह दुश्मन की गुलामी ही है । अर्थात् यहाँ पर भी गुलामी; और इससे खड़े होने वाले भारी कर्म बन्धनों से परभव में तो कर्म की महागुलामी । वहाँ पर कम जिस तरह पीड़ा दे, सताये, दुःख दे, उस तरह पीड़ित रहना ही पड़ता है !

सीताजी समझती हैं कि 'काया-इन्द्रियों व मन को सुख से रखने में तो यहाँ और बाद में भी कर्म की गुलामी ही है । यही समझकर यह गुलामी छोड़कर चरित्रमार्ग लिया है, तो यहाँ काया काया आदि को क्या सुख में रखना ? अब तो महामूल्यवान साधना का अवसर हाथ लगा है, तो काया को कसो, इन्द्रियों को दबाओ और मन को त्याग-तप-कष्ट व ध्यान में मस्त करो ।' इस तरह चारित्र (दीक्षा) लेने के बाद भारी कष्ट-भरा त्याग, तप व ध्यान का डंडा हाथ में लेकर काया-ममत्व को खोखला कर दिया होगा, भारी इन्द्रिय दमन और चित्तशमन किया होगा, तब इन्हें बारहवें देवलोक का इन्द्रत्व-अचप्रतेन्द्रत्व मिला ।

अच्युत इन्द्रत्व यह कोई सामान्य पुण्य नहीं है । 64 इन्द्र तो क्या, असंख्य इन्द्रों में प्रथम है अच्युत इन्द्र !' तो उनका आयुष्य 22 सागरोपम का यानि 220 कोडा कोडि पत्योपम वर्षों का होता है ।

इतने दीर्घ आयुष्य में यहां ढाई द्वीप में होने वाले असंख्य तीर्थकर देवों के जन्माभिषेक के समय पहला अभिषेक करने का हक अच्युत इन्द्र को ही होता है। वहां कोई बोली या चढ़ावा नहीं बोला जाता। असंख्य जिनेश्वर भगवतों का पहला अभिषेक करने को मिले, यह कितना बड़ा पुण्य? सीताजी को ऐसा पुण्य कैसे मिला होगा? काया-इन्द्रियों व मन को नाजुक रखकर? विषयों में मस्त बनाकर? या तन तोड़, मन-मोड़ कष्टमय साधना करके? सीताजी अत्यन्त सुकोमल थीं, फिर भी चारित्र्य लिया, तो उसे लेकर जाना। इन्द्रियों को इष्ट विषयों से मोड़कर, रागद्वेष को कुचलती रहीं। काया को उग्र संयम-विहार के कष्ट से कुचलकर मन को काया की कुचलन व अनिष्ट विषयों में मस्त रखकर उन्होंने उग्र चारित्र्य का पालन किया होगा, व मन को उत्कृष्ट जिनभक्ति में लगाया होगा उसी से ऐसा उच्च पुण्य पाया।

प्रसन्नचन्द्र राजपि भी यही तो कर रहे हैं। घोर तपस्या के साथ खुले मैदान में हाथ ऊँचे करके आतापना लेते हुए शुभ ध्यान में रहते हैं। उनकी साधना को गाड़ी तेज रफ्तार से मोक्ष की ओर दौड़ रही है।

### अशुभ व्यान की सर जोरी :-

कहिये, ऐसे महर्षि महातपस्वी चूकेंगे? नहीं। लेकिन यदि मन का ध्यान बिगड़ जाये, तो नीचे उतरते देर नहीं लगेगी। सबकुछ एक ओर धरा रह जायेगा और नारकी तक के मलीन पाप पकड़ा देगा। वहाँ ओवे की शरम नहीं आयेगी, की गयी साधनाओं से कोई रूकावट नहीं होगी। यह तो कायदा है कि 'जिस समय जैसे शुभ या अशुभ कर्म बँधते हैं।' अशुभ ध्यान में अशुभ भाव का रमण होता

है। यानि यदि वह उग्र अशुभ ध्यान हो, तो उग्र अशुभ भाव के कारण घोर पापों का सर्जन होता है।

**प्रसन्नचन्द्र राजर्षि चूकते हैं।**

राजगृही नगरी के द्वार पर जगद्गुरु महावीर प्रभु पधारे हैं, साथ में विशाल मुनि-परिवार है। देवता भी सेवा में हैं। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि भी साथ है। लेकिन वे वहाँ पर एक तरफ जाकर ध्यान में रहते हैं। दो हाथ ध मुँह ऊँचा रखकर उन्होंने अपनी दृष्टि सूरज के सामने लगायी है। मगधदेश का सम्राट, श्रेणिक महाराजा परिवार के साथ प्रभु को वन्दन करने व वाणी सुनने के लिये जा रहा है, और यहीं से होकर गुजरता है। इन महर्षि की धूप में आतापना की कठोर साधना देखकर चकित हुआ श्रेणिक नमस्कार करने लगा। प्रभु के पास पहुँचकर श्रेणिक ने वंदना कर प्रभु से पूछा,

‘भगवन् ! वे महर्षि’ जो श्मशान में ध्यान में खड़े हैं, सी बरस जीयें ! लेकिन यदि अभी ही उनका अवसान हो जाय, तो कौन-सी गति में जायेंगे ?’

भगवान उत्तर देते हैं कि यदि अभी ही मर जाय, तो सातवीं नरक में जाय।’

सुनकर श्रेणिक तो स्तब्ध हो गया कि ‘यह क्या’ ? इतनी उच्च, कठोर साधना और सातवीं नरक ? जहर मेरे सुनने में कोई फेर हुआ है।’

**जैनशासन निष्पक्ष :**

पर्वदा में रहे हुए अन्य श्रोता भी यह सुनकर तो स्तब्ध रह

गये होंगे न ? प्रभु क्या कह रहे हैं ? किसके बारे में कह रहे हैं ? राजपना छोड़कर अपने एक परम भक्त शिष्य बने हुए और महान साधना करने वाले तपस्वी के लिये सातवीं नरक बता रहे हैं ?

हाँ यही बताता है कि वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा और उनका शासन निष्पक्ष है । चाहे जो भी हो, उसका वस्तु स्वरूप जैसा हो वैसा ही कहते हैं । यह वही जिनशासन है कि जो अपने ही तीर्थंकर देव महावीर प्रभु के लिये भी कहता है कि, 'वे पूर्व में 18 वें भवमें त्रिपृष्ठ वासुदेव होकर, बहुत पाप करके सातवीं नरक में गये और बाद में संसार में खूब भटके ।'

**देखिये तब बौद्ध धर्म क्या बताता है ? :-**

गौतमबुद्ध अपने शिष्य को कहते हैं कि, 'आज से पूर्व इकानवें भव में मैंने एक पुरुष को भाले से मार डाला, इसीसे यहाँ मेरे पाँव में काँटा चुभा है । कहिये, गुनाह कितना बड़ा, और सजा कितनी छोटी ?' ऐसी हैं इतर-दर्शन की बातें । हिंदु दर्शन तो परमात्मा के अवतार में ही स्त्रीहरण करके हैं, परस्त्री पर मोहित होते हैं, लड़ाइयाँ करते हैं और यह सब उनकी लीला ही बताते हैं । यहाँ प्रभु को निष्पक्षपूर्ण वाणी अपने वफादार शिष्य प्रसन्नचंद्र राजर्षि की सातवीं नरक बता रही हैं ।

श्रेणिक राजा चौंक उठते हैं, ऐसे महात्मा को सातवीं नरक ? मेरे सुनने में कोई भूल तो नहीं हो गयी ?' क्षणभर के बाद फिर से पूछते हैं, 'भगवन् ! प्रसन्नचंद्र राजर्षि यदि अभी काल करें, तो कौन सी गति में जायें ?'

**अब भगवान् फरमाते हैं ! सर्वार्थसिद्ध विमान में ।'**



श्रेणिक की आँखें हृपं से चमक उठी ! इतने में तो आकाश में देवदुंदुभि बज उठी । सुनकर राजा ने प्रभु से पूछा,

‘भगवन् ! यह देवदुंदुभि कैसे बजी ?’

प्रभु फरमाते हैं, उन्हीं प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने केवल ज्ञान पाया है, उसकी यह दुंदुभि बजी है ।’

वहाँ राजा श्रेणिक के मन में अफसोस हुआ और वे प्रभु से पूछते हैं कि, ‘प्रभु ! यह क्या ? एक क्षण में ही इतनी भिन्न तीन अवस्थायें कैसे ?’

भगवान इसका स्पष्टीकरण करते हैं,

देखो श्रेणिक ! तुम्हारी सवारी आ रही थी, तब दो व्यक्ति राजर्षि को देखकर बात करने लगे थे कि, ‘देखा, इस ढोंगी को ? छोटे बालक को मंत्री को सौंप कर आ गया और अब मंत्री पड़्यंत्र रचकर राज हथियाने वाला है !’ बस, इतने शब्द सुनते ही राजर्षि ने मन ही मन मंत्री के साथ लड़ाई शुरू की । मारा-मारो और खून खराबा ! लड़ते-लड़ते आखिर सेना खत्म हो गयी, शस्त्र खत्म हो गये ! धीठ मंत्री सामने खड़ा दिखता है, इसलिये भयंकर आवेश में अन्त में उसके मुख पर मुकुट से प्रहार करने के रौद्र व क्रूर अध्यवसाय (भाव) में चढ़े ! बस, उस समय वे सातवीं नरक के पाप बाँध रहे थे और तुमने उसी समय उनकी गति के बारे में पूछा । बाद में उन्होंने मुकुट लेने के लिये जैसे ही सर पर हाथ रखा कि मुंडा हुआ मस्तक हाथ में आते ही चौंक उठे ! स्वात्म-भान हुआ और भारी पश्चाताप में चढ़े ।

**राजर्षि का पश्चाताप :-**

“अहो ! यह क्या ? मैं तो साधु हूँ । यहाँ किसका पुत्र ? इस

संसार में जीव ने प्रत्येक के साथ माता-पिता-पुत्र आदि संबन्ध जोड़े व तोड़े। कोन किसका है? तब फिर किसका राज्य और किसकी? मैंने तो वह सब बिसरा दिया था, 'एक कानो कौड़ी का भी परिग्रह नहीं।' ऐसा पञ्चक्खाण किया था. सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव की भी त्रिविधि त्रिविधि से हिंसा का त्याग किया था, यह मैं क्या क ने लगा? अरे! प्रभु ने तो मुझे संसार के दावानल में से बाहर खींच निकालने का महान उपकार किया और उसके बदले में मैंने यह कृतधनता का कैसा उल्टा धधा किया? धिक्कार है मेरी तृष्णा को. मेरी इन्द्रियों को, मेरी काया को! ...."

### राजर्षि की उत्क्रान्ति :-

इस प्रकार तीव्र हार्दिक पश्चात्ताप करते-करते मुनि अब महान धर्म-ध्यान में चढ़े! एक ओर तो वे पापों का जंगी नाश करने लगे और दूसरी तरफ ऊँचे-ऊँचे स्वर्ग के पुण्य का उपार्जन करते चले। जिस समय तुमने दूसरी बार पूछा, ठीक उसी समय महर्षि सबसे ऊँचे अनुत्तर देव लोक के मध्य में स्थित 'सर्वार्थसिद्ध' विमान का पुण्य बाँध रहे थे। परन्तु उनकी ध्यानधारा तो अभी भी ऊँची चढ़ रही थी। उसमें अपनी काया, मान, अहत्व आदि के समत्व छूट गये। वे अनासक्त योग में चढ़े, 'जीवन-मृत्यु सम'.... आदि समत्व भाव में पहुँच गये, शुद्ध आत्मा के ध्यान में लयलीन बन गये। वहाँ पर क्षपक-श्रणी शुरू करके शुक्ल ध्यान के दावानल में मोहनीय कर्म को समूल भस्मीभूत कर डाला। 'वीतरान बने और ज्ञानावरण-दशनावरण-अन्तराय कर्मों' का सर्वथा विध्वंस करके केवल ज्ञान पाया। सर्वज्ञ बने!

### ध्यान का प्रताप देखिये :-

बड़े महर्षि, तपस्वी व भारी संयमकष्ट उठाने वाले मुनि भी

अशुभ ध्यान में चढ़ने के बराबर अशुभ कर्मों का समूह बाँधने लगें और पराकाष्ठा पर पहुँच कर सातवीं नरक के पाप एकत्रित करने वाले बने ! जिन्हें इतना उच्च साधना का पीठ बल है, उन्हें भी अशुभ ध्यान में चढ़ने पर तीव्र अशुभ कर्मों का ढेर प्राप्त होता है । तुम्हारे पास तो ऐसा पीठ बल भी नहीं है और रात दिन अशुभ भाव व अशुभ ध्यान में ही रमण करते रहो, तो आत्मा में कितने पाप के पुँज इकट्ठे होंगे ? तो ऐसा मत कहना कि,

प्र०-तो फिर कठोर साधना भी करो या न करो, सब समान ही है न ? ध्यान पर ही तो हारना है और ध्यान पर ही तो जीतना है न ?

उ०-नहीं, ऐसी बात नहीं है । साधना के बल पर एक ऐसी भूमिका व एक ऐसा संस्करण खड़ा होता है कि जिसके बल पर, बीच में कदाचित् भूल भी हो गयी हो, तो बाद में भूलको सुधारकर ऊपर चढ़ना सरल हो जाता है । इसलिए तो राजर्षि भूलने के बाद जोरदार ध्यान में चढ़ गये । यदि उन्होंने साधना न की होती, संसार में ही बैठे रहे होते, तो लड़ाई होने पर शायद मरकर नरक में चले जाते । लेकिन यहाँ तो तीव्र साधना है, साधु वेश है, मस्तक मुंडा हुआ है । इसीने तो तुरन्त ही पाप की गहरी खाई में से उठ गए व धर्म के शिखर पर चढ़ गए !

**संसार में बचाव कैसे मिले ?**

**धर्म दो प्रकार का है**

(1) बाहर से हो, वह बाह्य धर्मः क्रियास्वरूप है, आन्तर धर्म भावस्वरूप है । और (2) अन्दर में हो, वह आभ्यन्तर धर्म ! बाह्यधर्म आभ्यन्तर धर्म को जगाता है, व पोषण करता है, एवं बढ़ाता है ?

शुभ ध्यान. शुभ भाव यह आभ्यन्तर धर्म है। अब यह सोचो, आभ्यन्तर धर्म, यह सुलभ कहाँ है ?

बाह्य पाप प्रवृत्ति में ? या धर्म प्रवृत्तिधर्म साधना में ?

धंधे में कमाकर पैसे, क्या घर में लाकर रखने से शुभ भाव जगेंगे ? या दान देने से शुभ भाव जगेंगे ?

क्या मेवा-मिठाई खाते हुए अच्छे भाव होंगे ? या 'आयंबिल' तप रुक्षव्रत करते हुए ?

क्या व्यापार की बातों में अच्छे भाव उछलेंगे ? या धर्म की बातों में ? स्त्रियों या कुटुंबीजनों को देखने पर शुभ भाव खिलेंगे ? या वीतराग परमात्मा व त्यागी मुनियों के दर्शन होने पर ?

यह सीधा-सा हिसाब दिखाता है कि सांसारिक प्रवृत्तियों में नहीं, लेकिन दान आदि धर्मप्रवृत्तियों में शुभ भाव जागते हैं, शुभ ध्यान सुलभ बनता है। इसलिये ऐसा मत कहना कि " बाह्य धर्म का क्या काम है ? अन्तर में शुभ भाव आये शुभ ध्यान आये, यही जरूरी है।" ऐसा मत मानना, ऐसा मत बोलना। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने बाह्य कडक धर्म का बहुत अभ्यास किया था, इसीसे अशुभ मे से शुभ ध्यान खड़ा हो गया, और वह भी उत्कृष्ट कोटि का। तो पूछिये,

प्र०- बाह्य धर्म जोरदार था, तो फिर अशुभ ध्यान आया हो कैसे ?

उ०- इसके समाधान में एक महत्वपूर्ण मुद्दा मिलता है। वह यह है कि,

बुरे निमित्त से दूर रहना या उसे लक्ष्य में न लेना। हृदय के भाव न बिगड़े, उसकी ४ विचारणा :-

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने स्वयं से संबन्धित, श्रेणिक राजा के सेवकों की बात लक्ष्य में ली, इस वुरे निमित्त का सेवन किया और उसीसे अपना ध्यान बिगाड़ा। जीवन में देखिये,

बाह्य वस्तु का नुकसान हृदय के भाव को नहीं बिगाड़ता, परन्तु, यह नुकसान लक्ष्य पर लिया जाय, तभी वह हृदय के भाव बिगाड़ता है।

यदि लक्ष्य पर न ले, तो कुछ नहीं बिगड़ेगा। वहाँ ऐसा विचार करे कि,

(1) 'वस्तु कहाँ मुझे मिली थी ? वह तो मेरे पुण्य को मिली थी। अब यदि पुण्य भागे, तो वस्तु सहज में ही भागेगी। उसमें मुझे क्यों सोचने की जरूरत है ? वह वस्तु मेरी तो थी ही नहीं, मेरी होती तो मुझे छोड़कर नहीं जाती। यदि मेरी नहीं है, तो फिर वह जाय उसमें मुझे क्या ? (2) 'मैं कहाँ ऐसा महान्गुणवान्, महान् परोपकारी, महान् सुकृत करने वाला तथा कहाँ ऐसे उत्कृष्ट पुण्य से भरा हूँ कि मैं केवल लाभ का ही अधिकार रखूँ ? मुझे नुकसान भी आये (3) इस प्रकार, कर्म ने बाह्य में तो नुकसान किया, लेकिन अब मैं हृदय बिगाड़ूँ तो मेरे ही हाथों अन्दर में नया नुकसान खड़ा करने की मूर्खता होती है। ऐसी मूर्खता मैं क्यों करूँ ? (4) 'तब वास्तव में तो मेरा और बाहर की वस्तु का क्या लेना-देना ? मैं अविनाशी अनन्तानन्त काल का जीव हूँ और वस्तु तो नाशवंत, और बहुत अल्पजीवी है। मैं ज्ञानादि गुणों वाला हूँ और वस्तु जड़ है, व आत्मा को भी वैसा बनाने वाली है। उसे क्यों ऐसा महत्त्व देना कि जिससे मुझ में जड़ता खड़ी हो ?

'ऐसा विचार किया जाय, तो वस्तु के नुकसान पर लक्ष्य नहीं दिया जायेगा। उससे हृदय के भाव नहीं बिगड़ेंगे। प्रसन्नचन्द्र

राजर्षि ने बुरे निमित्त पर लक्ष्य दिया, इसी से अशुभ ध्यान में चले गए। फिर भी पास में धर्मसाधना थी, तो उसने वापस शुभ भाव में चढ़ा दिया।

सारांश यह निकलता है कि अच्छी प्रवृत्ति में रहा करो, जिससे मन में ध्यान तथा भाव शुभ चला करे और इससे कर्म बन्ध शुभ रहा करे। जीवन में प्रति समय कर्म तो बंधते ही हैं, शुभ में शुभ और अशुभ में अशुभ। अतः जीवन का ध्यान के साथ धनिष्ठ सम्बन्ध है, इसी तरह जीवन की प्रवृत्तियों के साथ भी ध्यान का बहुत सम्बन्ध है। यहां एक प्रश्न होता है।

प्र० संसारी जीव की संसार में रहने पर बड़े पैमाने पर प्रवृत्तियों तो संसार की ही चलती रहती है। चूल्हा-चौकी, रोजगार धंधा, खान-पान, स्वजन स्नेही की सार संभाल, आदि-आदि ही चला करते हैं। तो फिर क्या बहुधा अशुभ ध्यान और अशुभ कर्म-बन्धन में ही दबा रहना?

उ० है तो करीब-करीब ऐसा ही, वह भी इतने तक कि उसमें ही बहुत रचे बसे रहने से मन पर ऐसा कब्जा जम जाता है कि फिर थोड़ी धर्मप्रवृत्ति में जीव लगा न लगा, कि वहाँ मन तुरन्त सांसारिक एक या दूसरी गुत्थी में उलझ जाता है; मन में वे ही विचार आया करते हैं। इससे धर्मप्रवृत्ति में भी अशुभ विचार से अशुभ भाव और अशुभ ध्यान हृदय में रमा करता है। इससे सोने की लंका में जाने के बाद भी सोने के व्यापार के बदले मिट्टी का व्यापार करने जैसा ही होता है।

आपको अनुभव ही होगा कि तप में खाने के विचार आते हैं, लेकिन खाने में तप के विचार नहीं आते न? देवदर्शन-पूजा-सामायिक



नवकारवाली में दुनिया के कामों के व सांसारिक बातों के विचार आते हैं, लेकिन दुनिया की प्रवृत्ति के समय धर्मप्रवृत्ति के विचार नहीं आते न ? देव-गुरु के पास बैठे, उसमें कुटुंब-धन-धंधे के विचार सरल हैं, लेकिन कुटुंब-धन-धंधे के पास बैठे हुए देव-गुरु के विचार नहीं आते हैं । तो फिर बेचारा जीव तो दोनों तरफ से मरता है न ? तब पूछिये,

प्र०-तो फिर बचाव किस प्रकार रहे ?

(1) पहले नंबर के बचाव चारित्र से ही है :—

उ०-इस बचाव के लिये ही ज्ञानियों ने सर्वप्रथम चारित्र जीवन कहा है, कि जिसमें पाप विचारों की पोषक सांसारिक बातें ही नहीं, कुटुंब नहीं, धन्ना-रोजगार नहीं, धन-माल नहीं । जीव इनके पीछे ही पाप करता है, अशुभ ध्यान में सड़ता है और अशुभ कर्मों के पोटले बाँधता है । इसलिये इनके सर्वथा त्याग के साथ संयम तप-स्वाध्यायमय चारित्र जीवन पहले नंबर में बचाव दे सकता है ।

(2) दूसरे नंबर में बचाव इस तरह मिलता है कि जो भी प्रवृत्ति हो वह अपनी आत्मा को लक्ष में रखकर होनी चाहिये ।

**धंधे में आत्मा का लक्ष्य किस प्रकार ?**

संसार की प्रवृत्ति भी आत्मा को लक्ष्य में रखकर की जा सकती है । उदाहरण के लिये :—आप नौकरी धधा करते हैं, तो मन में यही उद्देश्य रहता है कि 'क्या करूँ ?' इस मोह के पक्ष में बैठा हूँ, इसीलिये इसे उल्टी चाल से चल रहा हूँ, मेरी आत्मा का हित व आत्मा का पूर्व का पुण्य धन भी लुटा जा रहा है और आत्मा को पाप सस्कारों व कुकर्मों की भी खरीदी होती है । परन्तु यह संसार

लेकर बैठा हूँ, तब तक पैसे के बिना भी नहीं चलता । इसलिये जीवनोपयोगी आमदनी पाने के लिये यह धंधा कर लूँ जिससे बाद में चित्त को असमाधि न रहे और देव-दर्शन पूजा आदि धर्म साधना समाधिपूर्वक हो सके ।'

धंधे के समय मन का लक्ष्य इस वस्तु पर रखा जाय, समाधि से देवपूजादि सत्कार्य करने पर रखा जाय, यह आत्मा को लक्ष्य में रखकर धंधा का कार्य किया गया, ऐसा कहलाता है ।

### किसी को मिलने जुलने में आत्मा का उद्देश्य :

कोई मिलने आया या हम मिलने गये । सामने वाले ने ऐसी संसार की बातें निकाली, वहाँ पर आंतरिक लक्ष्य यही रखना चाहिये कि हृदय से हम उसमें रस न रखें, फिर भी बातें करनी ही पड़ती हैं; तो उसे धर्म का रंग दें अर्थात् उसमें अच्छी तरह से कर्म के प्रभाव को बातें लाई जाए, देव गुरु की कृपा क्या चमत्कार सरजती है, या आत्मा को दोषों से किस तरह बचाया जाय, आदि आदि बात ला दें । यदि बात करनी ही पड़ती है, तो बहुत अल्प बात यह लक्ष्य में रखकर की जाय कि 'एक धर्मी के रूप में लोग मुझे बुद्धू, व्यवहार मूर्ख या अभिमानी अकडू न समझे, इसीलिये ये बातें करनी पड़ती है । लेकिन इसमें मुझे रस नहीं है ।' तो यह प्रवृत्ति भी आत्मा को लक्ष्य में रखकर हुई । अलबत्ता ऐसे फिजूल मिलने-जुलने या बातें करने से बचा जा सके, उतना तो बचना ही है और बन पड़े उतना टालने का प्रयत्न हो करना है । तभी आत्मा का लक्ष्य रखा जा सकता है ।

### खान-पान में बचाव:-

खान-पान में जीव राग-द्वेष से लिप्त होता हो रहता है ।

वहाँ बचने के लिये ध्यान रखा जाय कि 'भले जीव ! देखना, इसमें, बहुत खुश या नाराज होने जैसा कुछ नहीं है । क्योंकि चाहे-जितने अच्छे खान पान हो, तो भी वास्तव में तो एकेन्द्रिय जीव के कलेवर है । उन पर खुशो कैसी ? मुर्दे पर उत्सव तो गोध, गोदड़ मनाते हैं । मैं तो मानव हूँ, मुझे इस तरह हर्ष मनाना शोभा नहीं देता । किसी खाने की चोज को बनाने में कुछ कम ज्यादा हो जाय, तो उसमें नाराज क्यों होना ? खाने को चाहे जैसी अच्छी या बुरी चोज हो, अन्त में तो वह मिट्टी ही बनती है । कहा जाता है न कि 'उतयुं घांटी थयुं माटी' अर्थात् खाने का कितना भी अच्छा पदार्थ ज्यों गले से नीचे उतरा कि मिट्टी रूप हो जाता है । 'ये तो सब पुद्गल के खेल हैं । गाय भैंस ने घास खायी वह घास उसके मुँह की लार, व शरीर के पित्त आदि के साथ मिली । उसमें से ही अलग (छूटे) पड़े हुए थोड़े पुद्गल 'दूध' के रूप में बाहर आये । वे अच्छे हैं ? उसके पड़े, बर्फी, दूधपाक बहुत अच्छे हैं ? गटर के पानी को फिल्टर करके सुवासित बनाकर दे दिया जाय, तो क्या 'उसे बहुत अच्छा' समझेंगे ?

### पुद्गल के खेल पर दृष्टान्त:-

जितशत्रु नामक राजा ने एक बार एक दावत दी । भोजन करते-करते राजा व्यजनों की प्रशंसा करता है, और उसके अमलदार, सढे आदि सब हाँ में हाँ मिलाते हैं । मात्र, भट्टामत्रो सुबुद्धि मीन है, राजा पूछता है :- 'आप कुछ क्यों नहीं बोलते ?'

कल्याणमित्र कौन ?

मंत्री ने देखा कि "राजा मूढ बना है, और मुझे पूछता है, तो यह अवसर अच्छा है । जरा इसकी आँखें खोलूँ ; जिससे तुच्छ अन्न के पाँछे रही मूढता मिटे ?" । स्वजन-स्नेही मित्र, मंत्री आदि तो कल्याण मित्र होने चाहिये ।

कल्याणमित्र वह है, कि जो अवसर पाकर सामने वाले को मूढ़ता, मिथ्यामति, अपकृत्य आदि से बचाने का प्रयत्न करे। बाकी तो हितशत्रु हैं।

“यहाँ पर इकट्ठे हुए सब तो मूढ़ता में हाँजी हाँ कर रहे हैं, लेकिन मुझे यह मूढ़ता बले, ऐसा जवाब देना चाहिये।” यह सोच कर मंत्री ने कहा ‘महाराज ! इसमें भला क्या बोलना ? ये तो सब पुद्गल के खेल हैं।’

राजा पूछता है, ‘ये पुद्गल के खेल कैसे ? मंत्री कहता है- ‘यह अवसर आने पर बताऊँगा।’

भोजन होने के बाद राजा अमलदारों के साथ राजवाटिका की ओर चला। नगर के बाहर निकलते हुए, पास में ही लोगों के मलमूत्र आदि का नाला बह रहा था। उकी बदबू नाक में आने पर राजा और अमलदारों ने मुँह बिगाड़कर नाक को कपड़े से ढँक दिया। लेकिन सिर्फ मंत्री ने न मुँह बिगाड़ा, न नाक के आगे रुमाल रखा। आगे जाकर राजा उससे पूछता है,

‘क्यों ? तुम्हें बदबू नहीं लगी ? तुमने नाक नहीं ढका ?’

मंत्री ने यहाँ भी अवसर देखकर कहा-‘महाराज ! इसमें भला क्या नाक ढँकना ? यह तो सब पुद्गल का खेल है’

‘यह भी पुद्गल का खेल ? बताइए खेल क्या ?’ मंत्री जवाब देता है-‘यह अवसर आने पर बताऊँगा।’

वस, मंत्री ने एक दिन अवसर देखकर राजा को भोजन का निमंत्रण दिया। भोजन करते वक्त बीच में पानी पीते हुए राजा कहता है-

मन्त्रीजी ! इतना अच्छा, सुवासित पानी कौन से दिव्य कुँए का है ? कितना बढ़िया पानी ! तुम कितने कंजूस हो कि कभी मुझे ऐसा अच्छा पानी भी नहीं पिलाया ?'

मन्त्री कहता है, 'महाराज ! इस पानी की क्या प्रशंसा करना ? यह भी पुद्गल का खेल है ।'

'अरे ? फिर तुम्हारा 'पुद्गल का खेल' आया ? अब तो स्पष्ट कहना पड़ेगा कि कैसे पुद्गल के खेल ?'

'रहने दीजिये महाराज ! इसमें कुछ बोलने जैसी बात नहीं है ।'

राजा कहता है, 'नहीं, आज तो तुम्हें बताना ही होगा, नहीं तो लो यह भोजन करना बन्द करता हूँ ।'

मन्त्री कहने लगा, तो महाराज । पहले मुझे चाहे जैसी भी मेरे स्पष्टीकरण पर आप मुझे मार न दे वास्ते मुझे 'अभयदान दिया' लिख कर दीजिये तो फिर मैं बात स्पष्ट करूँ ।'

राजा को जानना तो था ही, इसीलिये अभयदान लिख दिया ! फिर मन्त्री ने कहा:-

'माफ करना महाराज ! यह पानी उसी गटर का है ।'

'अरे ! ऐसा हो सकता है ? भूठ क्यों बोल रहे हो ? वह पानी तो कैसा गंदा, काला और भयंकर बदबू मा रहा था ? वह कहाँ ? और यह कहाँ ? सच कहो ।'

मंत्री कहता है, 'जरा अन्दर पधारिये । मैं आपको बताता हूँ।' ऐसा कहकर राजा को अलग-अलग तीन कमरों में जाकर बताता है । तीनों में पानी के 3-3 मटके एक के ऊपर एक रखे हुए थे । पहले कमरे में सबसे ऊपरी में खाल का गंदा पानी था, और उस मटके के नीचे के छोटे-से छेद में से पानी उसके नीचे के मटके में टपक रहा था ; लेकिन यह मटका बारीक कोयलों की सूकी से भरा था ऊपर से गिरते हुए गंदे पानी का कचरा वह चूस लेता और कुछ शुद्ध हुआ पानी नीचे के छिद्र में से उसके नीचे वाले कोयले से भरे मटके में टपक रहा था । उसमें से भी फिल्टर हो नीचे टपकता हुआ पानी एक बर्तन में इकट्ठा होता था । यह पानी दूसरे कमरे में लेजाकर इसी तरह बारीक कोयले से भरे तीन मटकों द्वारा शुद्ध किया जाता था । वह तो एकदम स्वच्छ जैसा ही हो जाता था फिर भी उसे तीसरे कमरे में ले जाकर और कोयलों से शुद्ध किया जाता था ; और वहाँ पर आजु-बाजु-गुलाब-मोगरा-जाई-जूही केवड़ा आदि सुगन्धित पदार्थ रखे थे, जिन्हें अन्तिम बर्तन में रखा गया था । उससे बूंद-बूंद करके एकत्र हुआ स्वच्छ जल सुवासित भी होता था ।

मंत्री कहता है, देखिये साहब ! माफ कीजिए यही पानी आपके आगे पीने के लिये सोने की गिलास में रखा गया था, लेकिन उसे ही आप किसी दिव्य कूँए का पानी कह रहे थे ।'

राजा चौंक उठता है कहता है, 'अरे ! मुझे गटर का पानी पिलाया ?'

मंत्री कहता है, इसमें उद्वेग मत कीजिए यह दिखने का जहर है । वाकी, हम नदी-कूँए का पानी पीते हैं, वह भी क्या है ? लोगों के मल-मूत्र कं पुद्गल कहाँ जाते हैं ? बारिश के



द्वारा इन्हीं नदी-कँए-तालाबों में खींचे जाते हैं और उसे हम अच्छा जल मानते हैं। लोग जो लड्डु, पेड़ा आदि पकवान भी खाते हैं, उसकी मिट्टी (विष्ठा) बनती है। उस पर हमें घृणा होती है। लेकिन वही विष्ठा के पुद्गल खाद के रूप में खेतों में जाता है। बाद में उन खेतों में बीज आदि दूसरे पुद्गलों में से गेहूं आदि उगते हैं। उसे हम अच्छा माल मानकर, उससे बनने वाली मिठाई व्यंजन आदि बड़ी खुशी के साथ खाते हैं। यह सब किस का सूचन करता है ? यही कि 'पानी का पेशाब, पेशाब का पानी, मिष्टान्न की विष्ठा, विष्ठा का मिष्टान्न, हीरा-माणिक में से धूल, धूल में से हीरा-माणिक इस तरह सारे जगत में जड़ पुद्गल के परिवर्तन होते रहते हैं।

जिनशत्रु राजा यह सुनकर चौंक उठा ! पूछता है मंत्रीवर इतना बढिया तत्त्वज्ञान आप कहाँ से सीख आए ?

यह सब पुद्गल का खेल है। वह खेल सारे जगत में अच्छे या बुरे दिखावे प्रकट करता रहता है, तो उसमें एक तरफ आकर्षण और दूसरी तरफ अब खेद रखने में कैसा विवेक है ? कौनसी बुद्धिमत्ता है ? उसे तो पुद्गल के नाटक समझकर उस पर के राग-द्वेष से हमें दूर रहना चाहिये।

राजा को आँखें खुल गयी। बाद में तो मंत्री के पास से जैन धर्म के तत्त्वों का सुन्दर ज्ञान पाया और तत्त्वरसिक बन गया व जीवन में त्याग, तपस्या आदि की साधना एवं उन तत्त्वों का प्रकाश देनेवाले वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवन् की त्रिकाल भक्ति में लग गया।

### खान पान में आत्मा का उद्देश्य:-

अपनी बात यह थी कि खान-पान के वक्त किस तरह वचना ? उस समय आत्मा का उद्देश्य किस प्रकार रखना ? तो इसके लिये यह लक्ष्य में रखना कि ?

(1) खान-पान के पदार्थ. यह भी पुद्गल का खेल ही है। इसमें किस लिये राग-द्वेष कहूँ ?

(2) भोजन-पानी की चीजें ये एकेन्द्रिय जीवों के कलेवर हैं। तो मुर्दे पर जलसा क्या मनाना ?

(3) खाये-पीये बिना चलता नहीं है. तो सिर्फ काया को भाड़ा देने के रूप में भोजन दे देना, जिससे भूख-प्यास में लगा हुआ मन धर्म प्रवृत्ति व अच्छे धार्मिक विचार करने में सुस्त न बने और मन आहार के विचारों में व आत्तध्यान में न फँसे।

(4) और काया को दूँ, यह भी इसीलिये कि आगे तप कहूँ, धर्मसाधना कहूँ।

यह जागृति हो तो खान-पान की प्रवृत्ति भी आत्मा के उद्देश्य से हुई गिनी जाय।

इसी तरह कुटुंबीजनों के साथ प्रेम से बातचीत करने आदि में भी यदि यह लक्ष्य रहे कि. 'यह सब इसलिए करूँ कि इससे ये सब मुझ पर सद्भाव बनाये रखें तो अक्सर-अवसर पर इन्हें आत्महित की, धर्म की और सद्गुणों की प्रेरणा कर सकूँ, और उसे ये खुशी से स्वीकार करे; इस तरह इससे मुझे इनका कल्याण-मित्र बनने का लाभ मिले, यह उद्देश्य जीवन्त रखकर बात-व्यवहार हो, वह भी आत्मा को लक्ष्य में रखकर किया हुआ कहलाता है; लेकिन वहाँ अपने दिल में मोह या राग का पोषण न हो. यह सावधानी रखनी ही पड़ती है।

वैसे. सांसारिक प्रवृत्ति में उद्देश्य जीता-जागता रखा जाय यानि सहज मे वे प्रवृत्तियाँ सिर्फ जहरी हो उतनी ही हो और वे भी आत्मविचार से भगमगाती हो, तो फिर धर्म-प्रवृत्ति में जुड़े, वहाँ

दुनिया के विचार ज्यादा नहीं सतायेंगे। यानि ऐसी मिलावट रहित धर्मभावना से शुभ भाव सुलभ बनेंगे, शुभ ध्यान अच्छा लगेगा। सांसारिक प्रवृत्तियों में यदि शुभ भाव का अभ्यास रखा, तो धर्म-प्रवृत्ति में वे लोग सदा उल्लासवान होकर विकसित होते रहेंगे, इसमें पूछना ही क्या ?

ऐसा जीवन जीया जाय, इसमें शुभ भाव और शुभ ध्यान कितना जुड़ा हुआ होता है। यदि यह नहीं तो याद रखिये अशुभ ध्यान व अशुभ भाव की धारा ही चलती रहनेवाली है। फिर तो आप जानते ही हैं न, कि तिर्यचगति के योग्य कितने ही अशुभ कर्मों के ढेर के ढेर बँधते ही जायेंगे।

ध्यान का जीवन के साथ बहुत संबन्ध है, और ध्यान में भाव तो साथ में ही लगा हुआ होता है, तब कर्मबन्ध का आधार शुभाशुभ भाव पर ही है। यानि यदि अशुभ कर्मों के पोटले ही बँधेंगे न ?

**दिल के भाव के अनुसार कर्म बँधने में उधार नहीं रहती:-**

जिस समय हृदय में जो शुभ या अशुभ भाव हो, उसी समय वैसे शुभ या अशुभ कर्म आत्मा पर चिपक ही जाते हैं। कपड़े पर तेल की चिकनाई हो वहीं तक रज चिपकने की उधारी नहीं है, प्रति समय वातावरण में से रज चिपकते ही रहने वाली है। दिल के भाव, यह है आत्मा पर की चिकनाहट। वह तुरन्त ही कर्मों को चिपकाती है। ध्यान में भाव सतेज बनता है। इसलिये कर्म भी सतेज यानि जोरदार चिपकाता है।

## कर्म को कैसी शर्म :-

भाव का यह बिना उधार, कर्मसर्जन करने का स्वभाव बहुत ध्यान में रखने जैसा है। वहाँ न है विलंब और न है बाहर के संयोगों की शर्म। एक बार तो साधु का ओघा और श्रावक का तिलक भी एक तरफ रह जाता है, दुनिया में गाया जाने वाला यश भी एक तरफ रह जाता है, और जीव अशुभ भाव वाले अशुभ ध्यान में रमण करता हुआ भयानक कर्म का उपार्जन करने लगता है। देखा न कि प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के तप—संयम—कष्टसहन आदि की भी कर्म को शर्म नहीं आयी और उग्र अशुभ ध्यान में सातवीं नरक तक के पापकर्म खड़े हो गये।

## आज का जीवन:-

तब विचार करने जैसा है कि संसार की जड़ माया का जीवन जीते हुए तो भूठ, अनीति, अहंत्व, ईर्ष्या, भोगविलास आदि चलता रहता हो, वहाँ शुभ ध्यान और शुभ भाव को जगह ही कहाँ मिलने वाली है ? उसमें भी आजकी फिजूल प्रवृत्तियाँ, आडंबर पूर्ण दिखावे और दुनिया की आंधी में दिमाग का डोलना.. ये सब मिलकर दिल में न जाने कितने ढेर सारे व जोरदार अशुभ भाव भरे अशुभ ध्यान के सतत प्रवाह दिल में चलाया करते हैं ?

मानव भूला कहाँ पड़ता है ? मालमिलकत आदि माया जहाँ उसके अनुकूल मिल जाती है, वहीं। यह मिलना भी पुण्य से ही होता है। चाहे एक अखवार खरीदने की भी अनुकूलता नहीं है, लेकिन यदि किसीके पास से वह पढ़ लेने की अनुकूलता मिली, तो वह भी पुण्य से ही। किन्तु वह पढ़ते हुए क्या होता है ? और पढ़ने

के बाद उसका स्मरण होता रहा वहाँ जीव को क्या होता है? शुभ पवित्र भाव ? नहीं नहीं ऐसे साहित्य पढ़ने से तो भारी कोटि का राग, द्वेष, लोभ....आदि ! इन अशुभ भावों के साथ मनकी तन्मयता यानि अशुभ ध्यान ही करता है न कि शुभ ? ध्यान क्या देता है ? अशुभ कर्मों का ढेर ! यह तो अखबार पढ़ने की अनुकूलता मिली इसका एक उदाहरण है । ऐसी दूसरी अनुकूलतायें मिलती हैं, यानि उसमें भी यदि अशुभ भाव वाले अशुभ ध्यान के खेल चलते रहते हैं, इन भरपूर अशुभ कर्मों को कमाई !

### जीव मानो गंदगी का ठेकेदार:-

जीवन ने मानो ठेकेदारी ली हो, इस तरह वह अशुभ कर्मों रूपी गंदगी का ढेर इकट्ठा करता हा रहता है । अशुभ कर्म गंदगी का ढेर कैसे ?

(1) गंदगी के ढेर में कुछ भी अच्छा नहीं, इसी तरह इस पापकर्म के सचय में कुछ भी अच्छा नहीं है ।

(2) गंदगी का ढेर जमीन को बिगाड़ता है, हवामान को बिगाड़ता है, आरोग्य बिगाड़ता है, आदि, आदि ! इसी तरह ये अनेक प्रकार के एकत्रित किये हुए अशुभ कर्म उदय में आकर शाता-यश-सौभाग्य आदि बहुत कुछ बिगाड़ देते हैं । इसीलिये अशुभ कर्म का समूह यह गंदगी का ढेर है । जीव ने उसकी आमदनी सतत जोरदार चालू रखी, मानो उसकी ठेकेदारी ली हो ।

गंदगी के ढेर के ठेकेदार को गंदगी का व्यय कम और आय ज्यादा । मानव भव में आत्मा ने कौन सा धंधा बना रखा है ? आत्मा है एक बड़ा व्यापारी, लेकिन व्यापार गंदगी के ढेर की

ठेकेदारी का । उत्तम आर्यदेश, आर्यकुल में जन्म मिला, आत्मा की बातें भी मिली, लेकिन उसे आत्मा का कोई विचार नहीं है । यानि आत्महित के उद्देश्य से अनुकूलता-प्रतिकूलता भांगनी नहीं आती । जिससे सतत अशुभ रागद्वेष क्रोधादि कषायों में और दुर्धर्मान में डूबा रहता है । इसीलिये तो ढेर में सारे पापकर्मों की खरीदी होती है । पुण्य बेच बेचकर पाप खरीदते जाने की ही मूढ़ता ! पुण्य तो मामूली उदय में है, लेकिन पाप की अढलकढेर बंध आमदनी चालू ही रहती है । इसका नाम है-पापानुबंधी पुण्य का भोग ।

यहाँ पर प्रतिकूलता आये, असुविधा-आपत्ति दुःख आये, तो भी वे सब नारक व तिर्यंच के दुःखों के आगे कौनसी विसात में ? इन दुःखों के आगे हमारे दुःख-असुविधा-आपत्ति अनंतवें-असंख्यातवें भाग जितनी भी नहीं होगी । तो फिर ये दुःख लाने वाले पाप-कर्मों की अपेक्षा से कैसे मामूली ? अब विचार जाता है, लेकिन ऊपर अशुभ भाव रूपी गुनाह करने में इकट्ठे होने वाले तो ज्ञानावरणी यदि सातों कर्म हैं ।

सारांश, देवलोक की अपेक्षा यहाँ मिलने वाले सुख मामूली ! अथवा नरक की अपेक्षा यहाँ मिलने वाले दुःख मामूली ! वे भोगने में ही नहीं आते । इससे पाप कर्मों का व्यय कम और ज्यादा ही होगी तो फिर गंदगी के ढेर के ठेकेदार ही हैं न ?

संसार को पहचानते नहीं हैं, इसीलिये सुख-दुःख दोनों में चित्त विगड़ता है, भाव विगड़ता है ।

नजर के सामने संसार का चित्र खड़ा रहे, तो अशुभ भाव लाने से पहले लाख विचार होंगे । दिल में यदि अशुभ भाव आ भी गया हो तो उसे ज्यादा टिकने न देकर शुभ भाव से निष्फल किया जा सकता है । संसार का चित्र बड़ा ही बेहूदा है । देखिये,



प्रकरण 8-संसार क्या है ?

संसार यानि संसरण, अच्छी तरह से सरकना, इसी का नाम है-संसार !

संसार में कहाँ-कहाँ सरकना होता है ?

- (1) एक भव में से दूसरे भव में ।
- (2) एक कर्म के उदय से दूसरे कर्म के उदय पर ।
- (3) एक पुद्गल-द्रव्य से दूसरे पुद्गल-द्रव्य पर ।
- (4) एक प्रवृत्ति से दूसरी प्रवृत्ति पर ।
- (5) सुख में से दुःख पर, और दुःख में से सुख पर ।
- (6) एक भाव में से दूसरे भाव पर ।

अब इनमें से प्रत्येक पर अपनी कंगाल स्थिति देखें, तो उस पर घृणा होगी; और ऐसे कंगाल बनाने वाले संसार की खातिर मन के भाव और मन का ध्यान बिगाड़ने से रुक जायेंगे ।

**(1) एक भव में पू दूसरे भव में :-**

‘संसार’ यानि संसरण, अर्थात् अच्छी तरह से बारंबार सरकना या भावों में भटकना । चार गतियों में से एक भी गति ऐसी नहीं है, जिसके भव में जीव शाश्वत स्थान पा सके । ‘उपदेश-माला’ शास्त्र में कहा गया है कि लव सत्तमिया देव यानि अनुत्तर विमानवासी देव, जिनका आयुष्य 33 सागरोपम यानि 330 कोडाकोडी पत्योपम का होता है, और उन्हें भी वहाँ से चलना पड़ता है, तो संसार में दूसरा कौन सा स्थान शाश्वत हो सकता है ?

330 कोडाकोडी पत्योपम वर्ष यानि असंख्य वर्ष । ‘पत्य’ की उपमा वाले यानि कि प्याले की उपमावाले । अर्थात् एक योजन (चार कोस गाऊ) लंबे चौड़े कुँए में युगलिक के बाल (जो कि

अत्यन्त पतले होते हैं) के असंख्य टुकड़े करके, वे टुकड़े ठूस-ठूस कर भर दिये गये हो इसमें भी देखियेगा बाल कितने समा सकते हैं? प्रत्येक बाल के भी असंख्य टुकड़े हैं। यह असंख्य की गिनती करोड़, अरब, खरब से भी नहीं की जा सकती। परार्ध के परार्ध द्वीप-समुद्र जिनमें पहला 1 लाख योजन का, दूसरा 2 लाख का, तीसरा 4 लाख का, चौथा 8 लाख योजन का, पांचवां 16 योजन का, इस तरह एक के बाद एक द्वीपसमुद्र क्रमशः दुगुने होते जाते हैं। इस तरह परार्ध का अन्तिम द्वीप या समुद्र कितने लाख करोड़ अरब परार्ध योजन का होता है? बाद में भी आगे-आगे दुगुना, ऐसा क्रम चलता ही रहता है। ऐसे परार्ध के परार्ध द्वीप-समुद्रों को 1000 से योजन की गहराई तक सरसों के दानों से भरा जाय तो सरसों के दानों की कुल संख्या जितनी हो, वह भी 'असंख्य' की संख्या नहीं कहीं जाती। उससे भी कई गुना आगे जाना पड़ता है, तब कहीं असंख्य का अंक होता है। इसकी भी व्यवस्थित गणित-प्रक्रिया है। वह विस्तृत होने से फिलहाल उस पर विचार नहीं करेंगे। ऐसी 'असंख्य' की संख्या होती है एक-एक बाल के टुकड़ों की। ऐसे पार-रहित टुकड़ों योजना-प्रमाण कुँआ इस तरह ठूस-ठूस कर भरा जाय कि चक्रवती के 96 करोड़ पायदल, 84-84 लाख अश्रदल, रथदल व हस्ति दल भी उस पर से होकर गुजरे, फिर भी वह दबे नहीं। ऐसे ठूस-ठूस कर भरे गये कुँए मैं से 100-100 वर्ष के बाद सिर्फ एक सूक्ष्म टुकड़ा निकाला जाय। इस तरह करते हुए उस कुँए को संपूर्णतया रिक्त होते हुए जितने वर्ष लगे, उतने वर्षों का एक पत्योपम होता है। पहले कहा गया है, उस तरह सिर्फ एक बाल के ही असंख्य टुकड़े निकालने पर इन टुकड़ों की संख्या करने पर सौ गुना असंख्य वर्ष लगते हैं। तो फिर कुँए के समस्त बालों के टुकड़े निकालते हुए तो कितने गुना असंख्य वर्ष

लगेंगे ? योजना प्रमाण कुँए में ठूस-ठूस कर भरे गये बालों की संख्या जितने गुना असंख्य वर्ष !

**यह तो हुआ एक पल्योपम वर्ष का काल :-**

ऐसे 100-200 नहीं, 1000-2000 या लाख दो लाख नहीं, 100 लाख पल्योपम का एक करोड़ पल्योपम होता है। ऐसे करोड़ पल्योपम भी एक-दो बार नहीं, 10 करोड़ बार बीते, तब तक सागरोपम वर्ष का काल होता है।

ऐसे 33 सागरोपम वर्ष का सातवीं नरक के जीवों का आयुष्य होता है। पहली नरक में अधिक से अधिक एक सागरोपम का आयुष्य होता है, जब कि यहाँ पर उससे 33 गुना। घोर नरक के दुखों में ऐसा काल किस तरह बीते ? कितनी कल्पनातीत दीर्घ-कालीन रौख यातना ? इसे नजर के समक्ष रखा जाय, तो क्या यहाँ के भारी से भारी दुःख में भो मन के भाव बिगड़ेंगे ? नहीं क्योंकि यहाँ के दुःख तो मामूली होते हैं, लेकिन रौद्र, तीव्र-उग्र अशुभ भाव से उपाजित नरक के पापों से तो पहले कहे गये वैसे, पल्योपम सागरोपमों के काल तक रौख नरक दुःख भोगना होता है। पैसे दुनिया को तुच्छ चोज या मान के खातिर भो किये हुए उग्र अशुभ भाव ऐ नरक कासे पाथेय एकत्र करके देते हैं। अस्तु

**देव का करुण पलटा :-**

अपनी बात अनुत्तरवासी देव के आयुष्यकाल 33 सागरोपम वर्ष की थी। इतना लंबा काल भी एक दिन सपूर्णतया खत्म हो जाता है और देव को भी नीचे उनरना पड़ता है। कहाँ ? मानवी स्त्री की बदबू से भरी कुशी में ! कैसा एक भव में से दूसरे भव में दूसरे भव में करुण पलटा ? भवनमति व्यन्तर, ज्योतिषी और

पहले-दूसरे स्वर्ग के वैज्ञानिक देव में से कई तो मरकर पंचेन्द्रिय तिर्यच-पशु भी बनते-हैं और कई मरकर एकेन्द्रिय तिर्यच पृथ्वीकाय अपकाय या वनस्पतिकाय का भी भव पाते हैं। कितना करुण है यह परिवर्तन ? जीव देवभव में दिव्यज्ञान-अवधिज्ञान का धनी होता है और बाद में एकेन्द्रिय के भव में एकदम अज्ञान, नादान मिट्टी-पत्थर-पानी-वृक्ष आदि बनता है। वहाँ से मरकर पुनः-पुनः एकेन्द्रिय भी होता है। कब उसमें से बाहर निकलेगा, यह तो भगवान ही जाने। कई बार तो असंख्य या अनन्त कोडाकोड़ी सागरोपम का काल अकेले एकेन्द्रिय के भावों में बीत जाता है वहाँ से बाहर निकलकर भी चारों गतियों के भवों में भटकना।

**संसार को पहचानने पर अशुभ ध्यान टलता है।**

वैसे संसार में अनन्त पुद्गलपरावर्त काल बीत गये। कर्मों के द्वारा प्रेरित होकर निराधार रूप में एक भव में से दूसरे भव में 'सं' यानि 'अच्छी तरह से', और 'सार' यानि कि 'सरकते हो रहना', इसी का नाम है-संसार। कर्माधीन जीव को यह भयंकर दीन, दशा मजर के सामने रहे। वहाँ फिर ऐसे कर्म के प्रेरक हैं जो हृदय के अशुभ भाव, या जो मन से खराब ध्यान, करते हुए कितना विचार होगा ? हृदय और मन को क्यों बिगाड़ा जाय ?

**(2) एक कर्म के उदय से दूसरे कर्म के उदय पर संसरण इसी का नाम है-संसार**

संसार का दूसरा अर्थ है-कर्म के उदयों में अच्छी तरह से सरकते रहना। कैसी कंगाल दशा है यह जीव की ? अभी शाता का उदय चलता हो, तो बाद में अशाता के उदय में फँसना पड़ता है। इसी तरह अमीरी के पुण्योदय पर से गाड़ी सरकी, तो गरीबी के पापोदय पर जाना पड़ता है। इसी तरह अगर लाभान्तराय टूटे, तो

लाभ तो होता है, लेकिन वहाँ भी शायद साथ में भोगान्तराय कर्म उदय में आये, तो उस लाभ को भोग नहीं सकते ! अभी ज्ञाना-वरणीय का उदय थोड़ा दबाया हो और वहाँ दर्शनावरण का विशेष उदय जागे, तो उससे आँख कमजोर होती है । इसी तरह अभी सुन्दर यश नाम कर्म का उदय चलता हो, और चकाचक अपयश नाम कर्म उदय में आ जाता है ।

सोताजी को क्या हुआ ? पति रामचन्द्रजी के साथ स्वेच्छा से बनवास में गयी था जिससे उन्होंने सच्ची पतिव्रता स्त्री के रूप में प्रसिद्धि पायी थी । लेकिन बाद में अयोध्या में आकर साम्राज्ञी बनने के बाद अपयज्ञ नामकर्म का उदय हुआ कि बाहर बातें होने लगी-यह तो वैभवशाली रूपवान राजा रावण के वहाँ रहकर आयी है, तो भला सती कैसे हो सकती है ?

‘संसार’ यानि कर्मों के विचित्र और परस्पर विरोधी, ऐसे उदय में सरकते रहना । अभी दिव्य काया और बाद में बेडौल काया ! सनत्कुमार चक्रवर्ती का रूप अनुपम व बेजोड़ था, लेकिन बाद में उन्हीं के शरीर में सोलह-सोलह रोग यकायक पैदा हो गए । पुण्योदय से एक बार मान मिलता हो, लेकिन बाद में पापोदय जागने पर अपमान सहना पड़ता है कर्म के उदय पलटने पर बड़े शहशाह का भी अभिमान नहीं चलता । इस तरह सदा दृष्टि के मम्मुख अपनी कंगाल दशा रहे, तो मन के भाव और लभध्यान क्यों विगड़ेंगे ?

**(3) संसार अर्थात् एक पुद्गल--द्रव्य पर से दूसरे पुद्गल द्रव्य पर संसरण :-**

तीसरे प्रकार का संसरण है-एक पुद्गल द्रव्य पर से दूसरे पुद्गल द्रव्य पर संसरण करना । उदाहरण के लिये देखिये,-एक

भोजन की थाली में ही विविध व्यंजनों पर जीव कैसा ललचा जाता है । अभी हाथ रोटी के टुकड़े पर है, तो तुरंत बाद में दाल पर ! एक कौर मुँह में रखा कि हाथ जाता है एक सब्जी पर, फिर दूसरी सब्जी पर ! फिर हाथ जाता है चटनी पर, तो कभी आचार पर, या फिर किसी मीठी चीज पर, यह खेल कैसा ? जैसे कि बच्चे फुटबाल खेलते हों, तब फुटबाल की क्या हालत होती है ? अभी गेंद एक खिलाड़ी के पास गयी कि उसकी लात से दूसरे खिलाड़ी की ओर पहुँचती है, और उसकी लात से पहुँचती है तीसरे के पास । बच्चों के बीच जैसे बेचारी गेंद की फेंकाफेंक चलती ही रहती है, इसी तरह भोजन के व्यंजन भी जीव को दूसरी-दूसरी ओर धकेलते रहते हैं । फुटबाल की तरह ही जीव की उन व्यंजनों के बीच फेंकाफेंकी का खेल चलता रहता है ।

यह तो हुई सिर्फ भोजन के द्रव्यों में एक से दूसरे पर सरकने की बात ! लेकिन दिन-भर की चर्या देखें, तो एक पौद्गलिक चीज पर से दूसरी तरफ संसारी जीव का सरकने का कितना चलता है ? मुक्त बने हुए मोक्ष के जीवों को है ऐसा कुछ ? नहीं ! क्योंकि उन्होंने सर्व कर्मों का नाश कर के कर्म की सर्व प्रकार की उपाधि का नाश कर दिया है, जब कि अपन तो हैं कर्मवद्ध संसारी आत्मा ! पुद्गल में अपनी इस फेंकाफेंकी की कंगाल कहरा दशाएँ यदि नजर के समक्ष रहा करें, तो मन कहाँ से बिगड़ेगा ? सुख या दुःख में, अथवा आपत्ति में या सुविधा में, स्वयं ही भाव बिगाड़ने की मूर्खता क्यों होगी ?

**(4) 'संसार' यानि एक प्रवृत्ति पर से दूसरी प्रवृत्ति पर संसरण:-**

संसार में वायिक-वाचिक-मानसिक प्रवृत्तियों में भी एक से दूसरी ओर सरकना चलता रहता है । मानों अब तो चाल है ।



सोचने की प्रवृत्ति, फिर बोलने की प्रवृत्ति पर गये ! उसमें से काया को किसी प्रवृत्ति पर जा सरके ! इसमें से प्रत्येक के भी अनेक प्रकार हैं । अभी एक तरह के विचार की प्रवृत्ति थी कि अक्षोत्तर में दूसरी तरह के विचार की प्रवृत्ति पर जा पहुँचे ! उसमें से तीसरे प्रकार की प्रवृत्ति की ओर चल पड़े ! अभी-अभी तो अभिमान या गुस्से-भरे वचन बोल रहे थे ; लेकिन सामने से गहराई तक असर करने वाला प्रतिकार मिलते ही तुरन्त नम्रता-कोमलता की भाषा-प्रवृत्ति की ओर सरक गये । बार-बार ऐसा पलटना क्यों कहिए संसार में सरकना ही होता है ।

और काया की अशुभ प्रवृत्तियाँ तो कितनी ही तरह की होती हैं । उनमें एक में से दूसरे की ओर सरकना तो चलता ही रहता है । अरे ! एक आँख कहाँ कहाँ घूमती रहती है ? हाथ कितने चलते हैं ? बाद में मूढ़ता से माना करें कि ऐसी प्रवृत्तियों में घूमते रहने से सुख-आनन्द मिलता है परन्तु यह तो कैसा है ? वैसा ही जैसा कि रूपवती पत्नी का गुलाम पति पत्नी के आर्डर पर आर्डर मिलने पर उनका पालन करता हुआ सुख मानता है । समझदार की नजरों में वह बिना वेतन सरेग्राम गुलाम समझा जाता है । इसी तरह यहाँ पर कर्म व मोह के असर में आकर इन्द्रिय-रानियों के पूरे पूरे गुलाम की तरह जीव नाचा करता है । ऐसी गुलामी नजर के सामने रहने से स्वयं की तबाही दिखती रहे तो ऐसी इन्द्रियों के विषयों के लिये अपने भाव क्यों बिगाड़ेंगे ?

### (5) 'संसारो' यानि सुख दुःख के बोज संसरण

संसार में जीव का सुख से दुःख पर व दुःख पर से सुख पर सरकना चालू ही है । इसी तरह हर्ष में से उद्वेग की ओर व उद्वेग में से हर्ष की ओर सरकना चालू है । इसीका नाम है संसरण अर्थात् 'संसार' ।

यह भी कर्म व मोह की गुलामी के नीचे ही चलता है। एक दिन में सुख-दुःख, हर्ष-खेद, आदि के बीच कितने संसरण हुए, उनका भी यदि आप निरीक्षण करेंगे, उनकी संख्या निकालेंगे, तो चौंक उठेंगे।

## एक दिन के सुख-दुःख

सुबह ठीक समय पर उठ पाये, तो सुख का अनुभव हुआ लेकिन नहाने का पानी तैयार नहीं, तो दुःख। पानी तो मिला व नहाये तो सुख लगा, लेकिन कपड़े अच्छे नहीं मिले, तो दुःख। चाय नाश्ता अच्छा मिला तो सुख, लेकिन दुकान जाने में देर हो गयी तो दुःख। फिर भी दुकान पर बैठते ही अच्छा ग्राहक मिला तो खुशी हुई, लेकिन बाद में घंटे भर दूसरा ग्राहक न आने पर दुःख! सोचिये तो सही, रात में सोने जायें वहाँ तक में ऐसे कितने सुख-दुःख में भटकते रहते हैं? चाहे सुख हो या दुःख, उसमें सिर्फ आतं ध्यान के सिवाय दूसरा कुछ है!

## जीवन में बड़े दुःख

यह तो हुई एक ही दिन की बात! लेकिन जीवन में भी कभी-कभी कैसे बड़े सुख पर से दुःख में धकेल दिये जाते हैं? सौताजी राम के साथ वनवास जाकर अयोध्या में वापस आयी बाद में महल में साम्राज्ञी बनकर बैठी थी। गर्भाविस्था के पूर्ण दिवसों में थी, उस समय उन्हें कितना आनन्द होगा! लेकिन लोगों की बातें सुनकर रामचन्द्रजीने उसे पुनः जंगल में छोड़ दिया, तब वह कितने दुःखों से घिर गयीं? साथ में न एक दासी, न अंगरक्षक सिपाही जंगली पशुओं से बचने के लिये उनके पास कोई शस्त्र नहीं था और न ही कोई वाहन! खाने के लिए रोटी की छोटी पोटली भी नहीं थी उनके पास! पूर्ण गर्भाविस्था थी, लेकिन उनके पास कोई गद्दी या बिछौना भी नहीं था। पानी का लोटा भी नहीं था। सोचिए

अपार सुख से वह कैसे दुःखों में धकेल दी गयी ? लेकिन वहाँ एक राजा आ गया, सीताजी को धर्म-बहन बनाकर ले गया, सारी सुविधाओं के साथ महल में रखा, और वहाँ लवण-अंकुश नामक दो पुत्रों का जन्म क्षेम-कुशलपूर्वक हुआ। तो पुनः कैसे सुख की ओर प्रयाण हो गया।

नल-दमयन्ती ने सुख-दुःख के बीच कैसे हिच-कोले खाये ? श्रीपालकुमार भी कभी सुख में, तो कभी दुःख में, कैसे धकेले गये ? हरिश्चन्द्र-तारामती को उच्च राज-सुख पर से, एक को श्मशान का रखवाला, व दूसरी को चंडाल के घर पानी भरने वाली दासी के रूप में कैसे दुःख की ओर जाना पड़ा ?

आप के आज के जीवन में भी देखिये-कभी तो कितना सुख ! और कभी महादुःख ! आज के विचित्र सरकारी तंत्र, बाजारों की विचित्र स्थिति, विदेशों में कुछ न कुछ नयी हलचल.... आदि के कारण यहाँ चार दिन सुख, तो पाँचवे दिन दुःख ! पराधीनता से अनिच्छा से भी सुख में से दुःख की ओर सरकना पड़ता है। यदि यह नजर के सामने रहे, तो संसार कैसा बेहूदा लगेगा ? फिर इसकी घटनाओं में स्वस्थ रहकर मन बिगड़ने का सवाल ही नहीं उठेगा. दुर्घटना होगा ही नहीं। संसार के पलटने पर हमें क्यों पलटना ? हमारे भाव को क्यों बिगाड़ना ? दर्पण के सामने चीजों के पलटने पर दर्पण नहीं पलटता है। वह तो मात्र प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है। मलिन प्रतिबिम्बों स्वच्छ दर्पण स्वच्छ ही रहता है. स्वयं मलिन नहीं होता है।

अर्थात् दर्पण प्रतिबिम्बों का या प्रतिबिम्बित वस्तु का कुछ भी असर नहीं लेता है। वैसे हमें भी मात्र वस्तुज्ञान करना है। किंतु राजी-नाराज जैसी कुछ भी असर नहीं लेना है।

## (6) 'संसार अर्थात् एक भाव में से दूसरे भाव पर सरकना-

संसार में एक भाव से दूसरे भाव पर सरकने का किस तरह चलता ही रहत है, उस पर विचार कीजिये । अभी क्रोध के भाव में है, तो क्षण भर में ही एकदम कोमल दीनता के भाव में चले ! अभी बीबी-बच्चों पर राग के भाव में है, तो क्षण भर बाद उनकी वाणी या वर्तन में कोई झूल देखकर उन पर द्वेष-क्रोध के भाव में सरके ! अभी अच्छे धर्म के भाव से मन्दिर की ओर चले, लेकिन वहाँ राह में कोई दलाल या ग्राहक मिला तो पहुँच गये व्यापार के पाप-भाव में ! ग्राहक ने अभी अच्छा माल लेने की आशा बतायी, वहाँ चढ़े लोभ के भाव पर । किन्तु बाद में उसे नामंजूर करने पर तुरन्त जा चढ़े निराशा के भाव पर । अच्छा सुस्वादु भोजन करते हुए अब तो टेस्ट की खुशी के भाव पर जा चढ़े, लेकिन बाद में पेट दुःखने पर हाय-हाय करते हुए पछतावे के भाव में जा उतरे ! अरे ! खाने की चीजों में ही किसी में ज्यादा आनन्द का अनुभव किया, तो किसी में मुँह बिगाड़ा ! इस तरह ख़ुशी-नाख़ुशी के भाव पलटते ही रहते हैं ।

इस प्रकार भाव कभी स्थिर रहते ही नहीं, बार-बार पलटते ही रहते हैं । समुद्र में लहरों की तरह हृदय में नये-नये भावों के तरंग उठते ही रहते हैं । बदलती हुई परिस्थियाँ, निमित्त व संयोग उन भावों व संवेदनाओं में जीवों को घुमाता हैं ।

**संसार में जीव की कंगाल दशा को पहचानिये:-**

जो जीव भव-कर्मोदय-पुद्गल-प्रवृत्ति-सुख-दुःख और भावों में जीव को सरकाया ही करे, मटकाया ही करे, उसीका नाम संसार है । यहाँ पर जीव की ऐसी गुनामी भरी दोन अवस्था है, मानों जीव

का कोई मूल्य ही नहीं। महत्व हो नहीं। ऐसी गुलामी की दशा का पहले तो भान ही नहीं था, लेकिन यहाँ पर अब यह दशा नम्रमे आने लगी और देखा कि इस दशा को मिटाकर स्थिर 'मुक्त' अवस्था प्रकट करने का अमूल्य दुर्लभ अवसर यहाँ पर मिला है, तो यह प्रकट करने के लिये प्रयत्न करने में कोई कसर क्यों रखी जाय ? ऐसे प्रयत्न में प्रथम यह निश्चित करना है कि,

‘यदि सिर्फ भाव और ध्यान को बिगाड़ने से ही अशुभ कर्म-बन्ध तथा संसार-वृद्धि होती है, तो किसलिये अशुभ भाव और अशुभ ध्यान में पड़ना ? चाहे जैसे सुख या दुःख के संयोग आये, लेकिन मेरे दिल के भाव व मन का ध्यान मुझे शुभ रखने का निश्चय यह पहला कर्तव्य है।

**शुभ भाव कौन कौन ? तो कि ये हैं :-**

- 0 वैराग्य, उपशम, क्षमा, नम्रता, निर्लोभता (निरीहता)
- 0 जीवों के प्रति मैत्री-कृपा-गुणानुराग ।
- 0 जड़ के प्रति उदासीनता, नफरत ।
- 0 परलोक-भय, देव-गुरु पर प्रीति-भक्ति ।
- 0 जिनवचन-श्रद्धा, दुष्कृत का पश्चात्ताप, सुकृतानु-मोदन, पापघृणा आदि-आदि ।

**अशुभ भाव ये हैं :-**

राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, वैर, मद । मानाकांक्षा, माया ममत्व ।

हिंसादि पाप के प्रति प्रीति, निर्दयता, ईर्ष्या, पर दुःख से खुश होना ।

देव-गुरु-धर्म पर दुर्भाव, उत्सूत्र-उन्मार्ग की बुद्धि ....  
आदि आदि ।

**अशुभ ध्यान को रोकने के लिये क्या करना ?**

- (1) दिल को अशुभ भावों से बचाया जाय,
- (2) शुभ भावों का खूब अभ्यास रखा जाय.
- (3) अच्छे-अच्छे विचार किये जायें,
- (4) महापुरुषों के उत्तम जीवन-प्रसंग व उनके द्वारा रखे गये शुभ भावों को बारंबार याद करते रहा जाय,
- (5) जिनेश्वर भगवंत की आज्ञाओं का पुनः-पुनः स्मरण किया जाय,
- (6) जीवन में देखे हुए तीर्थ-मंदिरों के भगवान क्रमशः याद किये जायें ।
- (7) तत्त्वदृष्टि रखी जाय,

तो अशुभ ध्यान को रोका जा सकता है । जीवन में प्रसंग और संयोग तो आते ही रहने वाले हैं । उनमें प्रत्येक प्रसंग पर शुभ भाव कैसे-कैसे रखे जा सकते हैं, उस ओर मन का लक्ष्य रहना चाहिये । एक ही प्रसंग में शुभ भाव भी रखा जा सकता है । और अशुभ भाव भी आ सकता है ।



उदाहरण के लिये आज जोरदार महंगाई है, उस पर मन जाने पर 'हाय-हाय' करने लगते हैं, सरकार-वाजार आदि पर द्वेष लेता है, पैसे पर अत्यन्त राग आदि होते हैं, ये सब अशुभ भाव हैं। उन्हें रोकने के लिये

### तत्त्वदृष्टि से विचार किया जाय कि

(1) 'महंगाई के पीछे मुख्य तो मेरे पाप का उदय ही काम करता है, अतः दूसरे पर द्वेष या हाय-हाय क्यों करूँ ?

(2) 'वैसे तो मैं रंगराग या भोग-विलास में कटौती नहीं करता, लेकिन महंगाई के कारण यह अनायास ही सुलभ बना है, मुझे ऐसा त्याग का अवसर मिला है। चीज महंगी होने से त्याग धर्म सस्ता बना, चीज सस्ती होती तो त्यागधर्म महंगा बन जाता।

(3) 'और हाय-हाय या द्वेष करने से कुछ हाथ तो आने वाला नहीं है, फिर दिल क्यों बिगाड़ा जाय ?

चीज-वस्तुओं के दाम बदले यह मेरे हाथ की बात नहीं है, लेकिन मेरे दिल के भावों को बिगड़ने न देना, भाव अच्छे रखना, यह तो मेरे हाथ की बात है।

(4) 'मैं चीजों की महंगाई को रोता हूँ, लेकिन आज धर्म महंगा हो गया है, सत्य, नीति, क्षमादि शुभ भाव महंगे हुए हैं, इसको मैं क्यों नहीं रोता ? यह नुकसान देखन पर महंगाई को क्या रोना ?' इसी तरह आपत्ति में

(1) पापोदय

(2) त्याग का अवसर

(3) मनोभाव हस्तगत और

(4) सच्चा दुःख धर्महीनता का....

इतना विचार करके शुभ भाव उल्लसित रखना चाहिये ।

**सीताजी ने किस तरह भाव नहीं बिगाड़े ?**

सीताजी को राम के साथ वनवास जाने का प्रसंग आया, भाव नहीं बिगाड़े, हाय-हाय नहीं किया उन्होंने देखा—

(1) 'पतिव्रता स्त्री को पति के साथ रहना ही सच्चा सुख है ।

(2) मैं राम को व्याही गयी हूं, उनके महल-वैभव-विलास को नहीं । एक के साथ मेरा मुख्य संबन्ध तो जिसके साथ हृदय का मुख्य संबन्ध हो, उसी से जुड़े रहना । वह सलामत हो, तो सब सलामत !

(3) जैसे वेतन या बोनस लेना आता है, तो मजूरी करनी भी आनी चाहिये । इसी तरह कर्म का माल खाना आता है, तो कर्म को पीड़ा सहन करनी भी आनी चाहिये ।

(4) हम केवल सुख के ही अधिकारी नहीं हैं, क्योंकि अपने स्टॉक में सिर्फ पुण्य ही नहीं है, किन्तु आत्म—खजाने में पाप के ढेर भी भरे पड़े हैं । उनसे दुःख भी आते हैं, तो स्वयं को सिर्फ सुख के ही अधिकारी कैसे मान सकते हैं ?

(5) जिस समय दुःख आया, उस काल में पाप का उदय निश्चित और अनिवार्य मानकर, उसे प्रसन्नचित्त से स्वीकार कर लेना यह ईमानदारी है ।

(6) और वनवास को आपत्ति व दुःख का कारण न समझ

कर ऐसा माना जाया कि उससे तो पापकर्म भोगे जायेंगे व वनवास को तो इस पापकर्मों का क्षय करने का निमित्त समझा । दुःख से कचरा साफ होता है । कचरा साफ हो उसमें नाखुशी कैसी ?

### महासुख के अवसर पर तत्त्वदृष्टि :

अन्त में सीताजी को दिव्य करने के बाद भारी मान-सन्मान के साथ महल में रहने का अवसर आया, एव विनयी पुत्रों की सेवा लेने का व एकदम सुख-चैन में रहने का अवसर आया, तब भी वहाँ सीताजी को आनन्द की दृष्टि नहीं, किन्तु तत्त्व दृष्टि आयी कि 'यह भी कर्म का ही प्रलोभन है । कर्म ने मुझे तीन—तीन बार ठगा है ।

(1) कर्म ने ही मुझे राम जैसे पति तो दिये, लेकिन मुझे वनवास में धकेल दिया ।

(2) वहाँ भी पति की छाया मिलने से मन में राहत थी, लेकिन कर्म ने रावण द्वारा अपहरण कराया ।

(3) वहाँ से छूटकर अयोध्या में आयी, वहाँ राजमहल में मान के साथ रहने को मिला, किन्तु कर्म ने मुझे पुनः अचानक वन में भेज दिया ।

कर्म की ऐसी ठगी बार-बार देखी है, तो अब पुनः ठगायी जाने के लिये क्यों जाऊँ ? अब तो उसे उखाड़ने के लिये चारित्र्य ही ले लूँ ।' और लिया चारित्र्य !

दृष्टि की ही खूबी है । तत्त्विक दृष्टि रखी जाय तो उसी प्रसंग में शुभ भाव युक्त शुभ ध्यान सुलभ बनता है ।

प्रसंग कहां कम आते हैं ? दिनभर ऐसे प्रसंगों से ही भर-

पूर रहता हैं न ! अच्छी बुरी चीज का गमनागमन भी प्रसंग ही है न ! वहाँ कोई न कोई भाव तो जागते रहने वाले ही हैं । तत्त्व दृष्टि हो तो अच्छे भाव किये जाते हैं, अच्छे भाव रखे जाते हैं । मिथ्यामति दृष्टि हो तो भाव अशुभ ही होने वाले हैं । तो पूछिये,

**तत्त्वदृष्टि किस प्रकार रखी जाय ? जीवन के सच्चे माप-तौल पर ।**

जीवन को जड़ वस्तुओं को प्राप्ति-अप्राप्ति के काँटे में मत तोलिये कि 'इतनी सुविधा मिली तो, चलो सुख की घड़ी आयी,' और थोड़ी असुविधा हुई तो मत सोचिए कि अरे ! दुःख के दिन आ गये !' जीवन को जड़ के पलड़े में तोलने में मिथ्यामति काम कर जाती है और यह हृदय के कई भावों को बिगाड़ देती है । सुविधा पर व सुविधा देने वाले पर राग उछलता है, और न देने वाले खटकते हैं । असुविधा पर व असुविधा देने वाले पर द्वेष जागता है । इन रागद्वेष के बाद तो दूसरे कई अशुभ भाव, जैसे मद, माया, कपट, ईर्ष्या, दीनता आदि जाग पड़ते हैं । जीवन को जड़ की अनु-कूलता-प्रतिकूलता की तराजू में तोलकर सुख-दुःख की गिनती करने में ही यह सब बखेड़ा उठता है । इसीलिये—

**तीन तराजू से जीवन को तोलिये :**

जीवन को (1) पुण्य-पाप की तराजू में तोलिये ।

(2) शुभाशुभ भाव की तराजू में तोलिये ।

(3) परलोक सुधरने-बिगड़ने की तराजू में तोलिये ।

**उदाहरण के लिये :—**

(1) जीवन को पुण्य-पाप पर मापने में मन को ऐसा लगता है कि 'कितना अच्छा पुण्य कमाई का अवसर है। अन्त में मात्र शुभ भावना से भी मैं पुण्य कमाई कर सकूँ, तो यह जीवन-काल अच्छा है।' अशुभोदय सहने का मौका आया हो, तो भी 'वह पाप का कचरा साफ करने का अवसर होने से जीवन काल को अच्छा ही गिनुँ।' 'जब धर्म खो दिया जाय तो जीवन-समय को व्यर्थ हुआ मानूँ, दुःखमय मानूँ।' पुण्य-पाप की तुला में इस तरह जीवन को तोला ? 'धर्म द्वारा पुण्य की कमाई चालू है न ? या आपत्ति भोगने के द्वारा पापक्षय चालू है ?' तो वह जीवन-समय अच्छा बीता हुआ मानना। लेकिन 'सिर्फ पूर्व पुण्य को भोगने का ही समय चलता जा रहा है, कोई नई पुण्य कमाई नहीं हो रही है, तो उस समय को बुरा गिनुँ।' इसी तरह दुःख या संकट आने पर सिर्फ रोते रहें, अच्छे भाव न रखें, तो वह जीवन समय बुरा है।

(2) इसी तरह, शुभाशुभ भाव पर माप इस तरह निकाला जाय कि बाहर के संयोग चाहे जैसे वैभव—मान-सन्मान के हों या गरीबी-आपत्ति-रोगादि के हों, परन्तु यदि हृदय के भाव शुभ चलते हों, तो वह जीवन समय धन्य है; और यदि भाव अशुभ चले, तो जीवन समय बुरा गिना जाय।

(3) इसी तरह तीसरा माप यह है कि, जीवन का जो समय बीत रहा है, वह क्या परलोक सुधारने में हो रहा है ? या बिगाड़ने में ? इस हिसाब से ही उसे अच्छा-बुरा मानें, यह परलोक के काँटे पर जीवन को तोला मापा जाता है। दृष्टव्य, दुर्भाग्य, अनुचित बोल, अशुभ भाव आदि परलोक को बिगाड़ने वाले हैं। यदि ये सब चालू हैं, फिर चाहे सांसारिक सुख लीला चलती हो, तो यह परलोक को बिगाड़ने वाला होने से, जीवन समय दुःख का गिना

जाता है। इससे उल्टा, बाह्य सुख होने पर भी यदि सुकृत, सत्कृत्य शुभ भावना, सुयोग्य धार्मिक बोल आदि चालू हैं, तो यह वस्तु परलोक को सुधारने वाली होने से यह जीवन समय वास्तव में सुन्दर गिना जाय।

वस, जीवन को इसी तरह पुण्य-पाप आदि की तराजू में ही मापा जाय, तो तत्त्वदृष्टि आ जाय, और जीवन का प्रत्येक प्रसंग उससे देखा जाये। इस तरह तत्त्वदृष्टि से देखने पर शुभ भाव और शुभ ध्यान सुलभ बनेंगे।

जीवन के साथ ध्यान का कितना संबन्ध हैं, इस पर सामान्य रूप से विचार किया। अब ध्यान के प्रत्येक प्रकार को समझकर जीवन के साथ उसका सम्बन्ध देखें।

### चित्त की अवस्थायें

**‘ध्यानशतक’ शास्त्र के कर्ता :-**

हमारे यहाँ ‘पूर्व’ नामक सागरसम आगमशास्त्र के ज्ञाता प्रकांड विद्वान और समर्थ शास्त्रकार आचार्य श्री जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण हो गये हैं। उन्होंने ‘करेभिर्भन्ते’ सूत्र यानि ‘सामायिक सूत्र’ पर बड़े भाष्य की हे. जो विशेषावश्यक भाष्य’ के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें पंच ज्ञान का बहुत विस्तृत अधिकार है। बाद में नयवाद, गणधरवाद, निहनवाद आदि पर विस्तार से चर्चा की है। इन्हीं महर्षि ने ध्यान के विषय पर ‘ध्यान शतक’ नामक प्रकरण की रचना की है। उसमें उन्होंने ध्यान का स्वरूप, शुभाशुभ ध्यान के 4 प्रकार हर एक प्रकार के 4-4 प्रकार अच्छी तरह से समझाये हैं।

### ‘ध्यान-शतक’ शास्त्र की उपयोगिता

इस शास्त्र का यदि हम ठीक से अभ्यास करें, तो हमारे



दैनिक जीवन में कदम-कदम पर हम कैसे अशुभ ध्यान में फँस जाते हैं ? उसके लक्षण कौन से हैं ? यह अशुभ ध्यान क्यों पैदा होता है ? उसका फल क्या है ? .... आदि बातें ख्याल में आती हैं । यदि यह ख्याल हो, तो हमारा मन पुकार उठता है, 'अरे ! मैं चलते-फिरते इतने अशुभ ध्यान में डूबा ही रहता हूँ ? इसके दुःखद-महादुःखद फल तो मुझे ही भोगने पड़ेगे न ?' ऐसा मन में विचार उठे, तो उस अशुभ ध्यान को टालने के लिये कैसे शुभ ध्यान उपयोगी बन सकते हैं, इसकी जिज्ञासा जाग पड़ती है; और यह भी इसी शास्त्र में से जानने को मिलती है । ऐसे शुभ ध्यान पर 12 पोंइंट या 12 मुद्दों से विचार किया गया है । यह अद्भुत विचार है । ग्रंथ के क्रम में हम उसे देखेंगे ।

**ध्यान-मन की एक अवस्था है, :-**

मन की दो तरह की अवस्था है-

- 1) चल अर्थात् अस्थिर और
- 2) स्थिर ।

यहाँ पूछिये,

प्र०-मन की शून्य अवस्था क्यों नहीं ली गयी है ।

उ०-मन की शून्य अवस्था जिसे हम समझते हैं, उसमें भी मन तो काम करता ही है । इसलिये वह यहाँ नहीं ली गयी है । पहले यह समझिए कि मन क्या है, तब यह स्पष्ट हो जायेगा ।

**वाणी क्या है ?**

आकाश में कच्चे माल के रूप में भाषा वर्गणा के पुद्गल (भाषा कन्धों के समूहों रहे हुए हैं । जीव अपने वीर्य से काययोग

यानि कायिक प्रवृत्ति द्वारा उसे ग्रहण करके बाद में आत्मवीर्य से वाक्योग यानि वाचिक प्रवृत्ति के द्वारा उसे शब्द रूप में परिणत करता है, करके छोड़ देता है। यह छोड़ना, उसी का नाम है-बोलना यही है वाणी। हमें तो मालूम ही नहीं होता कि इतनी सब क्रिया कब हुई? लेकिन जैसे खाना खाने में हमने तो कौर मुँह में रखा और वह गले के नीचे उतारा इतना ही खयाल है किन्तु बाद में उस पर कौन-कौन सी क्रिया होती है, इसका हमें पता नहीं चलता; फिर वह प्रक्रिया भीतर में तो चालू ही है। यह उसके रस, खल आदि परिणाम बनने पर से निश्चित होता है कि ये इस खल आदि तैयार माल, खाये हुए अन्न पर हुई प्रक्रिया का परिणाम हैं। इसी तरह हम अभी मौन थे, बाद में कुछ बोले, वह तैयार वाणी किसी प्रक्रिया का परिणाम है, किसी सामग्री और क्रिया का फल है जब कि बोले जाने वाले शब्द पुद्गल हैं, Matter हैं, वे आज रेडियो, टेलीफोन, फोनोग्राफ की रेकार्ड आदि पर से सिद्ध हैं। बस, यह शब्द पुद्गलोंका मूल माल है, आत्मवीर्य और सशक्त काया सामग्री है, इसी से बना शब्द। बाद में वचन योग के आत्मवीर्य का स्फुरण होने से होने वाली प्रवृत्तिरूप क्रिया आये, यानि वाणी रूप परिणाम आ खड़ा होता है।

बस' इसी तरह मन के लिये भी समझना है। जिस प्रकार 'बोलना' यानि वाणी निकालनी यह पुद्गल के सहारे को जाने वाली एक तरह की प्रवृत्ति है, इसी तरह 'सीचना' यानि मन को लगाना यह भी पुद्गल के आधार पर की जाने वाली एक प्रवृत्ति ही है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि वाणि के लिये भाषावर्गणा नामक पुद्गल का कच्चा माल काम में आता है, इसी तरह मन के लिये मानस वर्गणा रूप पुद्गल कच्चे माल के रूप में उपयोगी होते हैं।

आत्मवीर्य के स्फुरण से काय योग द्वारा मानस पुद्गलों का ग्रहण होता है और बाद में वीर्यस्फुरण से मनोयोग के द्वारा उसे मनरूप में परिणत करके छोड़ दिया जाता है, इसे ही 'सोचा', 'विचार—किया' या 'चिन्तन किया' कहा जाता है ।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि यदि हमें बोलना ही है तो ही भाषा पुद्गलों को शब्द में परिणत करना होता है, इसी तरह सोचना ही है, तो ही मानस वर्गणा को मन रूप में परिणत करना होता है । यदि मौन ही रखना है, कुछ बोलना ही नहीं है, तो शब्द बनाने की जरूरत ही क्या है ? इसी तरह यदि कुछ सोचना ही नहीं है, तो मन बनाने की भला क्या आवश्यकता ? और यदि वहाँ मन ही नहीं, तो मन की शून्य अवस्था कहां से होगी ?

मन की शून्य अवस्था यानि कि यही कहना चाहते हैं न कि मन में अंश मात्र भी विचार ही न हो ? परन्तु यदि विचार ही नहीं है, तो मन कैसा ? वहाँ मन होगा ही कैसे ? न होगा न ? मन जैसी चीज की शून्यावस्था कहीं नहीं जा सकती । हाँ, शून्यावस्था आत्मा की तो फिर भी कही जा सकती है कि जहाँ किसी प्रकार का विचार नहीं है ।

वैसे मन की दो प्रकार की अवस्थाएँ हैं—एक चल और दूसरी स्थिर । शून्य अवस्था वाला मन होता ही नहीं । फिर कोई यों मान बैठे कि मैं 5-10-15 मिनट मन को शून्य रखने का अभ्यास करता हूँ, तो वह उसका भ्रम है । वहाँ सिर्फ दुनिया की वस्तुओं का विचार रोकने का प्रयत्न है । परन्तु यह ऐसी वस्तु विचार से रहित स्थिति भी देखने—चिन्तन करने का एक प्रयत्न है, इसलिये यह भी एक प्रकार का विचार ही है । फिर मन शून्य कहाँ बना ? ऐसे प्रयत्न में

पड़ने के बदले ज्ञानियों द्वारा बतलायी गयी राह पर चलना ही लाभदायी होता है। उस राह पर चलने का मतलब है-मन की शुभ चल और स्थिर अवस्था का प्रयत्न रखा करें। जैसे कि, चौबीस तीर्थंकरों को क्रमशः मन में लावे ! यह मनकी चल अवस्था है, और किसी एक ही ऋषभदेव भगवान पर चित्त लगावे तो यह मन का स्थिर अवस्था है।

प्र. मन की चल अवस्था कौन-सी हैं ?

उ. चल अस्थिर मन की अवस्था तीन प्रकार की होती हैं-

(1) भावना, (2) अनुप्रेक्षा और (3) चित्त। स्थिर मन की अवस्था यह ध्यान कहलाती है।

(1) भावना अर्थात् जिससे आत्मा भावित हो. ऐसी मन की अवस्था। इससे ध्यान की भूमिका का सर्जन होता है। उदाहरण के लिये :—

**‘ज्ञान भावना’** यानि विनय बहुमान आदि के साथ सम्यग् ज्ञान का अभ्यास, ज्ञान की धारणा, तत्त्व दोहन आदि का आचरण मन लगाकर किया जाय, तो उसमें रहे हुए शुभ भाव से मन ऐसा भावित बनता है कि बाद में वह स्थिर ध्यान के लिये योग्य बनता है। यदि मन इससे भावित न हो, तो फिर अनन्त काल का विषय भावित मन विषयों की ओर आकर्षित होने से शुभ ध्यान में स्थिर नहीं रह सकता। इस ज्ञानाभ्यास आदि में जो मन को भावित होने की क्रिया चली, वह भावना कहलाती है। उससे शुभ ध्यान की योग्यता पैदा होती है, सामर्थ्य पैदा होता है। इससे विपरीत, यदि मिथ्याज्ञान के अभ्यास आदि में मन लगा रहे, तो उससे भी ध्यान

की भूमिका तो खड़ी होती है, लेकिन वहाँ पर अशुभ ध्यान की भूमिका का सर्जन होगा ।

‘दर्शनभावना’ अर्थात् सम्यग् दर्शन की भावना करे, अर्थात् जिनवचन पर कदापि शंका न करना, मिथ्या धर्म की कांक्षा-आकर्षण न होने देना....आदि शंका-कांक्षादि दोषों को टाले और शम, संवेग आदि व देव-गुरुभक्ति, धर्म प्रभावना, स्थैर्य .... आदि में मन लगाये; इनसे आत्मा ऐसी भावित होती जाय कि फिर वह शुभ-ध्यान के योग्य बने । इसी तरह

‘चारित्र भावना’ में मन को समिति-गुप्ति में लगाना होता है ।

‘वैराग्य भावना’ अर्थात् जगत के स्वभाव का चिन्तन, जगत के पदार्थ के प्रति निर्ममता, निस्संगता आदि में मन लगाकर आत्मा को उससे भावित करे, उसमें रंग दे, वहाँ पर जगत्स्वभाव-निरीक्षण आदि में रहौ हुई मन की अवस्था वैराग्य-भावना कहलाती है । उस से भावित बनी हुई आत्मा शुभ ध्यान के लिये योग्य होती है, समर्थ होती है ।

आगे इस ज्ञान भावना, दर्शन भावना, चारित्र भावना और वैराग्य भावना का विचार धर्मध्यान की भूमिका के रूप में आने वाला है, वहाँ इन पर विस्तार से विचार करेंगे । यहाँ तो सिर्फ ‘भावना’ क्या चीज है, यह बताने के लिये दिग्दर्शन किया है । इससे आपको समझ में आया होगा कि ‘भावना’ अर्थात् केवल विचार करना नहीं हैं, परन्तु ज्ञान--दर्शन आदि की प्रवृत्ति करके मन को उसके साथ ओत-प्रोत करके चलाना है । इस तरह मन को भावित करना है । वह आत्मा को भी भावित करता जाता है, इसी का नाम

भावना है। इससे चित्त को ध्यान के लिये आवश्यक स्थिरता सुलभ बनती है।

## अल्प साधना में भी भावना :-

आप संसार में हैं और चौबीसों घंटे यह प्रवृत्ति आप नहीं कर सकते, लेकिन जितनी भी करो, उसके साथ ही साथ भावना भरे मन को जोड़ दो, यही भावना है। और सुन्दर ध्यान का भूमिका का सर्जन होते जाता है। सवाल सिर्फ इतना ही है कि मन उसमें रंग जाय, ऐसा लगना चाहिये।

नागकेतु ने शैशवावस्था में यानि जन्म लेते ही तुरन्त अष्टुम किया, इसी 'भावना' तत्त्व के साथ। बाद में बड़े होकर भी श्रावकत्व के आचार-अनुष्ठानों का पालन इसी तरह किया। एक बार भगवान की पुष्प पूजा भी इसी 'भावना' के साथ कर रहे थे। जीवन में प्रतिदिन चौबीसों घंटे तो नहीं, परन्तु जब-जब साधन में रहते, तब-तब इस 'भावना' के साथ ही रहते। इसका ऐसा फल आया कि ध्यान की जबरदस्त भूमिका खड़ी हो गयी। पुष्प पूजा करते-करते पुष्पों की टोकरी में से एक छोटे से सर्प ने डस लिया, शरीर झनझना उठा पर तुरन्त काया का राग तुरन्त छोड़कर भावना में से ध्यान में चढ़ गये। पहले धर्म ध्यान में पर क्रमशः शुक्ल ध्यान में। और वहीं पर व उसी वक्त मोहनीय कर्म का नाश कर वीतराग बने, और बाद में तुरन्त ही अन्य तीन घाती कर्मों का संपूर्णतया नाश करके केवलज्ञान पा लिया, वीतराग-सर्वज्ञ बन गये ! प्रश्न हेतु—

**वीतराग को भजने वाला वीतराग न बने ?**

अवश्य बने ! लेकिन कब ? 'वीतराग' पर दिल फिदा हो जाय, वीतरागता पर दिल फिदा हो जाय. और उनके द्वारा करवायी



गयी साधना (ज्ञान भावना-दर्शन भावना-चारित्र्य भावना-वैराग्य भावना रूप) का आचरण किया जाय 'भावना' तत्त्व से महकती साधना की आराधना की जाय, तो उसमें आसानी से ध्यान लगे और वीतरागता की कक्षा में पहुँचा जा सकता है। जीव संसार में ही एकान्त रूप से आसक्त बना रहने से सदा राग-द्वेषादि भरपूर रहते हैं व सतत चला करते हैं जिससे चित्त सदा अत्यन्त चंचल रहता है। धाराप्रवाह चलते राग-द्वेषादि में कोई अवरोध हो, तो चंचलता कम होती है। राग-द्वेषादि में यह अवरोध पैदा करने वाली ज्ञानादि भावना हैं। ये भावनाएँ आत्मा को ज्ञानादि से भावित करती हैं, इसी से रागादि में स्खलना होती है और ध्यान के लिये आवश्यक स्थिरता सुलभ बनती है।

यह हुई भावना की बात।

'भावना' यानि मन की ऐसी कामगिरी कि जो रागादि को घटाकर आत्मा को ज्ञानादि से भावित करे।

(2) अनुप्रेक्षा :- यह चल मन की ऐसी प्रवृत्ति है कि जिस में मन ध्यान के 'अनु' अर्थात् पोछे प्रेक्षा में जुड़ता है, अर्थात् अनित्य अशरण आदि के चिन्तन में चढ़ता है। "संसार में बाह्य-आभ्यन्तर सर्व संयोग अनित्य है"-इस पर चिन्तन, यह अनुप्रेक्षा है। इसी तरह "जन्म-जरा-मृत्यु-रोग दुर्घटना और कर्म चंगुल में कैसे जीव को को किसी की शरण नहीं है"-इस पर चिन्तन, यह भी अनुप्रेक्षा है।

ऐसी द्वादश (बारह) अनुप्रेक्षाएँ हैं। ध्यान टूटते ही तुरन्त मन अनुप्रेक्षा में जुड़ना चाहिये जिससे मन दूसरे विचार में न जाय, व अनित्यादि बारह में से किसी के चिन्तन पर लग जाय। फिर भी

स्फूर्ति-स्थिरता बढ़ने पर थोड़े ही समय में चित्त ध्यान में चढ़ जाता है ।

(3) चित्त :- यह चल मन की तीसरी अवस्था है । पूर्व में कहा गया, उस भावना या अनुप्रेक्षारूप मन की प्रवृत्ति नहीं। परन्तु मन अन्य विचारों में रमण कर रहा हो, तो मन की उस अवस्था को 'चित्त' कहा जाता है । ऐसा ही बैठा हुआ मन जहाँ-तहाँ भटक रहा हो, मन में दुनिया भर की बातें चलती हों, निंदा-विकथा चलती हों, वहाँ इसी तरह का मन होता है । किसी एक विचार पर से दूसरे पर और दूसरे से तीसरे पर....मन दौड़ता ही रहता है । अरे ! प्रभु के नाम की जयमाला लेकर बैठने पर या दूसरी धर्म-क्रिया करते समय भी रही विचार जाने की शिकायत कई लोग करते हैं । इसमें न है भावना, और न है अनुप्रेक्षा किन्तु चाहे जैसे विचार-विकल्पों में मन की भटकने की यह अवस्था है । इस अवस्था को 'चित्त' कहा जाता है ।

## शुभाशुभ 4 ध्यान

इस प्रकार भावना, अनुप्रेक्षा और चित्त, ये तीनों चल मन की अवस्थायें हैं, जबकि स्थिर मन की अवस्था ध्यान है ।

ध्यान अर्थात् मन का स्थिर अध्यवसान । 'अध्यवसान' यानि मन का एकाग्रता का अवलंबन । मन एकाग्रता से किसी भी जड़ या वेतन पदार्थ या उसके भाव पर (चाहे एक क्षण के लिये ही क्यों न हो) चिपके, लगे, उसे ध्यान कहते हैं । मन अधिक से अधिक एक अंतमुहूर्त तक ही एक विषय पर रह सकता है ।

मुहूर्त का हिसाब इस प्रकार है-

७ प्राण = १ स्तोक । ७ स्तोक = १ लव । ७७ लव = १ मुहूर्त ।

अर्थात् ३७७७ प्राण का एक 'मुहूर्त' होता है । इसमें अति सूक्ष्म १ समय कम, यह 'अन्तर्मुहूर्त' काल कहलाता है ।

ऐसे देखा जाय तो दो घड़ी यानी ४८ मिनट का एक मुहूर्त होता है । इसमें कुछ कम, यह अन्तर्मुहूर्त कहा जाता है ।

एक ध्यान अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही चल सकता है, बाद में वह टूटता ही है । यानी एक साथ मन की स्थिरता इतनी ही रहती है, बाद में चल अवस्था होती है । उसमें से भी पुनः ध्यान अवस्था लग सकती है । वहाँ पर यदि अनुप्रेक्षा की चल अवस्था अति अल्प समय के लिये आकर बाद में स्थिर ध्यानावस्था शुरू हो जाय; वह अन्तर्मुहूर्त तक रहे और पुनः थोड़ी सी चल अवस्था आकर फिर से ध्यान चले, .. तो यह ध्यानधारा कहलाती है ।

यह तो शुभ ध्यान की बात हुई । परन्तु सामान्य से ध्यान दो प्रकार का है—शुभ और अशुभ । ये प्रत्येक दो-दो प्रकार के होने से कुल ४ प्रकार के ध्यान हुए—

- (१) आर्तध्यान
- (२) रौद्रध्यान
- (३) धर्मध्यान
- (४) शुक्लध्यान

इनमें प्रथम दो ध्यान अशुभ हैं और पिछले दो शुभ हैं ।

धर्मध्यान व शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं, जब कि आर्तध्यान और रौद्रध्यान संसार के कारण हैं ।

अन्यत्र कहा गया है कि :-

अदृष्टेण तिरक्खगई, रुद्धज्झाणेण गम्मती नरयं ।

धम्मेण देवलोयं, सिद्धिगई सुक्कज्झाणेणं ॥

अर्थात् (१) आर्तध्यान से तिर्यचगति मिलती है,

(२) रौद्रध्यान से नरक में जाना पड़ता है,

(३) धर्मध्यान से देवलोक और

(४) शुक्लध्यान से मोक्ष मिलता है ।

अब प्रश्न उठता है कि धर्मध्यान से मोक्ष तो नहीं न ? इसका उत्तर यह है कि धर्मध्यान परंपरा में मोक्ष का कारण है, क्योंकि इसमें से शुक्लध्यान पैदा होता है और उससे मोक्ष होता है ।

यह बहुत ही ध्यान में रखने योग्य बात कही गयी-तिर्यच गति में ले जाने वाला आर्तध्यान है । नरक में ले जाने वाला रौद्रध्यान है । स्वर्ग में ले जाने वाला धर्मध्यान है और मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला शुक्ल ध्यान है । यहाँ एक प्रश्न उठता है-

प्र०- परलोक का भव देने वाला तो आयुष्यकर्म है । चार गति में से जिस गति का आयुष्य बंधा हो, वहीं अवतार मिलता है । लेकिन यह आयुष्य तो यहाँ अमुक अन्तर्मुहूर्त में एक ही बार बंधता है, उसके सिवाय जीवन भर के समय में आर्त-रौद्र-ध्यान होते ही रहते हैं, उनका फल क्या ?

उ०- आर्तध्यान आदि को नरकादि गति का कारण बताया, इसका अर्थ यह है कि ध्यान से सिर्फ आयुष्य ही नहीं, किन्तु उस-उम गति के योग्य कर्मों का भी बंध होता है। आयुष्य कर्म तो कभी एक ही बार बंधता है बाकी तो समय-समय ज्ञाना-वरण आदि सातों कर्म बंधते ही रहते हैं। अब सोचने की बात यह है कि यदि जीव व रंवार आर्तध्यान में ही पड़ा रहता हो, तो सोचिए कि तिर्यच गति के योग्य कर्मों के जत्थे प्रति समय किस प्रकार के व कितने संग्रह करता रहता होगा ? इसलिये आर्तध्यान से बहुत ही बचकर रहना चाहिये।

**ध्यान तो रोकड़ा सौदा है।** जैसा ध्यान करेंगे, वैसा कर्म तुरन्त लगे ही समझो। इसमें क्षण भर की भी उधारी नहीं चलती। ध्यान और कर्मबन्ध का सीधा सम्बन्ध है, इनके बीच किसीका हस्तक्षेप नहीं, किसीकी अपेक्षा नहीं। अग्नि में हाथ डालोगे तो तुरन्त हाथ जलेगा ही। इसी तरह शुभ ध्यान करोगे तो तुरन्त शुभ कर्म बंधेगा, अशुभ ध्यान से अशुभ कर्म। इसीलिये अगर पापकर्म का संचय नहीं चाहते हो, तो आर्त व रौद्र ध्यान को रोकना ही आवश्यक है, उन्हें उठने ही मत दो।

### चार ध्यान के अर्थ :-

‘आर्तध्यान’ में जो ‘आर्त’ शब्द है, वह ‘ऋत’ शब्द पर से बना है। (१) ‘ऋत’ यानी दुःख, दुःख के निमित्त से होने वाला क्लिष्ट अध्यवसाय, रागद्वेष के संक्लेश वाला मनोभाव, उस ‘ऋत’ पर पैदा होने वाला ध्यान, वह आर्तध्यान। अथवा (२) ‘अर्ति’ यानी मन की राग द्वेष को पीड़ा। ‘अर्ति’ में से जो उत्पन्न हो, वह आर्तध्यान। उदाहरण के लिये :- कपड़े के मैल पर नजर गयी

और मन में लग जाय कि 'यह मैत्र कब दूर हो ?' यह आर्तध्यान कहलाता है। मन को चिन्ता क्यों हुई ? मैत्र के प्रति द्वेष का संक्लेश जागा, इसीलिये। उजले-उजले चमकते कपड़े को देखकर हुआ 'यह उजलापन टिके, तो अच्छा। कपड़ों को ऐसा सम्हाल कर रखूँ कि वे उजले ही रहें, मैले ही न हों।' यह ध्यान किसमें से पैदा हुआ ? कपड़े की जगमगाहट के राग की पीड़ा में से। इसलिये राग या द्वेष की पीड़ा में से जन्म लेने वाला ध्यान, वह आर्तध्यान।

(२) 'रौद्र ध्यान' यानी रुद्रता-क्रूरता में से पैदा होने वाला ध्यान; क्रूरता - कठोरता से व्याप्त ध्यान ! उदाहरण के लिये:- क्रूर हृदय से किसी (१) हिंसा (२) झूठ, (३) चोरी या (४) धन आदि के संरक्षण पर मन का लक्ष्य लग जाय, यह रौद्रध्यान है। आर्तध्यान से भी यह रौद्रध्यान अधिक उग्र है, भयंकर है, अति तामसी भाव वाला है।

(३) धर्मध्यान को 'धर्म्यध्यान' भी कहा जाता है। 'धर्म्य' अर्थात् धर्म में से उत्पन्न होने वाला। धर्म दो प्रकार का है - (१) श्रुत - धर्म और चारित्र्य धर्म। इस शुद्ध धर्म में से जो निर्मल ध्यान पैदा होता है, वह धर्मध्यान या धर्म्यध्यान कहलाता है। उदाहरण के लिये :- जिनागम पढ़े, याद करें, उसमें से यह ध्यान जगा कि 'अहो ! कैसी अलौकिक जिनवाणी !' 'कैसे तर्कसिद्ध जिनवचन !' तो यह धर्मध्यान हुआ। इसी तरह चारित्र्य का निर्मल पालन करते हुए ध्यान लगा - 'चारित्र्य में कितनी स्वस्थता ! जब कि अविरति में राग-द्वेष की कैसी विडंबना। कैसी अस्वस्थता ! तो यह धर्मध्यान हुआ कहा जाता है।



(४) शुक्लध्यान: - 'शुक्ल' शब्द का अर्थ है - (१) आठ प्रकार के कर्म मल का जो शोधन करे, वह 'शुक्ल', अथवा (२) शोक को जो पीड़ा दे, शोक का नाश करे, वह 'शुक्ल'। ऐसा ध्यान शुक्लध्यान कहलाता है। यह बहुत ही उच्च कोटि का ध्यान है। यह ध्यान वीतराग सर्वज्ञ बनने से पूर्व आता है। इसकी भूमिका तैयार करनेवाला धर्मध्यान है। धर्मध्यान के खूब अभ्यास से मन के बाह्य विकल्प कम हो जाते हैं, इसी तरह बाह्य का आकर्षण व महत्व भी घट जाता है। इससे मन में स्थिरता बढ़ती जाती है। बाद में मनोबल से ऐसी स्थिरता पैदा होती है कि मन किसी सूक्ष्म पदार्थ पर इस तरह चिपक जाता है कि ध्याता व ध्यान का भेद नहीं रहता। 'मैं ध्याता हूँ, मैं यह ध्यान कर रहा हूँ' यह भेद भुला दिया जाता है। ऐसी राग-द्वेष से मुक्त लीनता वाला ध्यान, वह शुक्लध्यान है।

ऐसी स्थिति की ओर पहुँचने के लिये धर्मध्यान के जोरदार अभ्यास की जरूरत होती है। यह धर्मध्यान भी कोरा चिन्तन ही नहीं है, किन्तु साथ ही साथ ऊँची विरक्त दशा है, बाह्य की अलिप्तता-निः संगता की ओर झुकाव है।

मन को बाह्य पदार्थों का आकर्षण घटे, यहाँ तक कि अपनी काया का आकर्षण भी कम हो, काया का भी महत्व न लगे, यह बहुत जरूरी है। क्योंकि अन्त में कहाँ जाना है? वीतराग दशा में। इतनी तो समझ ही रखियेगा कि सर्वज्ञता वीतराग बने बिना नहीं आती। संपूर्ण वीतरागता आने के बाद ही संपूर्ण ज्ञानावरणीय कर्म का नाश होता है और संपूर्ण ज्ञान 'केवल ज्ञान' प्रकट होता है। १० व गुणस्थानक के अन्त में वीतराग बन

जाता है, और बाद में ही १२ वें गुणस्थानक के अन्त में समस्त ज्ञानावरणकर्म नष्ट होने पर केवलज्ञान होता है ।

यह इस बात का सूत्रक है कि सच्चा ज्ञान प्रकट करने के लिये थोड़े-बहुत प्रमाण में रागद्वेष को धक्का लगना चाहिये । सब जगह 'ज्ञान पाओ, ज्ञान पाओ' की आवाज तो बहुत सुनी जा देती है लेकिन 'राग द्वेष कम करो, राग-द्वेष कम करो,' ऐसी आवाजें कभी सुनी ? वास्तव में तो सबसे पहले यही आवाज लगानी चाहिये । ढेर सारा ज्ञान पा लिया, लेकिन रागद्वेष को थोड़ा भी धक्का न लगाया, तो वह ज्ञान आत्मतारक नहीं बनता ।

**राग द्वेष की आंधी चढ़ी हो, वहाँ तक सच्चा ज्ञान-प्रकाश आ ही नहीं सकता ।**

प्र० परन्तु राग-द्वेष की खराबी समझने के लिये भी पहले ज्ञान की जरूरत तो होगी न ?

उ० जरूर होगी । लेकिन यह बनाविधे कि पहले सोपान र ज्ञान किसका चाहिये ? आज की धर्महीन स्कूल, कालेज की शिक्षा का नहीं, किन्तु ज्ञान चाहिए आत्मा का । अपनी आत्मा का मान होने के बाद ही अन्य तत्त्वों का मान होता है और राग-द्वेष की बुराइयाँ ध्यान में आती हैं ।

इसीलिये तो कहा गया है—

**'आत्माऽज्ञानभवं दुःख-मात्मज्ञानेन हन्यते ।'**

अर्थात् दुःखमात्र अपनी आत्मा को भूल जाने से पैदा

हुआ है, और वह दुःख तभी नष्ट होता है, जब आत्म ज्ञान होता है, स्वात्मा का ख्याल आता है। इसका कारण यही है कि जहाँ आत्मा का ही भान न हो वहाँ उसके रोग विकारों का भी ख्याल कैसे हो सकता है ?

रागद्वेष, विषय-लगन, हर्ष-शोक आदि आत्मा के रोग हैं, विकार हैं। इनसे ही प्रत्यक्ष में मन दुःखी बनता है और इनसे कर्म बन्धन बढ़ते-बढ़ते भविष्य में जो बुरा दुःखी बनता है। गहराई से देखेंगे तो पता चलेगा कि 'दुःख क्यों आया अथवा दुःख क्यों लगा ? मूल में कहीं पर राग या द्वेष था, इसीलिये।' यह तो हुई साक्षात् दुःखकारिता की बात। जब कि भावी दुःख-कारिता तो नजर के सामने ही दिखती है कि राग द्वेष के कारण से ही हम संसार में भटकते हैं।

इस तरह रागद्वेष के कारण दुःख, पीड़ा, बेचैनी पैदा होती है। बुखार आदि के कारण जैसे पीड़ा होती है इसीलिये वह रोग कहलाना है। शरीर का, शरीर की धातुओं का यह विकार है। इसी तरह राग-द्वेषदि भी पीड़ाकारक होने से आत्मा के रोग हैं, विकार हैं। वास्तव में तो रागादि ही रोग हैं।

जब आत्मा का ही भान न हो, तो फिर उसके रोग विकारों का तो भान ही कहाँ से हो ? इसमें द्वेष विकार की अपेक्षा रागविकार भयंकर है; चूँकि द्वेष तो शायद फिर भी बुरा लगेगा, लेकिन राग तो कभी बुरा लगता ही नहीं। 'हमने न्याय से पैसे कमाये, तो फिर उन पैसें पर प्रेम तो होगा ही न ?' मन को ऐसा लगता है। इसी तरह खानपान, स्वजन सम्बन्धी आदि पर राग करने में 'कुछ गलत करते हैं, ऐसा नहीं लगता। तो

फिर “राग सबसे बड़ा जल्लाद है, सबसे पहला रोग है, विकार है”, ऐसा तो लगेगा ही कैसे ? ऐसा क्यों ? तो कहिये कि वास्तव में तो काया के पिंजरे में कैद अपनी आत्मा का हो, भान नहीं है ।

## आत्मज्ञान कैसा होता है ?

यदि ऐसा आत्म भान होता कि-‘हर जन्म में मेरी आत्मा को नयी-नया काया में, कैद होना पड़ता है और उसी काया में अच्छे या बुरे कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं । पूर्व जन्म का स्मरण पाने वाले यह साबित कर रहे हैं । अतः मैं एक जन्म की नहीं, जन्म-जन्म की सनातन, शाश्वत आत्मा हूँ । यदि ऐसा भान होता, तो मन को ऐसा लगता कि फिर मुझे एक जन्म की चीजों पर व्यर्थ ही राग करने की क्या जरूरत है ? राग करने से फायदा भी क्या ? इस एक जन्म में भी जो चीज सदा के लिये टिकने वाली नहीं है, टिक भी जाये तो इस जन्म के अन्त में जो वस्तु अवश्य विखरने वाली हो है, उसके लिये नाहक राग-द्वेष क्यों किये जाये ?’ ऐसा सोचने से राग-द्वेष को धक्का लगता; और इससे दुःख में भी कमी होती । परन्तु बुनियादी तौर पर यदि आत्मा का ही भान न हो तो फिर राग-द्वेष रोग या विकार रूप लगने की तो बात हो कहाँ ? शास्त्र से जाना तो सही कि ‘आत्मा जैसी स्वतंत्र वस्तु है’, परन्तु जीव यदि राग द्वेष छूट से व उत्साह से करने को चाहता है तो ‘अन्तर में आत्मा का प्रकाश हुआ’, ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? आत्म ज्ञान आया, ऐसा कैसे माना जा सकता है ?

प्रकाश यानी ज्ञान वही वास्तविक माना जाता है कि

जहाँ मूलभूत रोगरूप राग-द्वेष को थोड़ा बहुत धक्का लगे ।

इससे रहित ज्ञान प्रकाश रूप नहीं, अन्धकार ही है, अज्ञान रूप है । अतः ज्ञान पाने के साथ-साथ राग-द्वेष को धक्का लगाने की जरूरत है । जैसा ज्ञान, वैसा ध्यान । शुभ ध्यान वही है कि जिसमें राग-द्वेष का जोर कम हो, बाह्य वस्तु को महत्व न दिया जाता हो, उसका आकर्षण न हो । वह महत्व न दिया जाय, तो ही उसके निमित्त से राग-द्वेष उछलते नहीं रहेंगे । अतः ध्यान में मन का एक विषय पर स्थिर केन्द्रीकरण करना जरूरी तो है ही, परन्तु साथ ही साथ, राग-द्वेष पर नियंत्रण भी आवश्यक है ।

**अकेला 'ॐ अर्ह' का ध्यान अधूरा है :-**

इस पर से आप समझ सकेंगे कि अकेले 'ॐ' या 'अर्ह' का ध्यान लेकर बैठ जाने से कोई काम सिद्ध नहीं होता राग-द्वेष पर प्रहार पड़ना चाहिये और यह प्रहार रागद्वेष की प्रतिपक्षी भावना से ही पड़ सकता है । यह धर्मध्यान में मिल सकता है ! इसीलिये तो 'अष्टक' शास्त्र की टीका में यही बात स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि धर्मध्यान के एक प्रकार-'अपाय विचय' में राग-द्वेष के अनर्थ का चिन्तन किया जाता है, इससे राग-द्वेषादि के संस्कार घिसते चले जाते हैं, जब कि मात्र 'अर्ह' के ध्यान में तो, 'ध्यान पूरा करने के बाद सुषुप्त रागादि के संस्कार ज गूत हो जाते हैं ।' 'अर्ह' के ध्यान से 'अर्ह' के संस्कार पड़ते हैं और अरिहंत के प्रति भाव बढ़ते हैं, परन्तु इससे इन्द्रिय विषयों का राग-आकर्षण किस प्रकार कम हो ? राग के संस्कार कैसे घटे ?

उन्हें घटाने के लिये तो राग की विरोधी भावना की जानी चाहिये । पातंजल योगदर्शन भी कहता है कि 'प्रतिपक्षी भावना से रागादि संस्कारों का ह्रास होता है ।' जैन दर्शन तो यह कहता ही है । इसीलिये तो अनित्य-अशरण आदि वारह भावनाओं में एक 'आश्रव भावना' भी रखी गयी है और चार प्रकार के धर्म-ध्यान में एक 'अपाय विचय' ध्यान भी बताया गया है ।

आश्रव भावना में यह चिन्तन करना है कि 'अहो ! ये इन्द्रियाँ, ये राग-द्वेष, कषाय, मिथ्यात्व, अन्नत (अविरति) आदि कैसे भयानक आश्रव हैं ! कि इनसे आत्मा में कितने कर्म बहते चले आते हैं । ' इस तरह एक-एक आश्रव को लेकर उससे बंधने वाले विविध कर्म और उनके दुःखद फल का विचार होता है, उनके उदाहरण-दृष्टान्तों पर विचार होता है, जिससे आश्रवों के प्रति नफरत पैदा होगी, दिल दुःखी होगा, जिसके फल स्वरूप रागादि आश्रवों के संस्कार क्षीण होने जायेंगे व रागादि की ममता, रागादि की पकड़ ढीली पड़ जाएगी ।

अपाय विचय में इन्हीं रागादि आश्रवों से होने वाले अनर्थ का ध्यान होगा । आश्रव भावना में 'चिन्तन' तो आश्रवों के बारे में ही चलेगा, परन्तु चित्त उसीके एक विषय पर से दूसरे विषय पर और दूसरे से तीसरे पर चिन्तन करेगा । जब कि 'ध्यान' में तो एकाग्र चिन्तन होता है, आश्रव के एक विषय पर चित्त केन्द्रित बन जाता है, तन्मय बन जाता है । यहाँ रागादि के एक अनर्थ पर तन्मय चित्त केन्द्रित हुआ, मतलब उसका तन्मय चिन्तन हुआ, इसका असर ज्यादा पड़ेगा । हृदय वेधी व कलेजे को हिला देने वाले ऐसे चिन्तन से रागादि के संस्कार पर जबरदस्त प्रहार



होगा और संस्कार में बहुत घिसाई होगी, इससे रागादि की पकड़ ढोली पड़ जाएगी ।

पुनः पुनः आश्रय भावना का चिन्तन करने से यह अश्रय ध्यान सुलभ बनता है और यही रागदि के जोर को कम कर सकता है ।

रागद्वेष के संस्कार कैसे ढोले पड़े ?

हमारी मूल बात यह थी कि ध्यान ऐसा चाहिये जिससे रागादि का धक्का पहुँचे । इसके लिये, क्या करना चाहिये ? यही कि जिससे राग-द्वेष पोषण पा रहे हैं, ऐसे आर्तध्यान का जोर घटाना पड़ेगा । यदि उसकी भयानकता समझ में आ जाय, तो उसका जोर कम करने में आसानी होगी । यह भयानकता समझने के लिये पहले यह जान ले कि चालु जीवन में कैसे-कैसे विभिन्न प्रकार के आर्तध्यान कैसे बड़े पैमाने पर चल रहे हैं ? चलिये, इसके लिये आर्तध्यान के ४ प्रकारों का परिचय पा ले ।

### आर्तध्यान के ४ प्रकार

(१) अनिष्ट वियोग या असंयोग का चिन्तन :-

ध्यानशतक प्रकरण में चारों ध्यान में से प्रत्येक के ४-४ प्रकार बताये हैं । इसमें आर्तध्यान के ४ प्रकार इस तरह हैं,

- (१) अनिष्ट विषयों के वियोग का या असंयोग का चिन्तन ।
- (२) वेदना के वियोग या असंयोग का चिन्तन
- (३) इष्ट विषयों में अवियोग या संयोग का चिन्तन
- (४) ऋद्धि प्रार्थनामय निदान ।

## (१) अनिष्ट के वियोग या असंयोग का चिन्तन :-

आर्तध्यान के इस प्रथम प्रकार का अर्थ है-‘नापसन्द शब्द, रूप, रस आदि विषयों के वियोग या असंयोग का चिन्तन ।’ इसमें मन ऐसा लयलीन बनकर चिन्तन करता है कि ‘यह अनिष्ट, नापसन्द विषय टल जाए तो अच्छा, न आये तो अच्छा ।’ उदाहरण के लिये-गर्मी की ऋतु आयी हो, जोरदार गर्मी पड़ रही हो, तो वह अच्छी नहीं लगती । उस समय मन में यही लगा रहता है कि ‘यह गर्मी कम हो जाय, तो अच्छा हो ।’ इस मुद्दे पर मन का केन्द्रित होना, यह है-आर्तध्यान ।

यह आर्तध्यान उस-उस विषय के प्रति अरुचि या द्वेष से मलिन हुए हृदय में उठता है । जहाँ पर यह द्वेष नहीं है, वहाँ आर्तध्यान होने का सवाल ही नहीं रहता, चाहे विषय कैसा भी असुन्दर क्यों न हो ? उदाहरण के तौर पर, -आयंजिल (रुखव्रत) करने वाले को रूखे भोजन के प्रति द्वेष नहीं है, इसलिये उसे ऐसा नहीं लगता कि ‘ऐसा रूखा भोजन क्यों मिला ? यह टल जाये तो अच्छा ।’ इस पर से-आर्तध्यान को रोकने की यह चाबी मिलती है कि ‘यदि आर्तध्यान को रोकना हो तो अनिष्ट लगने वाले विषयों के प्रति द्वेष या अरुचि निकाल फेंकिये ।’

सबसे पहली बात यह ‘दिन भर में कितने अगणित आर्तध्यान चलते हैं’ उनका हिसाब निकालिये, और इतने ढेर-सारे आर्तध्यान से कितने अशुभ कर्मों का गंज आत्मा पर इकट्ठा हो जाता है, इसका विचार करिए । विचार करके इसका भय पैदा कीजिए ।’ बाद में आर्तध्यान को रोकने या कम करने का मन होगा और यह चाबी लगायी जा सकेगी ।

अब यह सोचिए, यह आर्तध्यान कहाँ-कहाँ होता है ?

### भूतकाल सम्बन्धी आर्तध्यान :-

आर्तध्यान में तीनों काल का समावेश है भूतकाल के किसी अनिश्चित विषय को लेकर सोचे कि 'वह साधन तो कैसा बुरा था ? उसके कारण मुझे कितनी परेशानी पड़ी थी ? अच्छा हुआ कि वह साधन दूर हो गया ।' ऐसे विचारों में मन एकाग्र बनकर यदि स्थिर बना, तो वह भूतकाल सम्बन्धी अनिष्ट वियोगानुबन्धी आर्तध्यान हुआ ।

### (२) भविष्य सम्बन्धी आर्तध्यान :-

भविष्य के लिये ऐसा विचार करना कि 'शायद भविष्य में ऐसा अनिष्ट होने की संभावना है तो 'यह अनिष्ट कैसे टलेगा ?' ऐसे विचार में मन क्षण भर के लिये भी केन्द्रित हो जाय, तो यह भी भविष्य सम्बन्धी अनिष्ट-वियोग का ही आर्तध्यान है ।

इसी तरह भूतकाल के सम्बन्ध में ऐसा विचार करना कि 'उस समय वह आपत्ति आने का संभावना थी, अनिष्ट होने की संभावना थी, लेकिन अच्छा हुआ वह आपत्ति आयी ही नहीं ।' यह मन का भूतकाल संबंधी प्रणिधान है, अनिष्ट-संयोग का आर्तध्यान है ।

इसी तरह भविष्य के लिये सोचा जाय कि 'आगे ऐसा अनिष्ट या ऐसी आपत्ति आने की संभावना है । परन्तु अपने पास तो ऐसे संयोग हैं, ऐसी साधन- सुविधा है कि वह आपत्ति हम पर

डैरा नहीं डाल पायेगी ।' भविष्य सम्बन्धी ऐसा एकाग्र विचार अनिष्ट संयोग का आर्तध्यान है ।

### (३) वर्तमान सम्बन्धी आर्तध्यान —

यदि मन ऐसे एकाग्र चिन्तन में लग जाय कि 'यह आपदा कैसे टले ?' अथवा 'यह आपात्त अब तो टल गयी, किन्तु आगे भी न आये, तो अच्छा होगा ।' अथवा 'यह अनिष्ट दूसरों का हुआ, अपना नहीं हुआ, यह अच्छा है ।' यह वर्तमान काल सम्बन्धी अनिष्ट के वियोग या असंयोग का आर्तध्यान है ।

### कैसे - कैसे आर्तध्यान चालु हैं ?

यह विचारणीय है कि जीव को कितने - कितने प्रकार के अनिष्ट हैं ? छोटी-से-बड़ी कितनी-कितनी आपत्तियाँ हैं ? उनके हर एक क भूतकाल, वर्तमान या भविष्य काल सम्बन्धी कैसे-कैसे आर्तध्यान होते हैं ?

उदाहरण के लिये :- खिचड़ी या रोटी खानी अच्छी नहीं लगती । अब भोजन में ये ही चीजें आयी, इसलिए खानी तो पड़ेंगी ही । उस समय मन ऐसा विचार करने लगे कि 'यह कहाँ से आयी ? ऐसी गन्दी चोज थाली में न आयी होती तो अच्छा होता ।' यह अनिष्ट सम्बन्धी आर्तध्यान हुआ । ऐसी कितनी ही चीजें होंगी, जिन्हें हम खाना पसन्द नहीं करते । इसी तरह पीने के लिये भी कितने ही पेय पदार्थ हमें नापसन्द होंगे । जैसे-गर्मी के दिनों में गरम पानी, शीत ऋतु में मटके का ठंडा पानी अनिष्ट लगता है । इसी तरह पहनने के वस्त्र, घर, फर्नीचर,

घर का अन्य सामान, इनमें भी कई चीजें अनिष्ट लगती हैं । इसी तरह ऐसा नौकर, ऐसा पत्नी, ऐसे बच्चे, ऐसे पड़ोसी, ऐसे रिश्तेदार अनिष्ट लगते हैं । ऐसे ही टेक्स, कंट्रोल, व्यापार के लिये करने पड़ते स्टेटमेंट, महंगाई, नापसन्द नौकरी, नापसन्द धंधा या भागीदारी, गुलामोभरी दलाली, मिजाजी ग्राहक, कपटी व्यापारी, आदि अनिष्ट लगते हैं । इसी तरह अपमान, तिरस्कार, दूसरों को मिलने वाला सम्मान, दूसरे की समृद्धि-कमाई-साधन सामग्री ठाठ आदि अनिष्ट लगते हैं । इस तरह अनगिनत पदार्थ ऐसे हैं जो अनिष्ट लगते हैं, नापसन्द होते हैं । उनकी कहाँ तक गिनती करें ? तो उन अनिष्ट पदार्थों के वियोग या असंयोग के लिये किए जाने वाले वर्तमान - भूत व भविष्य काल सम्बन्धी आर्तध्यान भी कितने है ? उनके अनुसार पारावार (पार बिना के) अशुभ कर्मों के ढेर आत्म घर में इकट्ठे होते ही जाते होंगे !

इन सब आर्तध्यानों का कैसा परिणाम होगा ? इन सब पर गहराई से चिन्तन कीजिये, तो सचमुच आपको संसारी जीवन पर ही घृणा होने लगेगी ।

ऐसा क्यों होता है ? जड़ को बहुत महत्त्व देने से जीव जल्दी से आर्तध्यान में पड़ जाता है ।

चाहे कोई मामूली प्रसंग ही क्यों न हो ? लेकिन जहाँ जीव किसी जड़ पदार्थ को महत्त्व देने गया कि समझो आर्तध्यान में पड़ ही जाता है ।

**चंडकोशिक के जीव साधु को छोटे साधु ने याद**

दिलायी कि 'महाराज ! आप के पाँवों के नीचे एक मेंढकी कुचल गयी।' वहाँ बड़े साधु ने स्वयं की बड़ाई को महत्त्व दिया, इसीलिये वह मन में सोचने लगा- 'यह साधु कितना नादान है कि मुझे हाका पाड़ता है !' वस तुरन्त आर्तध्यान में पड़ गये। छोटे साधु ने दूसरी बार पुनः याद दिलायी, वहाँ कोई असर नहीं। तीसरी बार जैसे ही याद दिलायी कि साधु उछल पड़े- 'क्या गाँव की सारी मेंढकियाँ मैंने ही मारी हैं ?' अर्थात् 'दूसरी मेंढकियाँ किसी के पाँवों तले कुचलकर मरी होंगी, इसी तरह वह मेंढकी भी किसीके पाँवों के नीचे आ गयी होंगी।' बात को कैसे उड़ा दिया ? बाद में भी चित्त में यही बात घूमती है कि 'यह कैसा नादान साधु मिला है ? मुझे नीचा दिखाता है ? इसकी यह वक-वक सदा के लिये वन्द हो जाय तो अच्छा !' स्वयं की बड़ाई के आर्तध्यान के कारण, 'मकान में जाने के बाद दो-तीन बार मुनि के द्वारा मेंढकी की हिंसा की याद दिलाने पर वे क्रोध से भड़क उठे और रात के अंधेरे में छोटे मुनि को मारने दौड़े। इसका कारण क्या ? यही कि अन्तर में रहा हुआ आर्तध्यान, कि इस मुनि की वकवास कैसे बंद की जाय ?' प्रायश्चित्त, क्षमा आदि आत्मिक वस्तु के बदले जड़ बड़ाई को अधिक महत्त्व दिया, इसीलिये आर्तध्यान में पड़े।

## सुदर्शन सेठ ने आत्मगुण को महत्त्व दिया

दूसरी ओर सुदर्शन सेठ की महानता देखिये ! जब सुदर्शन सेठ पर अभया रानी ने झूठा आरोप लगाया कि यह तो मेरे शील को भंग करने आया था, तब राजा ने सेठ से पूछा- 'आप तो इतने इज्जतदार व्यापारी हैं। कहिये, रानी के कथन में कहाँ



तक सच्चाई है ?' इतना सब कुछ होने पर भी सेठ को आर्तध्यान नहीं हुआ कि यह तोहमत-आरोप कैसे टले ? सेठ ने स्वयं की महत्ता को नकार दिया । इसीलिये वे मौन ही रहे किसी प्रकार का स्पष्टीकरण नहीं दिया । वे तो अहिंसादि आत्मगुणों को महत्त्व देते थे । उनके मन में एक ही बात थी कि 'मेरे शील का रक्षण तो हो गया, परन्तु अब तो अहिंसा का अवसर है । यदि राजा को रानी की सारी वास्तविकता बता दूँ, तो न्याय प्रिय राजा उसे भयंकर सजा देंगे । किन्तु रानी के दुःख में मैं निमित्त क्यों बनूँ ? अहिंसा के मर्म को बराबर संभाल लूँ ।' अहिंसा का मर्म यही है कि स्वयं दूसरे की हिंसा न करना, इतना ही नहीं, परन्तु दूसरे की हिंसा हो, ऐसा निमित्त भी खुद नहीं देना ।

सुदर्शन सेठ की विचारधारा कितनी उच्च है ! शील की सुरक्षा करने के बाद अहिंसा व्रत को भी बनाये रखना है । ऐसा कैसे हो सका ? कहिये, 'वहाँ पर सेठ के अनिष्ट आरोप कैसे मिट जाये', ऐसा आर्तध्यान नहीं था । इसका कारण यही था कि—

उन्होंने दुनिया की जड़, बड़ाई को महत्त्व नहीं दिया, किन्तु अहिंसा को—आत्मगुण को महत्त्व दिया ।

**जड़ को महत्त्व देने से आर्तध्यान क्यों ?**

जड़ को महत्त्व देने से कदम-कदम पर आर्तध्यान आता है । हमें ऐसा कोई उत्कृष्ट पुण्य नहीं मिला है कि जिससे सब कुछ हमारे अनुकूल व उत्कृष्ट ही मिल जाय । पुण्य में बड़ी कमी होने से बहुत-सा अनिच्छित भी बन जाता है । अब यदि

अनुकूल जड़ को महत्त्व दिया है, उसी का आग्रह रखा है, तो सहज ही है कि 'वह नापसंद चीज कैसे दूर हो, उससे कैसे स्वयं वचूँ' इसी बात में मन केन्द्रित रहा करेगा ।

## आत्मा को महत्त्व देने से क्या होता है ?

यदि आत्मिक वस्तु को महत्त्व दिया जाता हो, एवं मन को आत्मिक नुकसान का भय लगता हो, इतना ही नहीं पर आत्मिक लाभ ललचाता हो, तो जड़ इष्ट या अनिष्ट के आने या जाने से मन को कोई फर्क नहीं पड़ता ।

कहा जाता है कि नरसिंह मेहता कहीं पर भजन कर रहे थे । उस वक्त किसी ने आकर उन्हें कहा— 'मेहता ! यहाँ क्यों बैठे हो ? घर पर आपकी पत्नी मर गयी ।' तब मेहता उदास होने के बदले कहते हैं— 'भलुं थयुं भांगी जंजाल सुखे भजणुं श्री गोपाल ।' उन्होंने ऐसा क्यों कहा होगा ? क्या पत्नी अनुकूल नहीं थी ? नहीं, ऐसी बात नहीं थी । वह पत्नी तो बड़ी सेवा करने वाली थी । परन्तु मेहता के मन में कृष्णभजन का महत्त्व था, पत्नी का नहीं ।

## मंत्री तेतलोपुत्र और पोट्टिला :-

'ज्ञाताध्यान' आगम में मंत्री तेतलोपुत्र और उनकी खास पसन्द से विवाहित पत्नी पोट्टिला का प्रसंग आता है । दोनों को एक-दूसरे के प्रति बहुत प्रेम है । परन्तु एक बार मंत्री शायद राज्य प्रपंच में व्यग्र हो गये, पोट्टिला को ऐसा लगा कि 'अब पति मुझ ठीक से बुलाते चलाते नहीं हैं । लगता है, मुझ पर से इनका प्रेम

उठ गया है।' और वह आर्तध्यान में पड़ गयी कि 'मेरे पति किसी तरह मुझसे पहले की तरह ही बातें करें और पूर्ववत् प्रेम दर्शाये।' उसने बाहर से दिखने वाले प्रेम को ही महत्त्व दिया, इसीलिये पति की ओर से वैसा प्रेम न दिखने पर आर्तध्यान में पड़ गयी।

आर्तध्यान में ही वह पति को वश करने के उपाय खोजती है, लेकिन हाथ में कुछ नहीं आता और मन को आर्त-ध्यान सताया करता है। उसे एक बार साध्वीजी मिले। उन्हें अपनी कष्ट कथा सुनायी व उपाय पूछा। तब साध्वीजी ने उसे समझाया।

### दुःखी पोट्टिला को साध्वीजी का उपदेश :-

साध्वीजी ने कहा-'अरी वहन ! तू तो अपने दुःख का सही कारण ही नहीं समझती है, इसीसे दुःखी होती है। पति ठीक से बात नहीं करते, इसके लिये तू दुःखी नहीं है। तू जड़ विषयों को महत्त्व देती है और तेरे दिल में कामवासना सुलग रही है, इसीलिये तू दुःखी है। यदि तुझमें कामवासना न होती और तू जड़ विषयों को महत्त्व न दे रही होती, तो पात का ओर से मोह के लाड़ का अपेक्षा ही नहीं रखती। फिर वह बुलाये या न बुलाये, यह तू क्यों देखती? जीवन जीने की सारी अनुकूलतायें तो फिर सिर्फ इतनी-सी बात के लिये दुःखी होती हैं? ध्यान रखना कि जड़ के मूल्यांकन और कामवासना से जीव अन्तर्भवों में भटका है और यदि यहाँ पर भी इसी का पोषण करता रहा, तो जीव की आगे क्या हालत होगी? जड़ के महत्त्व और वासना को चूर-चूर कर देने का अमूल्य अवसर मानव भव में ही मिला है। इस मानव

भव को बरवाद करने के साथ लंबे समय तक भव में भटकना पड़ेगा। अतः समझदार बनकर वासना को छोड़ दे। विषयों के सेवन से या उन्हें याद करते रहने से वासना पुष्ट होगी। और यह पुष्ट बनी हुई वासना आगामी दीर्घ काल तक त्रास, संताप और विडंबना देगी। इसीलिये जड़ विषयों को महत्व ही मत दे, जिससे वासना नहीं कूदेगी।'

### पोट्टिला समझ गयी :-

साध्वीजी की यह बात पोट्टिला के गले उतर गयी। उसे लग गया कि वास्तव में मैं पति के न बुलाने से दुःखी नहीं हूँ। मैं विषयों को और बाहरी प्रेम को महत्व दे रही हूँ तथा उसकी वासना से जकड़ी हुई हूँ, इस विषय वासना के कारण ही मैं दुःखी हूँ और भविष्य में भी दुःखों को ही न्यौता दे रही हूँ। तो अब छोड़ ही दूँ इसे।' यह सोचकर उसने विषय-प्रेम व कामवासना को छोड़ दिया।

साध्वीजी का उपकार मानकर पोट्टिला पूछती है, 'भगवती ! आपका कहना यथार्थ है। आपने मेरे अन्तर्चक्षु खोलकर मुझे सच्चा दर्शन कराया है, आत्मा कहाँ भूलती है, इसका वास्तविक भान कराया है। तो अब मुझे क्या करना चाहिये ? अब मैं इस भूठे प्रेम की भूख को त्याग देती हूँ। अब आप मुझे मेरे योग्य कर्तव्य बताइये।'।

साध्वीजी ने उसे सम्यक्त्व और श्रावक के बारह व्रत समझाये। इतना सुन्दर समझाया कि पोट्टिला के दिल में ही यह बात बस गयी कि 'मन में अनिष्ट को टालने व इष्ट विषय को

पाने की ही बेकार विचारणा करने से तो सम्यक्त्व और व्रतों की भावना ही क्यों न किया कहुँ ? यह बात ठीक ही है कि-

व्यर्थ की विषयचिन्ता करके मन को आर्तध्यान से विगाडने की अपेक्षा तो सम्यक्त्व व व्रतों की उत्तमता का विचार कर मन को उससे भावित करने में ही बुद्धिमानी है ।

पोट्टिला ने सम्यक्त्व सहित व्रत स्वीकारे और ऐसी सुन्दर भावना के साथ उनका पालन करने लगी कि अपना दुःख तो भूल गयी और अब पति का विशेष आदर भी पाने लगी । त्यागी, तपस्वी, संयमी जीव किसे प्रिय नहीं होगा ? किसे प्यारा नहीं लगेगा ?

मानव जीवन विषयों को महत्त्व देने के लिये नहीं, किन्तु परमात्मा के मार्ग को महत्त्व देने के लिये है, विषय भावना को छोड़कर मार्ग-भावना करने के लिये है ।

यह सत्य समझ जाने से पोट्टिला के चित्त से अनिष्ट को टालने का आर्तध्यान मिट गया । उसके मन में महाशान्ति हो गयी और वह सत्कर्तव्य में लग गयी । परिणाम यह आया कि इसका शुद्ध धर्मी जीवन देखकर पति का प्रेम-सद्भाव और बढ़ गया ! लेकिन अब पोट्टिला के विरक्त मन को उसका कोई महत्त्व नहीं रहा ।

सुदर्शन सेठ ने भी आक्षेप को महत्त्व न देते हुए अहिंसा को महत्त्व दिया । तो आर्तध्यान कहाँ रहे ? झूठा आरोप लगा, वहाँ भी यही विचार रखा-‘आक्षेप आया, कोई हर्ज नहीं । ऐसे कर्म किये होंगे, तभी ऐसा आरोप लगा न ? चिन्ता की बात नहीं,

जो भी कर्मोदय हो सहर्ष सहन कर लेना, परन्तु अहिंसा का मर्म नहीं चूकना ।' ऐसा सुदर्शन सेठ का हिसाब था !

कर्म के उदय को अकाट्य समझ लें, फिर उससे होने वाले अनिष्ट के लिये हाथ-तौबा क्यों करेंगे ? 'यह अनिष्ट कैसे टले, कैसे टले ?' ऐसा आर्तध्यान क्यों होगा ? यदि यह आर्तध्यान न हो, तो अहिंसा के मर्म को कमाने का मौका क्यों छोड़ा जाय ?

यह बात समझने योग्य है कि—

हम सुकृत के कई सुनहरे अवसर किसी-न-किसी आर्तध्यान के कारण ही खो बैठते हैं ।

इसीलिये यदि आर्तध्यान का निवारण करें, तो

(१) सुकृत के अवसर हाथों से नहीं गवाँ येंगे ।

(२) कर्म के अटल उदय पर जागती नजर रखने से अनिष्ट पर एकान्त द्वेष होना बन्द हो जायेगा ।

(३) द्वेष होगा तो कर्म पर ही होगा; जिससे

(४) कर्म को निकालने की शुभ बुद्धि जागृत हो जाए और

(५) अनिष्ट को टालने का आर्तध्यान न करे ।

### आर्तध्यान टालने के ३ महान उपाय : अच्छा तत्व

अनिष्ट या नापसन्द वस्तु को टालने के लिए या रोकने के लिए जो आर्तध्यान होता है, उसे न होने देने के लिये ३ महान उपाय हैं—

(१) जड़ विषयों को महत्त्व न देकर आत्महितकर प्रभु-भक्ति-क्षमा-निस्पृहता आदि को महत्त्व देना ।



(२) कर्म के अकाट्य उदय पर श्रद्धा रखना, उसे टालने के लिये मन में निष्फल विचार न करके अवसर-प्राप्त उच्च साधना का पूर्णतः लाभ उठाना ।

(३) इसके लिए बिगड़े हुए में से अच्छा तत्त्व खोज निकालना ।

सवाल मन का ही है । बार-बार जड़ के विचारों से मन में बुरे संस्कार भरने से क्या फायदा ? क्या जरूरत है ? उत्तम सम्यक्त्व के ६७ व्यवहार और बारह व्रत के बारे में बार-बार विचार कर अच्छे संस्कार भर करके मन को अच्छे संस्कारों से क्यों न भावित किया जाय ? इसका विचार जीवन में कहाँ-कहाँ लागु होता है और चित्त को कैसी शान्ति देता है, यह क्यों न देखा जाय ? और क्यों न स्वीकारा जाय ?

दूसरे उपाय में, आर्तध्यान को एक ओर रखकर शुभ चिन्तन का सुनहला अवसर भड़प लेने में कितनी शान्ति मिलती है ! अच्छा तत्त्व खोजकर उसे ही मुख्यता देने से चित्त को कितनी स्वस्थता प्राप्त होती है !

**बिगड़े हुए में से अच्छा तत्त्व खोजिए :-**

इसमें सावधानी बरतनी होगी । छोटी-छोटी बात में भी आर्तध्यान के कई प्रसंग आते हैं, वहाँ पर यह खोज निकालना है कि 'मन में ऐसी बेकार की बातें सोचने, के बदले खोजिये कि इसमें कोई अच्छा तत्त्व है ?' खोजेंगे तो अवश्य मिलेगा । उदाहरण के लिये-हमारा कोई प्रिय जन नाराज हो गया है । अब उसे कैसे मनाया जाय, ऐसी चिन्ता या सोच का आर्तध्यान

करने से बेहतर तो यही है कि उसका जीवन पुण्य पर छोड़कर जो समय उनको मनाने में व उनसे बातचीत आदि में बीतता, वह समय परमात्मा का स्मरण, भक्ति, जाप, सामायिक या शास्त्र-वांचन में व्यतीत करना । आर्तध्यान में व्यर्थ जाने वाले समय को तत्त्व विचार या नमस्कार भत्र के स्मरण में लगा देना । इससे पुण्य बढ़ने से सामने वाला सहज ही राजी हो जाएगा । या समय बीतने पर सहज ही सामने वाले की नाराजगी कम हो जायगी ।

इसी तरह लड़के ने या नौकर ने कुछ बिगाड़ दिया है, अब यदि वह चीज महत्त्वपूर्ण नहीं है, तो उसकी हाय-हाय न करके चित्त को किसी अच्छे काम में जोड़ दीजिये; और यदि वह चीज महत्त्वपूर्ण है, तो भी आर्तध्यान न करके लड़के या नौकर को उसके दूसरे किसी अच्छे काम की प्रशंसा से प्रोत्साहित करके उसे कहिये कि 'देखो, यह थोड़ी-सी भूल करने की असावधानी तेरी आगे की प्रगति में विघ्नरूप बनेगी । यदि तुझे महान् बनना है, तो इसके लिये सावधानी रखने की बहुत आवश्यकता है ।' इस तरह प्रशंसा करके महान् बनने की प्रेरणा व हितोपदेश दे दोजिये । यह सायकोलोजी है, मानस विज्ञान का नियम है ! इस तरह बिगड़े हुए में से अच्छा तत्त्व खोजने का अवसर आप पा सकेंगे । सिर्फ थोड़ा धीरज धरकर विचार करना होगा । धीरज से देखने पर बिगड़े हुए में भी आपको कोई न कोई अच्छा तत्त्व मिल जाएगा ।

### कर्म का अकाव्य उदय और जड़ की तुच्छता :-

अच्छा तत्त्व खोज निकालने के लिए मन को हल्का रखिये आपत्ति से भारी मत होने दीजिये ।।

१. पूर्वोपाजित कर्मों का अकाट्य बल और २. जड़ वस्तु की तुच्छता, ये दोनों दृष्टि के समक्ष बराबर रहा करेंगे, तो आपत्ति यानी अनिष्ट सम्बन्धी प्रसंग या अनिष्ट पदार्थ से मन भारी नहीं होगा। चित्त, आपत्ति के वियोग के विचारों में नहीं उलभेगा, आर्तध्यान नहीं होगा। यदि हमने समझ लिया है कि 'कर्म के उदय को टाला नहीं जा सकता, जड़ का कोई महत्त्व नहीं है। इसलिये जो भी चलता है, चलने दो। अपना मन महान् है, बहुत ही कीमती है, तो उसे भारी किए बिना उस मन के द्वारा इस प्रसंग में से भी कोई अच्छा तत्त्व क्यों न खोजा जाय ?' इस तरह सोचकर तत्त्व की खोज में लग जाने से आर्तध्यान होना रुक जाएगा।

आर्तध्यान रोकने की यह महान् चाबी है कि मन को हल्का रखकर, कर्म के अकाट्य उदय का और जड़ की तुच्छता का विचार कर, अच्छा तत्त्व खोजकर मन को उसी अच्छे तत्त्व में विरोधा जाय।

मन को हमेशा सोचने के लिए कुछ न कुछ तो चाहिए ही। इसीलिए उसे यदि अच्छा सोचने को न दिया जाए, तो वह बुरे में पडने ही वाला है। इसलिये अच्छा तत्त्व खोजने की रीत सीख लीजिये। चाहे जैसी आपत्ति आये, चाहे जैसा अनिष्ट क्यों न आ जाय हमें तो सूक्ष्म व विशाल दृष्टि रखकर यही देखना है कि इसमें कौनसा अच्छा तत्त्व मिलने की संभावना है ? तब पूछिये कि अच्छे तत्त्व में क्या-क्या आता है ?

अच्छे तत्त्व में तो बहुत-सी वस्तुएँ हैं।

मैत्री भावना, करुणा भावना, वैराग्य भाव, क्षमादि गुण

का अवसर, परिग्रह पर नियंत्रण, हिंसा-आरंभ-समारंभ से वचाव — इत्यादि में से कोई न कोई अच्छा तत्त्व खोजा जा सकता है, मन को उसमें पिरोया जा सकता है। इससे बुरे, व्यर्थ के विचारों से मन को दूर रखा जा सकता है। नहीं तो, कदम कदम पर आर्तध्यान तो खड़ा ही है। क्योंकि पुण्य कच्चा है, जिससे कितना ही अनिच्छित व अनिष्ट तो घटता ही रहता है। जीव भी ऐसा सत्त्व हीन है कि थोड़ी सी कमी पड़ने पर सह नहीं सकता, जैसा-तैसा चलाने में वह खुश नहीं है। फिर आर्तध्यान तो होगा ही न !

अब सोचने की बात यह है कि बार-बार जब आर्तध्यान ही चला करता है, तो इससे किस प्रकार के कर्म बंधेंगे ? तिर्यचगति-योग्य अशुभ कर्मों के ढेर इकट्ठे हो जायेंगे। तिर्यचगति के योग्य पाप कर्मों का बंध होगा ! आप जानते ही हैं कि कर्म सत्ता के यहाँ उधार का काम ही नहीं, यहाँ तो हाजिर का सोदा यानी रोकड़े का हिसाब है ! हृदय के जैसे भाव, जैसे अध्यवसाय, उसी समय वैसे कर्मों का बन्ध होता है ! बार-बार आर्तध्यान चलने से अशुभ कर्मों की बार-बार भारी कमाई होती रहती है। जीव की यह कैसी दुर्दशा ! जरा माप तो निकालिये कि दिन-भर में यह कितना चलता है ? इसीलिये तो इसे रोकने के लिये अनिष्ट में से भी अच्छा तत्त्व देखिये, ढूँढिये। उदाहरण के लिये पैसे कम मिले या गवाँ दिये, इसमें भी, अच्छा तत्त्व खोजकर सोचिये- 'अच्छा हुआ' ! भले पैसे गए पाप तो कम होंगे।' कोई हमें गाली बोलकर गया। वहाँ सोचिये,-

‘अच्छा हुआ, मुझे क्षमा करने का अवसर मिला !’

इस तरह अनिष्ट में भी अच्छा तत्त्व खोज निकालिये, जिससे आर्तध्यान होने का सवाल ही पैदा नहीं होगा ॥

## आर्तध्यान-वेदनानुबन्धी :-

अब आर्तध्यान के दूसरे प्रकार का विचार करें । जीवन में कोई रोग, व्याधि या कोई छोटी-मोटी दुखटना होने पर उसकी पीड़ा मन को व्यथित कर देती है, वहाँ यह वेदनानुबन्धी आर्तध्यान होता है । उस समय मन में बस यही विचार चलता है कि कौन-सा वैद्य या डॉक्टर पकड़ूँ ? कौन-सी दवा लूँ ? पथ्य का किस तरह पालन करूँ ? दवा का समय कब होता है ? अभी तक दवा का कोई असर नहीं हुआ, ऐसा कद तक चलेगा ?....आदि आदि । ऐसी विचारणा में अज्ञान कितना,—

## मानव स्वभाव : स्वयं में ही रुचि :-

जैसे देह के आगे अपनी आत्मा तो किसी गिनती में ही नहीं है । उसका तो कोई विचार ही नहीं ! सिर्फ ऊपर के कवर का ही विचार ! उसी की व्याधि-पीड़ा टालने का ही विचार ! दूसरे से बात करेंगे तो भी उसी के बारे में करेंगे । दूसरे से कुछ सुनना है तो भी उसी के बारे में । उसमें भी स्वयं की काया और स्वयं की नीरोगता को ही इतना महत्त्व देते हैं कि सामने वाला अपने शरीर की व्याधि की बात करे, तो उसके प्रति हमें उपेक्षा होगी, सहानुभूति नहीं, अब महसूस होगी ! हमें तो रुचि है सिर्फ अपनी काया में, अपनी नीरोगता में, अपने रोग से सम्बन्धित बात में ! मानव-स्वभाव कैसा स्वार्थमय है ? सबको अधिक से अधिक रस स्वयं में ही है, स्वयं के स्वार्थ की बात और स्वयं की वस्तु में ही रस है । आस्तिक होते हुए यह कितनी दुःशा ?

## महात्मा की पर हित में रुचि :-

महान आत्माओं के दिल ऐसे उदार हैं कि उन्हें स्वार्थ का नहीं, परमार्थ का व्यसन होता है, यानी पर के भले की बात में उन्हें विशेष दिलचस्पी होती है। स्वयं की भारी पीड़ा की भी वे परवाह नहीं करते, लेकिन दूसरे को थोड़ी भी पीड़ा न हो, इसीकी चिन्ता उन्हें लगी रहती है। देखिए महात्मा खंधक मुनि की परहित रुचि—

राजा द्वारा भेजे गये सेवक खंधक मुनि से कहते हैं—‘हमारे राजा के हुक्म से हम आपकी चमड़ी उतारने के लिए आये हैं।’

तब मुनि खुश होकर कहते हैं—‘यह तो राजा ने बहुत अच्छा किया ! वह तो सगे भाई से भी अधिक मेरा हितेच्छु है। “बाधा रखे तुम हाथे थामे कहो तुम रहिए हो भाया रे” अब तुम्हें भी चमड़ी उतारने में कष्ट न हो, तुम्हारे हाथों को भी तकलीफ न हो, इसके लिए तुम जैसे कहो, वैसा मैं रहूँ।’

कितने महान विचार ! स्वयं के जीते-जी शरीर पर से सारी चमड़ी उतर जाने की पीड़ा का दुःख नहीं, किन्तु चमड़ी उधेड़ने वाले को कष्ट न हो, इसकी चिन्ता ! यही तो उच्च कोटि की महानता है ! ‘अपना दिल महान् है ?’ इसका माप अपनी पीड़ा भूलकर सामने वाले की पीड़ा की चिन्ता करें, उस पर से निकलता है। इससे विपरीत, पर पीड़ा की परवाह ही न करना और अपनी पीड़ा रोकने की या अपनी सुख-सुविधा की सुरक्षा करने की चिन्ता यह अधमता का लक्षण है। अभक्ष्य खाकर बीमारी



मिटायें, महाकर्मादान के धंधे करके पैसे कमायें....आदि में यही अधमता स्पष्ट दिखायी देती है ।

**मानव - जीवन किसलिये :—**

(१) उत्तमता में से अधमता में जाने के लिये ?

(२) अधम के अधम बने रहने के लिये ? या

(३) अधमता में से उत्तमता में जाने के लिये ?

हम पूर्व भव में अल्प कषाय व दानरुचि आदि गुणों से मनुष्य-आयुष्य बाँधकर आये हैं, यानी उत्तमता में से उतरकर अधमता जाया जाय ?

पर पीड़ा की परवाह किये बिना अपनी पीड़ा को ही टालने व सुविधा पाने की दिलचस्पी या रस, अधमता ही है ।

**अभक्ष्य दवा के रसिक मनुष्य मृग भक्षक बाघ, चीते जैसे हैं :—**

बाघ को देखिये । जिंदे हिरण को चबाते हुए वह हिरण की दारुण पीड़ा की परवाह नहीं करता । उसे तो सिर्फ अपनी भूख मिटाने में ही दिलचस्पी होती है । इसी तरह आज की अधर्मी जनता बीमारी के नाम पर अंडों व अभक्ष्य दवा का सेवन करती है, इसमें भी क्या है ? अभक्ष्य दवा बनाने में जीवों को मारने या पीसने से जो घोर पीड़ा होती है, उसकी वे परवाह नहीं करते । उन्हें तो सिर्फ कैसा भी, कुछ भी करके अपना रोग मिटाने की लगन होती है ।

उत्तमता लानी हो तो, चाहे स्वयं को पीड़ा पसंद न हो,  
फिर भी-

(१) दूसरे को पीड़ा देने की बात नहीं होनी चाहिए। और

(२) दूसरों को पीड़ा देकर बनने वाली साधन-सामग्री  
का रस नहीं चाहिये ।

महात्मा ने तो जिंदे ही स्वयं की चमड़ी उधेड़े जाने की  
घोर पीड़ा में भी 'चमड़ी उधेड़ने वाले के हाथों को कष्ट न हो'-  
इसकी चिन्ता की ! तो हम अपनी थोड़ी-सी तकलीफ में भी,  
दूसरे जीवों को मरण तक का दुःख देते हुए भी, विचार न करें ?  
यदि यह विचार न हो, तो समझ लीजिये कि हम पूर्व भव में  
कमायी हुई उत्तमता में से अधमता की ओर उतर गये हैं ॥

पूर्वभव में शायद सिर्फ आयुष्य बांधने के समय ही  
हम अल्प कषाय, दान, रुचि आदि गुणों वाले बने हों,  
जिससे मानव-आयुष्य का उपार्जन कर लिया हो लेकिन वहाँ सारा  
जीवन तो कषायों के आवेश, कृपणता, क्षुद्रता आदि दोषों में ही  
बीता हो, इसीलिये यह स्वाभाविक ही है कि इस जीवन में पर-  
पीड़ा की परवाह नहीं है । अब यह अधमता लेकर यहाँ तो आ  
गये, पर-तु अब यह समझने के बाद क्या करना चाहिए ? अधमता  
चालू रखें या उत्तमता को आर कदम बढ़ायें ? यहाँ पर यदि  
उत्तमता का अभ्यास ठीक से न हुआ, तो आगे फिर कैसे भव  
में यह उत्तमता मिलेगी ? यहाँ पर भी यदि अधमता ही रखी,  
तो आगे न जाने कैसे भव आयेंगे ? यह कुदरत का, कर्मसत्ता का  
का कानून है कि

‘जैसा भाव वैसा भव ।’ यहाँ पर यदि अधमता का ही

अभ्यास रखा है, तो आगे भी अधमता के योग्य ऐसे हल्के भव मिलते हैं, जिसमें इस अधमता का आचरण ठीक से किया जा सके।

तब तो फिर मामला खत्म ही हुआ न? इसका मूल कारण है—यहाँ की अधम जीवन-चर्या। यह अधमता सिर्फ अपनी पीड़ा येन-केनप्रकरेण टालने की चिन्ता से जन्मी।

हमारी बात यह चल रही थी कि रोग-व्याधि-वेदना आने पर हम आत्मा को तो भूल ही जाते हैं। चित्त, काया में ही तन्मय बन जाता है, चित्त बार-बार दवा-शाह, पथ्य-आगम आदि की चिन्ता से व्याकुल बना रहता है। 'यह पीड़ा कैसे दूर हो, यह रोग कैसे टले?' वस, मन में यही एक विचार लगा रहता है। यह वेदनानुबन्धी आर्तध्यान है। यह तो हुआ वर्तमान सम्बन्धी आर्तध्यान।

रोग के मिटने के बाद भी यही विचार लगा रहे कि 'अब फिर से ऐसा रोग ऐसी पीड़ा न आये, तो अच्छा।' यह भविष्य सम्बन्धी वेदनानुबन्धी आर्तध्यान है।

इसी तरह भूतकाल सम्बन्धी आर्तध्यान इस तरह होता है। भूतकाल में व्याधि-वेदना टली, बाद में व्याधि-वेदना नहीं आयी। उसके लिये हर्षित होकर मन को ऐसा न हो कि 'पूर्व में मुझे कैसी व्याधि आई थी! वह मिटती ही नहीं थी। अच्छा हुआ। वह व्याधि दूर हो गयी और फिर से नहीं आयी।' यह भूतकाल सम्बन्धी आर्तध्यान है।

इस तरह तीनों काल सम्बन्धी वेदना के वियोग और अनागमन का आर्तध्यान हो सकता है। इस आर्तध्यान का

कारण है-जीव का (१) अपनी आत्मा को भूलकर, (२) पूर्वकर्म को भूलकर और (३) धर्म को भूलकर सिर्फ काया का रसिक बने रहना ।

अतः इस आर्तध्यान से बचना हो, तो आत्मा, पूर्वकर्म और धर्म, ये तीनों सतत दृष्टि के समक्ष रखिये ।

**वेदना के आर्तध्यान से कैसे बचा जा सकता है ?**

(१) वेदना के आर्तध्यान से बचने का यह उपाय है कि काया के साथ आत्मा का विचार चाहिये । मन को ऐसा लगे कि 'अरे ! मैं इस एक भव की पूँजीरूप काया के रोग-आरोग्य, सुख-दुःख का विचार करता हूँ, लेकिन भवोभव की पूँजीरूप मेरी स्वयं की आत्मा का विचार क्यों नहीं करता ? काया के रोग की अपेक्षा तो आत्मा के कर्मरोग और रागादि व्याधियाँ अधिक हैं और महा भयकर हैं । उन्हें टालने का विचार क्यों नहीं ? उल्टे, इन रागादि भयंकर रोगों के पुष्ट होते जाने का ही धंधा चल रहा है । वास्तव में देखा जाय तो काया के रोग का दुःख तो सामान्य है, लेकिन नीरोगी काया के प्रति राग और काया के रोग के प्रति द्वेष, यह दुःख को बढ़ा देता है ।

यदि ये राग-द्वेष न हों, तो काया के रोग का कोई दुःख नहीं लगेगा । अर्थात् दुःख रोग का नहीं है, किन्तु राग-द्वेष का है ।

घर में देवरानी को बहुत काम करना पड़ता हो और जेठानी सेठानी बनकर बंठी रहती हो, तब यदि देवरानी को कभी बुखार आ जाये, तो वह उसे दुःख रूप नहीं लगता उस पर द्वेष

नहीं होता वह बुझार भी उसे अच्छा लगता है। वह मन में यही सोचती है-‘चलो अच्छा हुआ। मजूरी से तो बचो। अब बुझार जितना देर से उतरे, उतना ही अच्छा है।’ कहिये, इसमें रोग का दुःख कहाँ लगा? अभी उसे निरोगी काया पर राग नहीं है और रोग पर द्वेष नहीं है, इसीलिये रोग दुःखरूप नहीं लगता।

काया के रोग को क्यों रोते हो? जन्मोजन्म दुःख देने वाले आत्मरोगों को रोइये।

यदि आत्मा का विचार हो, तो मन को ऐसा विचार हो, तो मन को ऐसा विचार होता है कि-‘नादान जीव ! काया के रोग को क्यों रोता है? यहाँ और जन्म-जन्म दुःखी करने वाले कर्मरोग की चिन्ता कर; राग-द्वेष, ईर्ष्या-असूया व लोभ-लंपटतादि रोगों की चिन्ताकर हिंसा-असत्य-अनीति आदि के भाव स्वरूप आत्म-रोगों की चिन्ता कर। एवं आत्म रोग को टालने के उपायों में लग जा।’ इस तरह आत्मा के विचार से व्याधि-वेदना का आर्तध्यान नहीं होता।

(२) इसी तरह कर्म के विचार से भी आर्तध्यान सकता है। शारीरिक रोग-बीड़ा आने पर मन को ऐसा लगे कि-‘मैं इन शरीर के रोगों को क्यों रोऊँ? मुझे तो इन रोगों को लाने वाले पूर्वोपाजित कर्म पर रोना चाहिये कि ‘मैंने पूर्व में कैसे बुरे कर्म उपाजित किये होंगे कि जिससे ऐसे रोग-आपत्ति आदि उपद्रव आते हैं। अरे! कर्म का भी क्या दोष? पूर्वजन्म में विचार-बाणी-वर्तन के कसे दुष्कृत्य मैंने किये होंगे जिनसे ऐसे कर्म बंधे? धिक्कार हो उन दुष्कृत्यों को! और धिक्कार हो उन दुष्कृत्य करने वाली मेरी आत्मा को! अब सावधान बनकर ऐसे

दुष्कृत्यों से बचुँ ! रोग की व्याकुलता करता हूँ, तो यह एक प्रकार का आर्तध्यान है और आर्तध्यान भी दुष्कृत्य है, तो मैं पूर्व के पाप से तो रोगी हूँ अब मैं क्यों ऐसे आर्तध्यान से फिर से पाप बाधुँ ? यदि पूर्व में बाधे हुए कर्मों के संबंध में ऐसा विचार किया जाय, तो भी आर्तध्यान नहीं होता ।

प्र०—यह बात समझ में तो आती है, परन्तु रोग की पीड़ा के वक्त यह बात भूल ही जाते हैं । इसका क्या करें ?

उ०—सिर्फ समझ लेने से ही कोई बात अवसर पर याद आये, ऐसा नियम नहीं है और याद आने मात्र से ही मन के भाव बदल जायें, ऐसी बात भी नहीं है ।

**(१) अवसर पर याद नहीं आने का कारण यह है कि:—**

युग-युग के संस्कारों के कारण रोगादि से जीव को व्याकुलता होती है । व्याकुलता न होने देनी, व समताभाव बनाये रखना हो, तो उसके लिये भी वैसे संस्कार चाहिये । वैसे संस्कार बनाने के लिये बार-बार समता भाव की भावना करनी चाहिये । तत्त्व समझने पर भी वह समताभाव जीवन में कहाँ आता है ? समताभाव की भावना मनमें कितनी रमती है ? मन में ताँ दूसरी ही उथल-पुथल मचो रहती है इसलिये संस्कार भी वैसे हो पड़ेंगे, समता भाव के संस्कार कहाँ से पड़ेंगे ? अतः मन में बार-बार समताभाव की भावना लाओ । रोग में मन को ऐसा लगते रहना चाहिये कि

**बाह्य रोग-पीड़ा-आपत्ति, यह तों कर्म रूपी फुँसी का नस्तर चीर-फाड़ है ।**

फोड़ा होने पर हम यह सोचे कि यह तो भीतरी कर्म फोड़े



की पीड़ा है। वह हृदय फोड़े पर डाक्टर के पास हम हमारी लुशी से नस्तर (चीरफाड़) करवाते हैं और उसको दुःख नहीं मानते हैं, वैसे ही विसी ने हम को पीड़ा दी तो हमें यही समझना चाहिए कि 'यह हमारे कर्म-फोड़े' पर वह नस्तर करना है। इस से हमारे कर्म फोड़ 'नष्ट तो हो जाने वाले हैं, वांते हम क्यों दुःख मानें ?'

यह भावना बार - बार करते रहें, तो इसके संस्कार मजबूत होते हैं। बाद में अवसर आने पर कर्म के फोड़े साफ होने के आनन्द में ये संस्कार ही मन में समताभाव लाते हैं। सारांश यह है कि - तत्त्व की समझ को बार - बार भावना में उतारना चाहिये।

'यह नियम है कि प्रतिपक्ष भावना से रागादि काहूँस होता है।

तत्त्व भावना से अतत्त्व के संस्कार घिसते चलते हैं; बाद में अतत्त्व का असर मंद हो जाता है। इसीलिये यहाँ व्याख्यान में सुनने व समझने के बाद बाहर जाने पर भी उसकी भावना चालु रहनी चाहिये। यह अवसर आने पर उपयोगी होता है। बीमारी आने पर ऐसे विचार करने चाहिये -

बीमारी में क्या विचार करें ?

(१) कर्म का निर्धारित उदय अनिवार्य रूप से होता ही है।

(२) बीमारी में इन कर्मों के क्षय हो जाने की महान कमाई का मौका मिलता है।

(३) काया से अधिक आत्मा के रोग की चिन्ता करना व आत्म-रोग को हटाने को महत्त्व देना ।

(४) वेदना से भोगे जाते हुए कर्म से भी अधिक कर्म आर्त ध्यान से बँधते हैं, उनका भार सोचे ।

इस तरह के विचार करने पर आर्त ध्यान को वेग नहीं मिलता । ये ४ बातें अवसर पर तभी याद आ सकती हैं, यदि रोगकाल के बिना भी बार-बार ऐसी भावना की जाय । यह भावना न की जाय, तो इनके संस्कार दृढ़ नहीं होते फिर अवसर आने पर याद कहाँ से आये ?

(२) अवसर पर याद नहीं आने का दूसरा कारण यह है कि :-

जब सुना और समझा, तब उस समझ को हृदय में नहीं बिठाया । युक्तिपूर्ण बात कही गयी हो, जीवत दृष्टान्त दिये हों, सर्वज्ञ वचन की साक्षी भी अच्छी तरह से ऐसी दी गयी हो जिससे बात मन में बराबर बैठ तो जाती है, परन्तु हृदय में सचोट न लगने से अवसर पर भुला दी जाती है, इसमें कोई नयी बात नहीं है । यदि हृदय में बात लग गयी हो, तो हृदय उसके असर से अत्यन्त व्याप्त होता है: जिससे अवसर पर वह बात उपयोगी होती है और आर्तध्यान टालती है ।

‘वैसे तो कई व्याख्यान सुने, वे सब व्यर्थ ही गये’-ऐसा मन को क्यों लगता है ? इसोलिए कि सुना हुआ हृदय में नहीं लगाया, इसी कारण से व्याख्यान निष्फल गये ।

व्यवहार में किसी ने हमें कठोर शब्दों में कुछ जैसा-  
 तेसा कह दिया हो, जिसकी आग हमारे सर से पाँव तक लग  
 रही हो, तो कई दिन, महीने या वर्ष बीत जाने पर भी वह बात  
 हम भुला नहीं पाते। तो यहाँ भी आत्मा को उसके दोष के लिये  
 दी गयी हित शिक्षा क्यों याद नहीं रहती ? हित शिक्षा दिल में  
 लगनी चाहिये दिल पर असर करनी चाहिये। सिर्फ उपालभ या  
 कठोर शब्द ही नहीं, तत्त्व वाणी भी दिल को लग सकती है,  
 दिल पर असर करती है।

आप पूछेंगे -

प्र०-जो हकीकत की बात हो, जैसे कि-‘जगत में धर्मा-  
 स्तिकाय आदि षड् द्रव्य हैं’, ऐसी बात में हृदय को क्या  
 लगाया जाय ?

उ०-ऐसी बात भी हृदय को इस तरह लग जाये कि  
 ‘अहो ! प्रभु ने ऐसे महान विश्वव्यापी षड् द्रव्य उसमें अनन्त  
 पुद्गल व अनन्त जीव बताये हैं, तो फिर मैं कूप मंडूक बन कर  
 सिर्फ नजरो से दिखने वाले अल्प पदार्थों में ही क्यों उलभ गया  
 हूँ ?’ तब यह बात हृदय को लगती है। बाद में इसकी भावना  
 व बारंबार चिन्तना सहज रूप से ही हो जाती है, जिससे अवसर  
 पर रोग या आपत्ति आने पर भी यही चिन्तन होता है, जिससे  
 आर्तध्यान से बचा जा सकता है।

मन यह विचार करे कि ‘आत्मा पर लगे हुए अनन्त कर्म  
 स्कन्धों के कैसे-कैसे विपाक हैं ? यह विपाक तो उनके सामने  
 किस विसात में ?’ अथवा

‘छः छः द्रव्यों में से आकाश द्रव्य के अधोलोक के भग में रहे हुए नरक के जीव, मेरी पीड़ा की अपेक्षा तो छेदन-भेदन आदि की अनंत गुनी पीड़ा सह रहे हैं। उनकी पीड़ा के सामने मेरी पीड़ा किस गिनती में?’ अथवा

‘छः द्रव्य में से आत्म द्रव्य, उसके शुद्ध स्वरूप से तो अरूपी, अमूर्त, रोग-रहित, निर्विकार है लेकिन वर्तमान में जो रोग दिखा है, वह कर्मोदय की उपाधि के कारण है। जहां तक स्फाटक के पीछे लाल कपड़े की उपाधि हो, तब तक स्फटिक लाल दिखायी देता है। वह उपाधि हटा देने पर स्फटिक का मूल रूप दिखता है। इसी तरह कर्मोदय हो, तो रोग आता है, कर्मोदय मिट जाने पर रोग नहीं आता। उस से आत्मा के शुद्ध स्वरूप में कोई हानि नहीं होती, तो आकुल-व्याकुल होने की क्या आवश्यकता है? यह समझ लें कि कर्म और काया, यह छः द्रव्यों में से एक स्वतंत्र पुद्गल द्रव्य है। पुद्गल द्रव्य की शक्ति भी गजब की है। यह पुद्गल द्रव्य जोव का लगा हुआ है, इसलिये वह उसका काम करेगा ही, तो फिर रोग को क्यों रोना? रोना हो तो कारण भूत कर्म उपाधि के लिए रोना। सनत्कुमार चक्रवर्ती के देह में यकायक १३ रोग उत्पन्न हो गये, तो वह उनको न रोया, किन्तु उनके कारणभूत कर्म को नष्ट करने के लिए चारित्र्य मार्ग पर निकल पड़ा।

जहाँ कोई परदेशी तत्त्व घुसे, वहाँ उथल-पुथल तो होती ही है।

वास्तव में देखा जाय, तो कर्म और काया ये परदेशी तत्त्व आत्मा में घुसे हैं। इन्हीं परदेशी तत्त्व से सावधान बनना

है, इन्हें ही हटाना है। येन-कुन प्रसारण देखा जाये तो शायद मिटा भी देंगे, लेकिन आज्ञा के बिना स्वयं प्रवृत्ति से नई कर्म-पुद्गल घुसाये तो दुःख और रोग का कायमो अन्त कहाँ होने वाला है ?

क्या परदेशी तत्त्व का प्रवेश व संबन्ध रखकर सुखी बनना है ? व दुःख-पीड़ा नहीं चाहिये ? यह नहीं हो सकता ।

इसीलिये परदेशी माल रूप कर्म को ही हटाने के सतत प्रयास में रहना है । शान्ति से रोग को सहन करना भी परदेशी तत्त्व रूप कर्म को हटाने का एक रास्ता है । रोग में तो पाप कर्म का कचरा साफ होता है, वहाँ नाराजगी व व्याकुलता कैसे ?

तत्त्व की हकीकत पर भी बार-बार ऐसी भावना की जाय, जो अवसर पर उपयोगी बनती है । यह भावना रोग-वेदना को और दूसरे आर्तध्यान को रोकती है । यदि इस भावना का अभ्यास न होगा तो भूतकाल की वेदना का दर्द याद आयेगा, उसके मजबूत संस्कार आर्तध्यान करावेंगे । इसीलिये, सिर्फ वतमान हो ही, भूतकाल और भविष्य काल संबन्धी आर्तध्यान भी जीव को सताता है । 'यह रोग कैसे मिटे, पहले रोग चला गया, तो अच्छा हुआ, अब भविष्य में भी न आये, तो अच्छा ।' यदि तत्त्व की भावना का खूब अभ्यास नहीं रखा, तत्त्व की समझ का सदुपयोग नहीं किया, तो ये विचार चला ही करेंगे । इसीलिये हर कदम पर इसका सदुपयोग करना आना चाहिये ।

तत्त्व की समझ का पहला सदुपयोग यह है कि आत्मा में

अज्ञान वश जो अशुभ भाव जगते रहते हैं, उन्हें इस तत्त्व की समझ से रोका जाए। और उन्हें अच्छे भावों में बदले जाए।

अनादि काल से जीव की यही कंगाल मनोदशा चली आ रही है कि 'अच्छा मिले, बुरा टले।' यदि अच्छी चीज खो जाय, या बुरी चीज मिले, तो दिल के भाव बिगड़ जाते हैं। कोई रोग आ जाय, तो भी भाव बिगड़ते हैं। यह तो नजरों से दिखता है कि अन्त में तो मरना ही है, वहाँ मरते वक्त-भाव किस प्रकार के रहेंगे? मृत्यु का समय ही एक ऐसी चीज है, जहाँ भले-भले ढीले हो जाते हैं। पूर्व में बारंबार खराब भाव किये हों। और उन्हें जिद् के कारण न छोड़ा हो, तो फिर मौत भी आ जाये, तो ऐसे अशुभ भावों की बुरी आदत नहीं मिट सकती। तो फिर जीवन जीते हुए क्यों ऐसे उग्र कषाय और भयंकर भाव की लत रखना?

### मृत्यु के समय करुण अन्त का दृष्टान्त :-

एक शहर में एक सुखी संपन्न श्रोफ (सरफ) व्यक्ति था। उसे इतना अभिमान था कि वहीं दीक्षा व साधुओं की खूब निन्दा करता। कह भी दीक्षा हो, तो उसे सहन नहीं होता। सुप्रतिष्ठित पेढ़ी, घर में घोड़ा-गाड़ा, घोड़ा भी ऐसा अरबी घोड़ा था कि लगाम से थोड़ा-सा इशारा करते ही भरे बाजार के रास्ते में भी सरपट दौड़ता। वह जब घोड़ागाड़ी में सैर करने निकलता, तो शौक से खुद ही गाड़ी हाँकता। उस समय कोई उसकी मुद्रा देखे, तो अभिमान का पुतला ही लगता। उसके मन में शायद इसी बात का गर्व था कि 'मेरे जैसा घोड़ा और किसी के पास नहीं होगा। मेरा जैसा हट्टा-कट्टा शरीर भी किसी का नहीं



होगा ।' इसी अभिमान में वह दीक्षा का विरोध करता व मुनियों की निन्दा भयकर शब्दों में करता । इसके पीछे उसके दिल में न जाने कितने अशुभ भाव व दुर्ध्यान चला करते होंगे ।

पाप के परिणाम स्वरूप जब बड़े लड़के की शादी का प्रसंग आया, सारी विरादरी को भोजन का निमंत्रण दिया । भोजन-समारंभ का दिन आया । सुबह उठकर चाय-नाश्ता, स्नान आदि नित्यक्रम से निवृत्त हुआ, तब तक तो उसके नाखून में भी रोग नहीं दिखता था । परन्तु यकायक जहाँ सारी विरादरी के लिए जिमण की बाड़ी की ओर जाने की तैयारी में है, वहीं इनका बलड़ प्रेशर बढ़ गया । कहिये कि उसके यहाँ के ही तीव्र पाप के उदय से शरीर में विक्रिया पैदा हुई, दिमाग की नस फट गयी, जीभ खिंचने लगी । उस भाई को अपनी पीड़ा के बारे में और दूसरा भी न जाने व्यापार संपत्ति आदि के बारे में कितना कुछ कहना था, बोलने गया, लेकिन बोल नहीं पाया । 'ओ .. ओ ..' ही करता रह गया । डॉक्टर भी आकर क्या कर पाना ? शास्त्र कहते हैं कि 'अत्युग पुण्यपापानामिहैव लभ्यते फलम् ।' अर्थात् 'अति उग्र पुण्य या पाप के फल यहाँ ही मिलते हैं ।'

तीव्र अशुभ का उदय हो गया हो, तो फिर डॉक्टर भी मरने पड़े देह में प्राण नहीं डाल सकते ।

बेचारा तीन दिन तक 'ओ ओ ..' करता रहा, दिल की बात किसी से नहीं कर सका । सगी पत्नी से भी नहीं, सगे बेटे से भी नहीं । तब कहिये, पूर्व में किये हुए भारी अभिमान व धर्म निन्दा के पीछे हृदय में रहे हुए उग्र अशुभ भाव अब मौत की पराधीन दशा में क्या करेंगे ? अशुभ के उदय ने उसे एकदम

ढीला बना दिया। इस विषम संसार की दशा ऐसी है कि एक अशुभ भाव को छोड़ा कि दूसरा अशुभ भाव तैयार ही है। उसे विचारे को तीन तीन दिन की घोर पीड़ा में शरीर का मूच्छा की प्रेतनीयों के टोले ने ऐसे घेर लिया कि सब ममता के लिये उसकी हाय-हाय का पार नहीं। निंदा-अभिमान के खराब भाव छोड़े, तो ये अशुभ दिमाग पर चढ़ बैठे।

कहिये, जीवन जीते हुए खुश हो-होकर किये हुए उन अभिमान, धर्मद्वेष और धर्मनिन्दा के महा मलिन अशुभ भावों का क्या हुआ? मरण के समय कहाँ गया सारा अरुड़? तो फिर जीवन जीते हुए रात-दिन ऐसे अशुभ भाव करके चित्त को विगाड़ने की जीव की कैसी मूर्खता है? मन के लिए क्या शुभ भाव का भोजन नहीं मिलता, इसलिये अशुभ भाव का जहर खाया जाय?

## तामसभाव के तांडव

### साधना में उमंग-जोश-परिणति

अशुभ भाव तामस भाव में से पैदा होते हैं, शुभ भाव सात्त्विक भाव में से जगते हैं। यदि आपको तामस भाव में रमण न करना हो, तो बिल्कुल अशुभ भाव मत कीजिये।

### एक मुनि का तनिक अशुभ भाव :-

एक मुनि काउसग कर रहे थे। काउसग भी सिर्फ 'इरियावही' का एक लोगस्स का ही था यानी सिर्फ सवा छः

श्लोक का, परन्तु मुनि इतने ऊँचे शुभ भाव और प्रबल ध्यान में चढ़ गये कि उनके अवधि-ज्ञानावरण कर्म टूट गये और उन्हें ऊपर पहले देवलोक तक प्रत्यक्ष देखा जा सके, ऐसा अवधिज्ञान प्रकट हुआ ।

**ध्यान में वह शक्ति है कि अशुभ ज्ञानावरण आदि कर्मों को भी तोड़ दे ।**

जीव शुभ ध्यान का यह महत्व नहीं समझता । इसीलिये तो शुभ ध्यान इतना सस्ता व आसान होने पर भी वह चलाये रखने की बात तो दूर रही, कभी-कभी भी वह शुभ ध्यान करना नहीं आता । मुनि को सिर्फ कायोत्सर्ग में ही शुभ ध्यान में अवधि ज्ञान प्रकट हुआ है और अभी तो मुनि कायोत्सर्ग में ही हैं कि अवधिज्ञान से बहुत-बहुत ऊपर असंख्य योजन दूर वैमानिक का प्रथम देवलोक दिखा । 'वहाँ इन्द्र क्या कर रहा है' यह देखने कि जिज्ञासा होते ही कोने में इन्द्राणी को मनाता हुआ इन्द्र दिखा । व्यर्थ की जिज्ञासा भी बुरी होती है । ऐसी जिज्ञासा होने से मुनि को अवधिज्ञान से जो दिखा, उस पर हँसना आया कि 'अरे ! ऐसा असंख्य देवों का मालिक यह इन्द्र भी स्त्री को मनाने के लिये बैठा है ? इतनी गुलामी ?

**हास्य का करुण अन्तः तामस भाव का पोषण :--**

देखिये, ये हास्य, मजाक आदि अशुभ भाव हैं और इनका परिणाम भी करुण ही होता है ! मुनि को वहीं पर अवधिज्ञान के आवरण कर्म पुनः उदय में आ गये और अवधिज्ञान चला गया । फिर से अंधेरा छा गया ! अब कुछा दिखाई नहीं

देता । अब आप ही बताईये न कि ऐसे अशुभ भाव करने में मूर्खता नहीं ? मूढ़ता नहीं ? थोड़े से हास्य से मुनि कहाँ जा गिरे ? थोड़ी-सी मजाक से कितना कुछ खो दिया ? अब इस हास्य में हृदय जो तुच्छ तामस भाव वाला बना, उसमें चाहे जैसे शुभ भाव लाने जाय, शुभ ध्यान करने जाय, परन्तु वंसा प्रबल पावर कहाँ से आयेगा ? कभी-कभी किसी में ऐसे अशुभ भाव से भी हृदय क्षुद्र व तुच्छ बन जाता है और वहाँ प्रबल शुभ भाव व शुभ ध्यान को जगने का अवकाश ही नहीं रहता । इसीलिये सावधान रहिये । हास्यादि अशुभ भाव लाने से पहले खूब सोच लेना चाहिये ।

हम मानते हैं कि थोड़ी-सी हँसी-मजाक की, किसी के वारे में कुछ कह दिया, इसमें क्या हो गया ?

अरे, अपने दिल में क्षुद्रता-तुच्छता-तामस भाव लाये बिना ये हास्यादि नहीं आते । क्षुद्रता-तुच्छता तामस भाव लाना तो बहुत बड़ी बुराई है ।

थोड़े-से हँसे, यानी तामस भाव किया ऐसा आपको लगता ही कहाँ है ? नहीं तो बार-बार ऐसे तुच्छ भाव हों ही क्यों ? हँसने में अवधिज्ञान कैसे चला गया ? हास्यादि के मूल क्षुद्रता आदि हैं, उनका पोषण करने से अवधिज्ञान चला गया । हास्यादि सात्त्विक भाव में से पैदा होते हैं, ऐसा मत समझ बैठिये । मुनि गुणवान थे, मोहमुक्त थे, लेकिन इन्द्र की मोह मूढ़ दशा देखकर मोह युक्त बने और उस पर हँसे, जिसमें सामने वाले के दोष पर, उसके प्रति तिरस्कार, दुर्भाव, हँसी का भाव आया, जो तामस भाव से लगा ।

सात्त्विक भाव के भाव तो वे ही हैं कि जिनसे

(१) सामने वाले के प्रति भरपूर दया उपजे,

(२) मोह की भयानकता महसूस हो,

(३) आत्मा - कर्म - संसार आदि भावों को यथास्थित कहने वाले जिनवचन पर हृदय वारि-वारि जाने लगे,

(४) मन में ऐसा लगे कि 'प्रभु । आपकी व आपकी शासन की कैसी बलिहारी है कि ऐसे सन्निपात के शिकंजे में से मुझे बचाया ।

मुनि को इनमें से कोई भाव कहाँ आया ? 'बेचारा इन्द्र मोह से कुचला जा रहा है', ऐसी दया आने के बदले इन्द्र के प्रति तिरस्कार भाव आया, उसकी हँसी उड़ायी हैं ? इन्द्र होकर ऐसा करता है ? पागल !' ऐसा सोचने मात्र से सात्त्विक भाव चला गया और तामस भाव जग पड़ा ! तब तो फिर अवधिज्ञान चला जाय, इसमें कौन-सी बड़ी बात है ?

'ध्यान अने जीवन' का विषय समझने में खास यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि 'हमें अशुभ ध्यान के ढेर इके करने को चाहिये, जिनसे जीवन में कई बुराईयाँ आती हैं।' ये अशुभ ध्यान तीव्र राग-द्वेष से नहीं, मामुली गिने जाने वाले हास्यादि दोषों से भी पैदा होते हैं, क्योंकि वहाँ तामस भाव का पोषण होता है । वहाँ पर दुर्ध्यान आना भी कहाँ महंगा है ?

**जो असद् निमित्तों से दूर रहता है, वह तामस भाव से बचता है**

यह बात ध्यान में रखिये कि तामस भाव का पोषण

करने वाले निमित्तों का सेवन जितना कम करेंगे, उतने ही आप बचेंगे। उन मुनि को देवलोक दिखने पर वहाँ के जिनमन्दिर देखने की जिज्ञासा करने के बदले वहाँ पर इन्द्र क्या कर रहा है यह जिज्ञासा रखी यानी असद् निमित्त का सेवन किया, जिससे हास्य के तामस भाव में पड़े और अवधिज्ञान जैसी महान संपत्ति पल भर में खो बैठे। यदि इसके बदले जिन मन्दिर देखने की जिज्ञासा रखी होती, तो उसके दर्शन से ज्ञान की विशेष निर्मलता होती।

सब जगह हो सके उतना असद् निमित्तों से बचकर रहना चाहिये। भोजन करने के समय भी जितनी चीजें आयीं, उतनी सब खाने की छूट रख दी, तो तामस भाव में फँसने में देर नहीं लगेगी। इसीलिये तो 'द्रव्य-संक्षेप' (वृत्ति-संक्षेप) यानी खाने की चीजों की निश्चित मर्यादा रखना और 'रस-त्याग' अर्थात् विगईयों आदि का त्याग, इसे तप-धर्म कहा गया है। इससे यह लाभ होता है कि निश्चित की गयी मर्यादा से अधिक वस्तुओं पर रागादि तामस भाव रुक जाते हैं।

### छोटे बालक का सत्त्व :-

जब हम बंबई में थे, तब एक भाई अपने आठ वर्ष के पुत्र को लेकर दर्शनार्थ आये। बालक ने वन्दन करके हमारे हाथों में एक चिट्ठी दी। यह चिट्ठी किसलिये थी, जानते हैं? बालक को कुछ नियम लेने थे, उनकी सूची उस चिट्ठी में लिखी गयी थी। उसमें वह लिखकर लाया था 'चोरी न करना, सिनेमा नहीं देखना, भोजन करते वक्त सात से अधिक चीजें न खाना'....आदि।



मैं तो आश्चर्य में पड़ गया कि 'ऐसा छोटा बालक और ऐसे-ऐसे नियम ?'

बालक ने कहा- 'मुझे ये सब नियम दीजिये।' मैंने उसके पिता के सामने देखा। पिता ने कहा- "जी साहेब, इसे नियम दे दीजिये, यह पालेगा।"

कितना सत्त्व होगा उस बालक में ?

सुखी कुटुंब का इकलौता पुत्र ! घर में सर्व साधन-सुविधाओं से संपन्न !

फिर भी बालक ऐसे-ऐसे नियम पालन करने के लिये तैयार हो गया।

आठ वर्ष के बच्चे में इतना सत्त्व हो सकता है तो अठारह वर्ष के युवक में कितना सत्त्व होना चाहिये ? आप तो १८-१९-२० वर्ष के हैं न, या इससे ज्यादा हो हैं ? रति-अरति के तामस भाव तथा दुर्ध्यान आदि के निमित्त वन्द करने का कितना सत्त्व आपमें है ?

'एक बार भोजन करते वक्त सात से अधिक चीजें नहीं खाना, सिनेमा नहीं देखना....' आदि नियम तामस भाव पर अंकुश रखने का महान साधन हैं। यदि सत्त्व हो, तो ही ऐसे नियम लिये जा सकते हैं।

**निःसत्त्व को अधिक घबराहट :-**

सत्त्वहीन मनुष्य तो ऐसे त्याग के नियम से ही घबराये

लगते हैं कि 'हाय ! त्याग करने पर तो कई चीजों का स्वाद ही नहीं ले पाऊँगा । अच्छा पिक्चर आने पर देखना बाकी रह जायेगा, तो ?' यह जीव की कैसी कंगाल दशा है ? संसार तो प्रलोभन देने वाले पदार्थों से भरा ही रहेगा । बस, भोग का माप नहीं है, इसलिये उन ढेर-सारी चीजों पर जाव टूट पड़ता है ! वे चीजें, तो जैसे खिलाड़ी लड़कों की तरह फुट बॉल की गेंद की तरह जीव को यहाँ से वहाँ उछालती रहती हैं । पूरी कहती है 'जा कढ़ी पर,' कढ़ी कहती है, 'जा सब्जी पर,' सब्जी कहती है, 'जा चटपटी चीज पर ।' बस, यह चलता हो जाता है । 'यह चीज अच्छी है, यह तो ठीक नहीं बनी है ! यह तो हाई क्लास है, यह तो एकदम घटिया है ' । अरे । कितना राग ? कितना द्वेष ? ये सब तामस भाव के ताड़व हैं ।

### अधिक राग-द्वेष करने से भव-प्रवास का पासपोर्ट :-

यह संसार राग-द्वेषादि तामस भावों पर ही चला करता है । मनुष्य जन्म में भी जिसने इन राग-द्वेषादि का अधिक सेवन किया, उसने तो जैसे अनेक भवों की मुसाफिरी का पासपोर्ट करवा लिया है ! क्योंकि यह मानव भव कीमती है, बुद्धि का अवतार है । जानवर की अपेक्षा मनुष्य की बुद्धि अधिक खिली हुई है, इसलिये इस बुद्धि से किये गए अच्छे या बुरे व्यापार जोरदार होते हैं, उनकी कमाई भी जोरदार होती है । इसमें दो बातें हैं—(१) इसमें समझ के साथ धर्म किया जाय, तो पाप-कर्म का क्षय और पुण्य की कमाई विशाल पैमाने पर होगी । (२) यदि बुद्धिपूर्वक पाप का आचरण करते चले जायें, राग - द्वेष व मोह किया करें तो पाप-कर्म की कमाई भी जोरदार होगी !

## मोक्ष पाने का हक किसका ?

राग - द्वेष - मोह आदि तामस - भावों पर संसार का सर्जन होता है । क्योंकि रागादि से कदम - कदम पर अशुभ भाव व आर्तध्यान होता है । इससे आत्म-घर में सतत अशुभ कर्मबन्ध का प्रवाह बहता रहता है । इसीलिये जिसने राग-द्वेष-मोह को जीता, - अर्थात् तामस भाव बन्द किये, उसीने संसार को जीता । वह कल्याण-आत्मा अब मोक्ष की ओर चल पड़ती है । चाहे वच्चा हो या बूढ़ा, रोगी हो या निरोगी, स्त्री हो या पुरुष, पिता हो या पुत्र, गुरु हो या शिष्य, जिसने राग-द्वेष-मोह को दूर किया, उसने संसार को दूर धकेल दिया । अइमुत्ता मुनि वाल मुनि थे, परन्तु उन पर हँसने वाले बड़े मुनि वहीं रह गये और अइमुत्ता मुनि ने तो रागादि जीतकर केवलज्ञान पा लिया । उपदेशदाता पा लिया । उपदेशदाता गुरु और दीक्षा देनेवाले आचार्य अणिका-पुत्र बैठे रहे व उन्हीं के हाथों से दीक्षा लेने वाली साध्वी पुष्पचूला ने केवल ज्ञान पा लिया, कैसे ? राग - द्वेष को धकेलने से !

### अणिकापुत्र और पुष्पचूला का दृष्टान्त :-

पुष्पचूला वैसे तो राजा की रानी थी, लेकिन बात यह थी कि उसका सगा भाई ही उसका पति था । अविवेकी पिता ने भाई-बहन के बीच अगाध प्रेम देखकर उनकी शादी कर दी । अपनी सन्तान में ऐसी अनुचित प्रवृत्ति न चाहने वाली माता ने वैराग्य वासित होकर दीक्षा ले ली । संयम की सुन्दर साधना करके वह स्वर्ग में गयी । वहाँ से अपने पुत्र-पुत्री को पति-पत्नी

के रूप में देखकर पुत्री पुष्पचूला को प्रतिबोध देने हेतु स्वप्न में स्वर्ग-नरक के दृश्य बताये ।

यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि स्वर्ग-नरक के दृश्य माताने पुत्री को क्यों बताये, पुत्र को क्यों नहीं बताये ? इसका कारण यह है कि स्त्री का हृदय सहजरूप से कोमल व विनय भरा होता है । कृष्ण वासुदेव क्या करते थे ? पुत्रियाँ बड़ी होने पर उन्हें सुन्दर प्रेरणा देकर नेमिनाथ प्रभु के पास चारित्र ग्रहण करवाते थे । लड़कों को क्यों नहीं समझाते थे ? लड़के तो थोड़े बड़े हुए, नहीं कि उनका अहंकार बढ़ता है, बुद्ध का अभिमान जागता है, दिल कठोर बन जाता है । वे भला कैसे समझेंगे ? ऐसा कुछ सोचकर ही तो कृष्णमहाराज लड़कों की माथापच्ची में नहीं पड़े, लेकिन पुत्रियों को सहज में ही समझा-समझाकर चारित्र मार्ग पर चढ़ाते गये । यहाँ पर भी आता देव ने पुत्री पुष्पचूला को प्रतिबोध देने हेतु नरक के दृश्य दिखाये ।

पुष्पचूला ने नगर में दो-चार को स्वर्ग-नरक के स्वरूप के बारे में पूछा, लेकिन कहीं पर भी सही उत्तर न मिला । आखिर वह अणिकापुत्र आचार्य महाराज के पास गयीं । आचार्य देव ने जैनशास्त्रों के आधार पर स्वर्ग-नरक का ठीक वंसा हो स्वरूप बताया, जैसा कि पुष्पचूला ने स्वप्न में देखा था ।

अब तो पुष्पचूला को दृढ़ श्रद्धा हो गयी । उसने पूछा = “प्रभु ! ऐसी घोर दुःख भरी नारकी में कौन-से कारणों से जाया जाता है ?”

आचार्य महाराज ने ‘महारंभ, महा परिग्रह, रौद्र ध्यान,

कृष्णलेश्य, विषयान्धता, परिग्रहान्धता ' आदि अनेक नरक में जाने के हेतु बताये। यह सुनकर पुष्पचूला को अपने विवाह-संबन्ध व संसार के प्रति तिरस्कार व तीव्र वैराग्य हुआ। उसने अपने पति से दीक्षा की अनुमति माँगी। राजाने एक शर्त पर आज्ञा दी कि 'दीक्षा लेकर जीवन भर इसी नगर में रहना होगा, जिससे मुझे सदा तुम्हारे दर्शन हो सके।'।

अब पुष्पचूला करे भी क्या? पति की आज्ञा के बिना दीक्षा ली नहीं जा सकती थी और दीक्षा लेकर एक ही स्थान पर रहने से संयम भाव को टिकाना मुश्किल हो जाता! लेकिन पुष्पचूला ने सोचा कि 'दीक्षा लेने के बाद चाहे एक ही स्थान पर रहना पड़े, लेकिन राग के निमित्तों से दूर रहने से और विशेष सावधानी रखने से संयमभाव टिकाया जा सकेगा, परन्तु दीक्षा के बिना घर में बैठे रहने में तो मौत ही है।'।

**घर में मौत कैसे?**

**राग के निमित्तों के बीच रहकर राग से कैसे बचा जाय?**

काम पात्रों के साथ रहकर वासना को कैसे भुलाया जाय? घर यानी पाप का स्थान। वहाँ तो सदा सत्रह पापस्थानक तो चालु हैं ही, उसमें भी यदि पापों पर अन्ध राग हो, उनका निर्मीक रूप से सेवन करें, तो अठारहवाँ खतरनाक पाप स्थानक-मिथ्यात्व शल्य आने में भी देर नहीं लगेगी। इसीलिये एक बार तो इस पाप-घर में से निकल ही जाना, बाद में बाहर के निमित्तों से तो प्रयत्न-पूर्वक बचा जा सकेगा।

## पुष्पचूला को केवलज्ञान-प्राप्ति का रहस्य :-

पुष्पचूला ने आचार्य महाराज के पास दीक्षा ली। वह केवलज्ञान पाने वाली है ! कैसे ? यद्यपि वह नगर में ही रहती है, लेकिन समझकर रहती है, विशेष सावधानी रखकर रहती है कि 'एक स्थान पर रहने से राग-ममत्व-शिथिलता, प्रमाद आदि अनेक दोष पैदा होना सुलभ है और इससे संयम भाव को क्षति पहुँचती है,' इसलिये वह मन पर पूरा नियंत्रण रखकर साधना करती है, ऊँची-ऊँची परिणति से त्याग, तप, स्वाध्याय, शुभ भाव व शुभ भावना की साधना करती है।

ऊँची-ऊँची परिणति से साधना में आगे बढ़ा जाय,  
तभी

संभावित दोषों से बचा जा सकता है।

साधना में आगे-आगे बढ़ने का उत्साह व वेग भरा पुरुषार्थ दोषों के अनुकूल होने वाज़ी मन की अस्वस्थता को दूर करता है। उदाहरण के लिये पूरे उत्साह व स्फूर्ति से, घर से दुकान की ओर जाने के लिये निकले, रास्ते में पैसा कमाने के सिवाय और की बात करने लगे, तो उस बात में मन नहीं लगता, वहाँ ज्यादा देर आप खड़े नहीं रहेंगे, जल्दी-से दुकान की ओर चल पड़ेंगे। इसी तरह घर से सब्जी लाने के लिये बाज़ार में गये, वहाँ मन में ऐसी कोई उतावल नहीं होती कि जल्दी से सब्जी खरीदकर घर लौटें। वहाँ रास्ते में कोई मिल जाय, तो घड़ी दो घड़ी बातें करने में लग जाते हैं और बिना काम की बातों के लिये भी आधा घंटा खड़े रह जायेंगे। ऐसा ही धर्म साधना



में भी समझना है। यदि वेग भरे पुरुषार्थ से पूरी उमंग व पूरे जोश के साथ साधना में लगे रहें, साधना की उत्तरोत्तर उच्च-उच्च कक्षा में आगे आगे बढ़ते गये, तो मन दोषों के प्रलोभन में नहीं ललचायेगा, वह तामसभाव में नहीं पड़ेगा। दोषों के प्रलोभन में पड़ने पर ही तामस भाव सर पर चढ़ बैठता है इसीलिये तामस भाव को रोकने के लिये दोषों के लालच को दबाकर रखना चाहिये। धर्म साधना में उत्साह व स्फूर्ति भरा पुरुषार्थ हो, तभी ऐसा हो सकता है।

प्र. धर्म करने पर भी मन पाप में क्यों फँस जाता है ?

उ. इसका कारण यही है कि धर्म साधना अधिकाधिक (१) उल्लासभरी, (२) जोश भरी (३) उच्च-उच्चतर-उच्चतम कक्षा की नहीं बनायी जाती।

देव - दर्शन आदि धर्म साधना ऐसे तो वहीं की वहीं होती है, परन्तु,

(१) दिन-प्रतिदिन देव-दर्शन अधिक उल्लास से हो, इस उल्लास के आगे दूसरे किसी को मिलने की उमंग मन्द हो जाय, फीकी पड़ जाय, तो ऐसी धर्म-साधना उल्लास भरी कहलायेगी।

(२) धर्म साधना में तन-मन-धन का अधिक से अधिक योगदान दिया जाय, साधन-सामग्री का अधिकाधिक भोग दिया जाय। जैसे-परमात्मा पूजन के लिये अच्छे से अच्छे पूजन द्रव्य ले जायें, यह धर्म साधना जोशीली कहलायेगी। (३) देवदर्शन आदि में (१) मन की अधिक से अधिक एकाग्रता रखी जाय, (२) भावोल्लास बढ़ाते जाय, (३) दुनिया एकदम भुला दी जाय,

(४) संसार ज्यादा से ज्यादा बुरा लगता जाय, (५) एक ओर धर्मसाधना के भाव में तन्मयता बढ़े तथा दूसरी ओर संसार के पदार्थों के प्रति आसंग भाव घटता जाय, इसीका नाम है - उच्च-उच्चतर-उच्चत्तम धर्म साधना ।

इस प्रकार अधिकाधिक उल्लासभरी, जोशीली व उच्च-उच्चतर-उच्चत्तम धर्म साधना करने से मनोबल व मन शुद्धि में खूब अभिवृद्धि होगी ॥

बहुत से लोग कहते हैं कि 'हम देवदर्शन-पूजा-सामायिक आदि जितना बन पड़े, उतना सब कुछ करते ही हैं । अब इन संयोगों में हमसे दूसरा और तो क्या हो सकता है ?'

ऐसा कहने वाले विचारों को कहाँ पता है कि जितना वे करते हैं, उसमें भी आगे-आगे बढ़ने का कितना मौका है ? उसमें भी उल्लास, जोश और उच्चतर परिणति कितनी बढ़ाई जा सकती है ? क्या आप मानते हैं कि शय्यभक्त ब्राह्मण ने जैसे प्रभु दर्शन किये, वैसे दर्शन आप करते हैं ? उसे तो यज्ञ के स्तंभ के नीचे से प्रभु की प्रतिमा मिली, जिसके दर्शन से वह नाच उठा और उसे तत्त्व जानने की तीव्र जिज्ञासा जग पड़ी । यज्ञ वहीं छोड़कर वह तो जा पहुँचा आर्य प्रभवस्वामी के पास और तत्त्व सुनकर, वह दिल में जँच जाने पर वहीं चारित्र्य ले लिया । कैसा वह परमात्मदर्शन होगा ? तामस भाव के तांडव दिल को ऐसे दर्शन में जाने ही नहीं देते !

**चालु साधना में अधिक क्या किया जा सकता है ?**

श्रेणिक महाराजा वीर प्रभु का जैसा स्मरण करते थे,

क्या वंसा हम करते हैं ? प्रभु के स्मरण के उल्लास व जोश में तो श्रेणिक महाराजा परमात्मा महावीर की सुखशाता-कुशलक्षेम के समाचार ले आने वाले को वधाई में सुवर्ण दान से खुश कर देते । हम क्या करते हैं ? हृदय में अर्थ - काम की मूर्च्छा के तामस भाव क्रीड़ा करते हों, वहाँ यह हो भी कैसे सकता है ? नवकार का चिन्तन स्मरण तो हम करते हैं । परमेष्ठी का चिन्तन करते हुए कभी अपूर्व आह्लाद का अनुभव हुआ ? यदि ऐसा अनुभव हुआ, तो भी कोई भारी भोग दिया ? खानपान-रंगराग के तामस भाव में भोग कैसे दिया जा सकता है ?

देवदर्शन, नवकार-स्मरण आदि में दिन-ब-दिन उल्लास व जोश बढ़ाते जायें, उच्च-उच्च परिणति लाते जायें । जाप-स्मरण करने में जोश यानी शरीर का अप्रमाद, दृष्टि की स्थिरता और कान की अन्तर्मुखता बढ़ती जाये । इसी तरह परिणति से वीतराग परमात्मा व निर्ग्रन्थ गुरु की ओर भुकाव होता जाता है, उनकी शरण स्वीकार की जाती है और उनका मूल्यांकन बढ़ता जाता है । ऐसा प्रयत्न चालु रहे, तो चालु स्थिति में भी आगं दढ़ा जा सकता है । लेकिन यह तभी हो सकता है यदि अर्थ-काम की लालसा के तामसभाव कम करने की तैयारी हो । तामसभाव को घटाकर प्रत्येक धर्मसाधना में उल्लास-जोश-परिणति बढ़ाते जाना अत्यावश्यक है । यह कार्य जिदगी के अन्त तक और वीतराग बनने तक चालु रह सकता है । अब 'हमसे ज्यादा तो क्या हो सकता है ? ऐसा कहना अज्ञानपूर्ण है । ज्यादा करना हो, तो करने के लिये कुछ है । देखिये, इन तीन में क्या-क्या किया जा सकता है ?

## (१) अधिक उल्लास अर्थात् ?

साधना में उल्लास ज्यादा आया, यह किस तरह माना जाय ? कहिये, उसके पीछे अधिक भोग देते हैं ? किसी तीर्थ के दर्शन किये, कहीं पर अपूर्व अद्भुत अंगरचना युक्त प्रभु के दर्शन का लाभ मिला, खूब उल्लास आया, उसके आनन्द में या उसकी याद में उपवास, आयंजलि या विगई का त्याग करते हैं ? उस आनन्द के पीछे शुभ खाते में पाँच पैसे खर्च करते हैं ? यदि ऐसा कोई भोग न देना हो, तो उसका अर्थ यह हुआ कि उल्लास ज्यादा आया, यानी, वह साधना बहुत पसन्द आयी, उसमें आनन्द बहुत आया, परन्तु उससे भी अधिक हमें अपने पैसे ज्यादा प्यारे हैं, उन्हीं में हम अधिक आनन्द मानते हैं । दर्शन करते वक्त हृदय को गहराई में उतरकर निरीक्षण कीजिये, तो हृदय की यह गुप्त आवाज सुनायी देगी कि 'हे प्रभु ! आप मुझे बहुत प्रिय हैं, परन्तु आपसे भी अधिक मुझे मेरे पैसे व खान-पान प्यारे हैं । पैसे के लिये आपका उपयोग तो कर सकता हूँ, लेकिन आपके लिये पैसें को नहीं छोड़ सकता ।' क्या यही हमारा उल्लास है ?

पैसें और विषय, सुखों के प्यार का तामसभाव सच्चे धर्म उल्लास को नहीं जागने देता ।

अनंत उपकारी, बीतराग परमात्मा मिलने पर भी जड़ का राग उतना ही रह सकता है ?

## (२) अधिक जोश यानी ?

साधना में अधिक जोश आने पर क्या अप्रमाद व स्थिरता

बढ़नी नहीं जाती ? क्या पहले की तरह आँखें यहाँ-वहाँ घूमती ही रहेंगी ? क्या पहले की तरह चित चंचल होकर ऐसे-वैसे विचार करता रहेगा ? शरीर ऐसे का ऐसा सुस्त रहेगा ? साधना पूरा हुई कि 'चलो आखिर काम पूरा हुआ', ऐसी छुटकारे की साँस ली जायेगी ?

**बाह्य - लंपटता के तामसभाव होने पर साधना में जोश कैसे आयेगा ?**

साधना वही की वही है, परन्तु आगे बढ़ना हो तो उसमें बहुत कुछ करने की जरूरत है। उल्लास और जोश ऐसे बढ़ाते जायें कि 'उल्लास' के पीछे कोई ठोस योग दे सकें और 'जोश' के पीछे शरीर, इन्द्रियों व मन की एकाग्रता-स्थिरता-तन्मयता व अप्रमाद बढ़ाते जायें।

भटकते हुए मन का तामस भाव छोड़े बिना यह नहीं हो सकता।  
(३) परिणति बढ़ाते जाना, अर्थात् ?

बाह्य साधना के अनुरूप अन्तर के भाव में वृद्धि करते जायें। उदाहरण के तौर पर :- दान दिया, वहाँ हृदय में धन-मूर्च्छा का त्याग बढ़ता जाना चाहिये। धन के प्रति घृणा बढ़ती जानी चाहिये। इसी तरह यदि तप किया हो, तो आहार के प्रति विरक्ति बढ़नी चाहिये। व्रत लेने पर विषयों के प्रति ग्लानि बढ़ती जानी चाहिये यह होने पर परिणति उच्च-उच्चतर बनी, ऐसा कहा जाता है।

**पुष्पचूला की साधना कैसे बढ़ती गयी ?**

पुष्पचूला साध्वी यहाँ कर रही है। वह समझती है कि

‘इसी नगरी में रहकर चारित्र का पालन करना है । उसमें भी मैं नगर की रानी थी, संसार त्याग कर साध्वी बनी हूँ, तो लोगों से बहुत मान-सम्मान मिलेगा, इससे संयम में शिथिलता आने की संभावना है । इसीलिये साधना में उल्लास, जोश और आभ्यन्तर परिणति बढ़ाती ही जाऊँ, जिससे बाह्य में लिप्त नहीं हो पाऊँगी ।’ राजा ने भी रानी को उसी नगर में आजीवन रहने की शर्त पर ही दीक्षा की अनुमति दी थी । वह राजा भी दर्शन के लिये आता रहेगा, इससे साध्वी को उसके प्रति राग बढ़ने की संभावना होगी । अब यदि चारित्र साधना में त्याग-वैराग्य-तप-स्वाध्याय में आन्तर उल्लास-जोश-परिणति को वह बढ़ाती न जाय, तो किस प्रकार बचे ?

वैसे तो चारित्र लेकर संयम भाव में आगे ही आगे बढ़ना होता है, परन्तु सामने प्रलोभक या बाधक संयोग हों वहाँ विशेष रूप से संयम में उल्लास, जोश और परिणति बढ़ाते रहना चाहिये । केवलज्ञान पाने की यही भूमिका है । सिद्ध होना ही तो साधक को इसी तरह साधना में आगे-आगे बढ़ते ही रहना चाहिये ।

**अणिकापुत्र आचार्य साध्वी के केवलज्ञान से चौंक उठे :-**

अणिकापुत्र आचार्य का जंघा बल (घुटनों की शक्ति) क्षीण होने से उनमें चलने की शक्ति नहीं रही । एक ही स्थान पर रहने से अपने समुदाय के मुनियों के संयम में बाधा पहुँचेगी, ऐसा सोचकर मुनियों को विहार करा दिया व स्वयं उसी नगर में अप्रभक्त होकर रहते हैं । पुण्यचूला साध्वी गोचरी-पानी आदि रखकर जाती है ।



एक दिन साध्वीजी बारिश में गोचरी ले आयी । आचार्य महाराज ने कहा-“बारिश में गोचरी क्यों लायी ? बारिश में कच्चे पानी के असंख्य अपकाय जीवों की विराधना होती है, उसमें तुम गोचरी कैसे लायी ?”

साध्वीजी कहती है-‘मैं अचित्त (निर्जीव) पानी में होकर आयी हूँ ।’

सूरिजी चौंक उठे । उन्होंने पूछा-‘अचित्त जल किस ज्ञान से जाना ?’

साध्वीजी ने कहा - ‘अप्रतिपाती ज्ञान से - केवलज्ञान से ।’ आचार्य महाराज को अपार पश्चाताप हुआ ।

### आचार्यश्री का पछतावा :-

‘अरे ! यह मैंने क्या किया ? केवलज्ञानी भगवंत से मैंने सेवा करायी ? गोचरी मंगायी ? न जाने इन्हें केवलज्ञान कब हुआ होगा ? कुछ दिनों से गोचरी में आहार जैसा व जितना चाहिये था, उसी तरह आता था । मैं मूर्ख यह जान नहीं पाया । मैंने तो मान लिया कि इन्हें तो रोज की आदत हो गयी है, ये मेरी प्रकृति समझ गयी हैं, इसीलिये एकदम माप से व जरूरी हो, ऐसा आहार लाती हैं । लेकिन वास्तव में तो ऐसा केवलज्ञान से देखकर ही बराबर होता होगा । धिक्कार है मुझको ! केवलज्ञानी की सेवा करके तिरने के बदले केवलज्ञानी से अपनी सेवा करायी ! मैं कैसा नालायक हूँ ?’

आचार्य महाराज तुरन्त खड़े हो हाथ जोड़कर उनके

चरणों में गिर पड़े और कहने लगे-‘भगवती मैं कैसा नालायक हूँ कि आप जैसे ज्ञानी से मजूरी करायी ? तो मुझे अभी भी कितने भव भटकना पड़ेगा ?’

## राग को कैसे मिटाया जाय ?

**जैनशासन की निष्पक्षपात बातें :-**

पुष्पचूला को उपदेश देकर महापाप से छुड़ाकर संयम में लाने वाले अणिकपुत्र आचार्य थे। शास्त्रों के ज्ञाता, दीर्घ संघम-पर्याय वाले समर्थ आचार्य भगवत छद्मस्थता की धरती पर ही रहे और शिष्या पुष्पचूला साध्वी वीतरागता-सर्वज्ञता के आसमान में उड़ चली। किसके बल पर ? राग-द्वेष-मोह को जीतने पर ! (१) अपने भाई को ही पति बनाने के घोर पश्चा-ताप व प्रायश्चित्त के रूप में तथा (२) उसी नगर में रहने से संयम को खूब तेजस्वी रखने के उद्यम के रूप में ज्वलंत वंराग्य, त्याग, तप आदि से जो-जो आन्तरिक शुद्ध परिणति विकसित की, उससे राग - द्वेष - मोह आदि तामस भावों को चूर-चूर कर दिया। इसीलिये तो नयी साध्वी होने पर भी उन्होंने केवलज्ञान का उपार्जन किया। जबकि अणिकपुत्र आचार्य में अभी ऐसा प्रबल आन्तर पुरुषार्थ नहीं जगा, जिससे वे अभी छद्मस्थ ही हैं। पहले गुरु तिरें या शिष्य ?

**प्राप्त अधिकार का आश्वासन और प्रोत्साहन :-**

जैनशासन की यह निष्पक्षपात प्रस्तुति देखने जैसी है। यह मनुष्य को किसी भी अवस्था में आश्वासन और प्रोत्साहन

देती है, यह कहती है—“आप चाहे बालक हो या बुढ़े, स्त्री हो या पुरुष, शिष्य हो या गुरु, रोगी हो या स्वस्थ, कीर्तिमान हो या न हो, विद्वान् हो या न हो, आश्रित हो या आश्रयदाता, आप चाहे जो भी हो, आपको राग-द्वेष-मोह के तामस भावों को पहले नाश करने का संपूर्ण हक है । अधिकार का उपयोग करना चाहिये, शक्ति को काम में लाना चाहिये । इससे आप गुणस्थानक के ऊपरी सोपानों पर चढ़ सकते हैं और चढ़ते-चढ़ते वीतराग-सर्वज्ञ भी बन सकते हैं ।’ कैसा सुन्दर ‘आश्वासन ! कैसा सुन्दर प्रोत्साहन !

अणिकापुत्र आचार्य केवली साध्वीजी से पूछते हैं—“मुझे अभी कितने भव भटकना है ?”

साध्वीजी कहती हैं—“आप चरम शरीरी हैं, इसी भव में मुक्तिगामी ?

आचार्य महाराज को आश्चर्य हुआ । कहते हैं—“क्या ? मैं और चरम शरीरी ? मुझे केवलज्ञान कब होगा ?”

केवलज्ञानी ने उत्तर दिया—‘गंगा उतरते हुए ।’

केवलज्ञान के प्रकाश में सब कुछ प्रत्यक्ष देखते हैं, इसी-लिये तो कह सकते हैं ।

**साध्वीजी को केवलज्ञान किस बल पर ?**

साधना के प्रचंड बल पर ।

(१) साध्वीजी एक और देखती हैं कि राजा का मुझ पर विशेष स्नेह है । मुझे इसी नगरी में रखकर प्रतिदिन दर्शन

के लिये आयेंगे । इससे मैंने जो राग भुला दिया है, वह मुझमें फिर से पैदा न हो जाय, इसके लिये मुझे वैराग्य और उदासीन भाव की साधना और भी जोरदार करनी चाहिये । उस समय ऐसा विचार रखना चाहिये कि—

(i) ऐसे राग करके तो यह जीव अनन्तानन्त काल से संसार में भटकता रहा है । अब समझने के बाद ऐसे उत्तम पुरुषार्थ-शक्ति वाले मानव भव में तो इस राग को चूर-चूर कर देना चाहिये । नहीं तो दूसरे कौन — से भव में यह कार्य हो सकेगा ?

(ii) सच में देखा जाय, तो जिस पर हम राग करते हैं, वह हमारा ऐसा क्या भला करता है ?

(iii) चाहे जितना राग करें, लेकिन आखिर वह कब तक टिकेगा ? मृत्यु होने पर अवश्य वियोग और विस्मरण । पर भव में कहीं अकेले ही खाना होने पर राग कहाँ रहने वाला है ?

(iv) बीतराग बनना है, तो राग को मारे बिना नहीं चलेगा । जिस वस्तु या व्यक्ति पर राग विशेष रूप से हो, वहाँ तो विशेष पुरुषार्थ से वैराग्य को ज्वलंत बनाकर राग का विशेष निग्रह करना चाहिये । पुष्पचूला साध्वी के मन में ही विचार-भार्यें थी ।

इस प्रकार वे राग से एकदम अलिप्त रहती थीं ।

(२) साध्वीजी को पूर्णतः अलिप्त रहने के लिये दूसरा

बल यह था। वे देखती हैं कि 'यदि इसी नगरी में रहना है, तो कहीं पर भी ममत्व न जागे, शिथिलता न घुस पाये, इसके लिये संयम की साधना अधिकाधिक उल्लास, जोश और उच्च-उच्चतर संयम परिणति वाली बनानी होगी।' इस प्रकार वे अपनी साधना में आगे बढ़ रही थीं।

(३) साध्वीजी महाराज सोचती हैं कि 'ऐसे परम उपकागी और महा गुणवान् आचार्य महाराज की सेवा करने का लाभ कहाँ से मिले? मुझे यह लाभ मिला है, तो इसे अपना महान अहोभाग्य मानकर इनकी सेवा में कोई कमी न रखूँ। सेवा का लाभ देने वाले इन आचार्य भगवंत का मैं महान उपकार मानूँ।' इस विचार से साध्वीजी सेवा में एकदम सजग हैं। आचार्य महाराज के प्रति, देवाधिदेव वीतराग परमात्मा के प्रति व वीतराग के शासन के प्रति उनका बहुमान बढ़ता चला जाता है।

इन तीन बलों पर साध्वीजी साधना-पथ पर आगे-आगे बढ़ती गयीं। संयम से बाहर के पदार्थों पर अपने निरासंग भाव को वे बढ़ाती चली गयीं।

प्रशस्त राग में भी फल की कोई आकांक्षा न होने से, यह राग अवसर आने पर छूटते देर नहीं लगेगी। जैसे ही कभी संयम में लवलीन बनकर अनासक्त योग में चढ़े, काया की आसक्ति और अहंत्व टूटे, वैसे ही प्रशस्त राग भी छूट जाता है और तुरन्त वीतरागता आकर खड़ी होती है और क्षण भर में केवलज्ञान हो गया।

इस प्रकार पुष्पचूला साध्वीजी केवलज्ञानी, वीतराग, सर्वज्ञ बन गयीं। अब अणिकापुत्र आचार्य सोचते हैं कि—‘इन केवलज्ञानी साध्वीजी ने मुझे बताया है कि मुझे गंगा उतरते हुए केवलज्ञान होगा, कोई निश्चित समय तो नहीं बताया है। अब देर कैसी? अभी जाकर गंगा उतर जाऊँ। केवली के वचन निष्फल तो नहीं जाते।’

आचार्य महाराज गंगा के किनारे जा पहुँचे और एक नौका में बैठे। पूर्व के बैरी देवता ने नदी के बीचों बीच नाव को डोलायमान किया। नौका में बैठे अन्य यात्रियों ने उन्हें अपशकुन मानकर नौका में से उठाकर बाहर धकेल दिया। वहाँ बैरी देवता ने उन्हें भाले की नोक पहुँचाया। भाले की नोक शरीर में घुस गयी और खून की धारा बहने लगी।

### जीव की कसौटी :-

यहीं पर जीव की कसौटी होती है।

(१) संयम का, अहिंसा का, राग और पुरुषार्थ अधिक है या केवलज्ञानी जैसी कोई ऊँची पदवी पाने का राग अधिक है?

(२) सिर्फ ज्ञानी के वचन मात्र से केवलज्ञान पाना या संयम के ज्वलंत पुरुषार्थ से केवलज्ञान पाना?

(३) प्राणनाशक चोट लगने पर भी अपनी काया का विचार या अन्य जीवों की प्राण-रक्षा का विचार? अब काबा पर राग रहता है या अन्य प्राणियों की दया में यह राग चूर-चूर हो जाता है?



आचार्य महाराज कसौटी पर खरे उतरते हैं । नौका में से उठाकर बाहर फेंकने वाले लोगों पर या भाले से शरीर को वींधने वाले पर भी दिल में अंश मात्र भी द्वेष नहीं होने देते । वे तो (१) उन लोगों पर भाव करुणा लाते हैं और स्वशरीर के प्रति घृणा करते हैं कि 'अरे ये बेचारे जीव इतने पाप बाँध रहे हैं, इनकी परभाव में क्या दशा होगी ? इनके पाप में मेरा यह शरीर ही निमित्त बन रहा है । (२) भाले से वींधे हुए अपने शरीर में से खून की बुँदें नीचे नदी के पानी में गिरती हुई देख-कर उन्हें पानी के जीवों के प्रति दया आती है कि-

### आचार्यश्री की उच्च भावना :-

'अरे, अरे ! मेरे शरीर के खून से बेचारे पानी के 'असंख्य जीव मर रहे हैं ! मेरा यह शरीर और खून कैसा है कि असंख्य जीवों के नाश में इसका उपयोग हो रहा है । धिक्कार हो मेरे इस शरीर को ! धन्य है उन सिद्ध भगवतों को जो देहमुक्त होकर किसी भी जीव के नाश में निमित्त नहीं बनते । कहाँ मेरा अहिंसा व्रत व संयम और कहाँ इन असंख्य जीवों की हिंसा में निमित्त बनना ? धिक्कार है इन शरीरादि अधिकरणों को ! ...'

यहाँ पर खास यह बात देखनी है कि आचार्य महाराज को ऐसा विचार भी नहीं आता कि 'केवल ज्ञानी ने तो मुझे यहाँ केवलज्ञान होगा, ऐसा कहाँ था और यहाँ तो मौत सामने खड़ी है । फिर केवलज्ञानी के वचन का क्या ?' नहीं, यह विचार ही नहीं है । इसका क्या कारण ?

## केवलज्ञान की झूठी आतुरता क्यों नहीं ?

उन्हें केवलज्ञान पाने की इच्छा थी, लेकिन झूठी आतुरता नहीं थी। 'झूठी' यानी (१) अपना समय भुलाकर, (२) काया के राग का पोषण करके और (३) काया पर आक्रमण होने पर हाय-हाय करके केवलज्ञान की आतुरता नहीं रखी। क्योंकि उन्हें अपने कर्तव्य का पूरा भान है। इसीलिये तो अहिंसा व्रत का शरीर हिंसा में निमित्त बन रहा है, इस बात का उन्हें बड़ा दुःख है। इसीलिये शरीर पर उन्हें राग ही नहीं। आत्मा के अति निकट व अति संलग्न अपने शरीर पर से राग उड़ा और संयम, जीवदया व अहिंसा पर राग उछलने लगा।

यह प्रबल प्रशस्त राग बाद में जीव को तत्त्व में लयलीन बना देता है। इस एकतानता में आचार्य महाराज ने शुक्ल ध्यान लगाया, क्षपक श्रेणि शुरु की और वहीं पर केवलज्ञान पाया। वहाँ पर ही आयुष्य पूर्ण होने से सर्व कर्मक्षय करके मोक्ष में जा पहुँचे।

यदि आचार्य महाराज ने केवलज्ञान की झूठी आतुरता रखी होती तो शायद उन्हें केवलज्ञानी के वचन पर शंका होती, अश्रद्धा होती, शरीर, पर राग होता और आक्रामकों पर द्वेष होने लगता। यह सूचित करता है कि

साध्य की अभिलाषा व आतुरता जरूर रखिये, परन्तु साधना को भुलाकर नहीं। साधना में चुस्तता सबसे पहले चाहिये। साधना में भी अपने निमित्त से दूसरे जीवों को पीड़ा न हो, यह करुणा सबसे पहले जरूरी है। साधना में दृढ़ता से आगे

वढ़ने वाले को सिद्धि तो अवश्य मिलती ही है । इसीलिये तो शास्त्रकारों ने फल की भूठी आतुरता करने की मनाई की है ।

**‘पल भिसन्धिरहितं संशुद्धमेतद्दीदृशम् ,**

कोई भी साधना तभी विशुद्ध होती है, जब वह फल की आतुरता से रहित हो । यह तभी हो सकता है कि जब साधना का रंग अंग-अंग में व्याप्त हो जाय ।

**साधना का रंग अंग-अंग में व्याप्त हो जाय :-**

अणिकापुत्र आचार्य को कहीं विचार करने नहीं बैठना पडा कि ‘मुझे दया का चिन्तन करना चाहिये, हिंसा का खेद करना चाहिये ।’ उन्हें तो जहां अपना खून पानी में गिरने से पानी के जीवों का संहार होते देखा कि तुरन्त सहज रूप से ही उन जीवों के प्रति दया उभर आयी और उन जीवों की हिंसा से खेद होने लगा कि-‘बेचारे ये जीव मर रहे हैं । अरे रे ! मेरा कैसा दुःखद शरीर है कि जिसका खून इन जीवों का संहार कर रहा है !’ सहज रूप से ही ऐसी दया व खेद होने का कारण यही है कि उनकी साधना उनके जीवन में ऐसी एकाकार हो गयी है कि उसका रंग उनके अंग-अंग में व्याप्त हो गया है । उनकी आत्मा उससे ऐसी भावित हो गयी है कि मौका आने पर यह दया व खेद का भाव हृदय में सहज रूप से ही आ जाता है । स्वयं भाले से बींधकर भयंकर वेदना पा रहे हैं, तब अपनी वेदना का आर्तनाद सहज है या मरते हुए पानी के जीवों की पीड़ा का दुःख सहज है ? आप ही बताईये ।

जो जीवन में खूब एकाकार हो गया हो, वही सहज है। कायर और स्वार्थी जोवों को तो वस अपने ही दुःख का आर्तध्यान रहा करता है। 'अरे, यह दुःख क्यों आया ?' ऐसा आर्तनाद हाय-हाय व 'यह दुःख कब जायेगा,' ऐसा आर्तध्यान सतत उनके चित्त में रहता है। तब तो उन पर उसी का रंग चढ़ेगा, उनका दिल ऐसे आर्तध्यान से ही भावित बनेगा, इसमें कोई बड़ी बात नहीं है।

दूसरी ओर धीर व वीर ऐसे परार्थरसिक पुरुषों को दूसरे जीवों के दुःख के प्रति आर्तनाद व संताप होता है और उनका दुःख दूर करने की दया उनके हृदय में होती है। इसलिये उन पर इसीका रंग चढ़ेगा, उनका दिल दया से ही भावित होगा। अपना दुःख चाहे जैसा भारी क्यों न हो, उसकी उन्हें कोई कीमत नहीं, उसका उन्हें कोई संताप नहीं। लेकिन दूसरे जीवों के दुःख के प्रति उन्हें संताप व आर्तनाद होता है तथा उनका दुःख दूर करने की दया उनके मन में भरी होती है।

इससे यह सिद्ध होता है कि जीवन में जिस गुण या दोष का बहुत अभ्यास होगा, उसी का रंग चढ़ेगा और वही गुण या दोष जीव के लिये सहज हो जायेगा।

मनचाही चीज चली जाने पर, अनचाही चीज मिल जाने पर या वेदना की पीड़ा पर बार-बार आर्तध्यान किया जाता है, इसीलिये उसका रंग ज्यादा चढ़ जाता है। वाद में मौका आने पर आर्तध्यान तुरन्त आ खड़ा होता है। इसके बदले मन मारकर भी यदि बारंवार शुभ ध्यान लाया जाय, तो आत्मा में शुभ ध्यान एकाकार हो जायेगा व आत्मा पर उसीका रंग चढ़ेगा।

ध्यान का विषय बहुत समझने जैसा है। क्योंकि इसका जीवन के साथ घनिष्ठ संबंध है। जीवन की उन्नति-अवनति का सच्चा आधार शुभ-अशुभ ध्यान पर ही है। शुभ ध्यान में रहेंगे, तो निश्चित रूप से उन्नति ही होने वाली है और अशुभ ध्यान से अवनति ही होने वाली है।

क्या वाह्य वाणी-वर्ताव पर उन्नति या अवनति आधारित नहीं है? है तो सही, परन्तु अन्तर के भाव द्वारा, अन्दर के ध्यान द्वारा। ध्यान कैसा करते हैं, शुभ या अशुभ? हृदय के भाव कैसे हैं अच्छे या बुरे? उन्हें पर कर्मबंध का फैसला होता है और पुण्य बंध या पाप बंध निश्चित होता है।

प्र. तब क्या वाणी-वर्ताव की कोई कीमत नहीं?

उ. कीमत क्यों नहीं होगी? वाणी व वर्ताव अच्छे हों, पवित्र हों, तो भाव व ध्यान शुभ रहता है, वाणी व वर्ताव बुरे हों, मलीन हों तो भाव व ध्यान अशुभ रहता है। सामान्य तौर पर वाणी वर्ताव का भाव व ध्यान पर असर पड़ता है।

**भाव पर वाणी का असर :-**

कठोर भाषा बोलने वाले के भाव कठोर बनते हैं, मृदु-सौम्य वाणी व्यवहार रखने वाले के भाव मुलायम बनते हैं। मायावी की बात अलग है। अपने जीवन में हम कोमल-सौम्य भाषा व सौम्य व्यवहार का मंगल अभ्यास करके देखेंगे तो पायेंगे कि इससे हृदय में शुभ भावों का अनुभव होगा। जब कि कठोर, कर्कश शब्द बोलने से दिल में अशुभ भाव व कषाय भरे

भाव का अनुभव होता है । अर्थ-काम की बातें करने से, परचिन्ता या पर निन्दा के लेक्चर देने से हृदय के मलीन भाव व अशुभ ध्यान का अनुभव किसने नहीं किया है ? इसके बदले उत्तम जीवों के गुण गाने लगिये, महान पुरुषों के सुन्दर जीवन-प्रसंगों की बातें करते रहिये, तत्वों की, शास्त्रों की, सद आचारों की बातें करते रहिये फिर देखिये कि हृदय में कैसे कैसे सुन्दर भाव बढ़ते हैं ? कैसे शुभ ध्यान चलते हैं ?

### भाव पर बर्ताव का असर :-

यदि वाणी का ही इतना असर है, तो बर्ताव के असर की तो बात ही क्या ? बर्ताव यानी एक इन्द्रिय का बर्ताव, शरीर के अवयवों का बर्ताव । ये बर्ताव यदि शुभ विषय में होंगे तो शुभभाव चलेगा और अशुभ विषय में होंगे, तो अशुभ भाव चलेगा । आँखों को स्त्री के रूप-रंग देखने में, दुनिया के वैभव देखने में पर के दोष देखने में, धनमाल देखने में लगाये रखें, तो अशुभ भाव जगेंगे और अशुभ ध्यान चलेगा । इसी तरह कान को मोह भरे शब्द, गीत या समाचार सुनने में लगाये रखें, तो अशुभ भाव व अशुभ ध्यान का पोषण होगा । जीभ को मीठे, मनचाहे रस में लगाया करेंगे, तो राग-मूढ़ व मोह मूढ़ मलीन भावों का पोषण होगा । यहाँ पर प्रश्न होगा कि-

प्र. राग करने में क्या बुराई है ? इसमें कहाँ हिंसा-झूठ या चोरी का विचार है ?

उ० बस, भले-भले धर्मों गिने जाने वाले भी यहीं धोखा खा जाते हैं । उन्हें यह ख्याल नहीं है कि—



जगत की चीजों पर राग करना जीव का सबसे महान अपराध है ।

राग करना महान गुनाह क्यों है ? क्योंकि यह आत्मा का ममत्व भुला देता है ।

जगत की चीजें राग करने लायक नहीं हैं; फिर भी उन पर राग किया जाय, यह तो गुनाह ही है । जैसे कि पर स्त्री राग करने के योग्य नहीं है, फिर भी उस पर राग करें, तो गुनाह ही कहलायेगा न ? जिसने विश्व के तत्त्वों का सम्यक् रूप से दर्शन किया है, ऐसी सम्यग्दृष्टि आत्मा तत्त्वों के स्वरूप को पहचानकर समझ सकती है कि आत्मा के लिये जगत की चीजें 'पर' हैं, परायी स्त्री जैसी हैं, उन पर राग करना गुनाह है ।

प्र० पर स्त्री पर राग करना गुनाह है, यह तो स्पष्ट रूप से दिखता है, परन्तु जगत की चीजों पर राग करने को गुनाह कैसे माना जाय ?

उ० यह बात तो बड़ी आसानी से समझ में आये, ऐसी है । यदि अपनी आत्मा का उद्धार करना हो तो क्या आत्मा पर ममत्व किये बिना उसके उद्धार का प्रयत्न होगा ? इसी तरह आत्मा के उद्धारक परमात्मा के प्रति ममत्व किये बिना उनके द्वारा कहे गये उद्धार का मार्ग अपनाया जा सकेगा ? नहीं । स्वत्मा व परमात्मा पर ममत्व किये बिना उद्धार के मार्ग पर प्रयत्न ही नहीं हो सकता । अब देखिये कि यदि आप जगत की चीजों पर राग करने जायेंगे, तो आत्मा व परमात्मा गौण हो जायेंगे, उनकी परवाह नहीं रहेगी ।

जगत की चीजों का राग आत्मा-परमात्मा के ममत्व पर कुठाराघात करता है ।

बाहर की वस्तु का राग काया और इन्द्रियों के राग के कारण होता है । यदि हम काया की ओर आकर्षित हुए तो समझो आत्मा से दूर खिसक गये और परमात्मा को भूल गये । इसीलिये तो परमात्मा की भक्ति में अपने द्रव्यों का वह भी ऊँचे कीमती द्रव्यों का उपयोग नहीं होता न ? क्योंकि काया-कुटुंब-इन्द्रियों आदि पर ज्यादा राग होने से उनके लिये भी द्रव्य चाहिये न ? परमात्मा की भक्ति में भला कैसे दिया जाय ? परिवार के लिये तीन-चार लीटर दूध, किलो भर सब्जी लाने की शक्ति है, लाते भी हैं, लेकिन परमात्मा की भक्ति के लिये पाव लीटर दूध या पाँच फूल भी लाने की शक्ति नहीं है । काया आदि का राग अपनी आत्मा के राग को दबाता है, इसीलिये पर्वतिथियों में भी घी का त्याग, दूध का त्याग, विगई का त्याग, उपवास आदि तप नहीं करते । अच्छे खान-पान से काया हृष्ट-पुष्ट रहनी चाहिये, यह तो हम देखते हैं । परंतु इसके पीछे आत्मा का चाहे जो हो चाहे उसका पूर्व-पुण्य समाप्त हो जाये और पाप के ढेर खरीदे जायें, कहाँ परवाह है ? इससे सूचित होता है कि

विषय, काया आदि जगत की चीजों पर के राग में आत्मा -- परमात्मा के प्रति राग व ममत्व नहीं बतलाना जाता है ।

अब कहिये, पर का जो राग आत्मा, परमात्मा और धर्म को भुला देता है वह राग करना गुनाह नहीं ? उसके पीछे स्वयं को कर्म की भारी सजा भुगतनी पड़ती है, दुःख-दुर्भाग्य दुर्गति की जेल में सड़ना पड़ता है या नहीं ?

(२) जगत की चीजों पर राग करना गुनाह है। क्योंकि उस पर व द में अठारह पाप स्थानकों का आचरण चलता है। काया व उससे संवन्धित बाहर के सब पदार्थ, जगत की चीजें हैं। यदि ये मन को भा जायें, तो उनकी खातिर पट्काय हिंसा, आरंभ-समारंभ, झूठ, अनीति, विषय, परिग्रह, क्रोध, मान ! आदि पापस्थानकों का सेवन होता है, दुष्कृत्यों का आचरण होता है और सुकृत एक ओर रख दिये जाते हैं। अब कहिये, दुष्कृत्यों का सेवन कराने वाला जगत की चीजों का राग गुनाह है या नहीं ? बड़ा गुनाह है

धर्म को व तत्त्व को समझें हैं या नहीं इस बात की परीक्षा यहीं पर होती है। पहले तो 'जगत की चीजों पर राग करना एक बड़ा अपराध है, बड़ा अपकृत्य है,' ऐसा मन को लगता है ? यह राग करने में मन को कुछ एहसास नहीं होता ? भय लगता है ? यदि यह राग करने में कुछ गलत किया हो ऐसा न लगता हो, तो फिर आगे पाप-स्थानक व दुष्कृत्यों का सेवन करने में क्या बाकी रहेगा ?

इसीलिये तो नजर के समक्ष यह बात हमेशा रहनी चाहिये कि अपनी आत्मा को भुलाने वाला, परमात्मा को भुलाने वाला और पापस्थानकों का आचरण कराने वाला जगत की चीजों पर राग करना बड़ा गुनाह है। बड़ी भूल है, बड़ा मूलभूत पाप है, अपकृत्य है।

(३) व्यवहार में एक बार भी जेल दिलाने वाला कृत्य अपराध गिना जाता है, तो भवान्तर में दुर्गति के अनेक भवों की भयंकर जेल दिलाने वाला राग महा भयंकर गुनाह गिना जाता

है या नहीं ? इस राग के कारण ही जीव अनादि-अनन्त काल से इस भव जेल में फँसा हुआ है। यह उत्तम मनुष्य भव पाने परा भी आत्मा को भव-जेल से छुड़ाने वाले दान-शील-तप आदि का उत्साह से आचरण नहीं करते। अब सवाल उठता है कि-

प्र० जगत की चीजों पर का राग कैसे हटे ?

उ० (१) अपनी आत्मा के प्रति चित्ता की जाय आत्मा के प्रति आकर्षण रखा जाय, (२) तारक परमात्मा के प्रति अथाह राग-भक्ति-बहुमान रखा जाय, (३) पापस्थानक के प्रति भय, अरुचि, ग्लानि रखी जाय और (४) दानादि सुकृत-सदाचरण के प्रति अपार राग रखा जाय, तो जगतकी चीजों पर का राग हटेगा।

**आर्तध्यान कैसे मिटे ?**

हमारी बात यह चल रही थी कि अशुभ वाणी या वर्ताव के प्रवर्तन से रागादि मलीन भावों का पोषण होता है और इससे चित्त दुर्ध्यान-आर्तध्यान में पड़ता है। वाणी-वर्ताव का ध्यान पर बहुत असर पड़ता है। रूपवती स्त्रियों पर आँखें भटकाते रहने से मलीन भाव व आर्तध्यान चलेगा, इससे विपरीत परमात्मा व साधु पुरुषों पर दृष्टि लगाने से शुभ भाव व शुभ ध्यान चलेगा। यह तो सामान्य नियम हुआ कि शुभाशुभ वाणी-वर्ताव से वैसे - वैसे शुभ भाव व ध्यान चलते हैं, लेकिन इसमें विशेष अपवाद यह है कि यदि आत्मा जागृत हो, तो अनिवार्य रूप से करने पड़ते संसार-व्यवहारों में भी अन्तर के भाव उज्ज्वल रहे जा सकते हैं व शुभ ध्यान धरा जा सकता है। आप पूछेंगे कि

पाप-प्रवृत्ति में शुभ भाव-ध्यान किस प्रकार रह सकता है ?

रह सकता है ।

- १ यदि पाप प्रवृत्ति के प्रति घृणा रखी जाय,
- २ वस्तुतत्त्व का विचार जागृत रखा जाय,
- ३ पर की मजूरी करने में शर्म महसूस होती हो,
- ४ सप्रमाण जिनवचन सदा दृष्टि के सम्मुख रखे जाते हों

५ ऐसी ही पाप-प्रवृत्तियों के कारण हुई पूर्व के दुर्गति के भवों की विडंबना नजरों के सामने दिखायी देती हो,

६ आत्मा पर पड़ने वाले बुरे असर का उत्पन्न खेद होता हो .. ।

ऐसी सावधानियाँ बरतने से शुभ भाव व शुभ ध्यान पाप-प्रवृत्ति में भी टिकाये रखा जा सकता है ।

शुभ भाव चलाना इसलिये जरूरी है कि दिल के भाव और ध्यान का कर्मबन्ध के साथ सीधा संबंध है । भाव व ध्यान के आधार पर ही यह निर्णय होता है कि कर्म कैसे बँधेंगे, शुभ या अशुभ ?

आत्मा एक वस्त्र के समान है और कषाय के भाव उस पर लगी चिकनाई जैसे है । वस्त्र पर यदि तेल की चिकनाई लगी हो, तो वातावरण में से धूल उस पर चिपकती रहेगी । इसी तरह कषाय के भाव की चिकनाहट के कारण आत्मा पर कर्मरज चिपकती रहती है । जैसी चिकनाहट होगी, वैसा ही बन्ध होगा ।

भारी चिकनाहट से घोर कर्मबन्ध होगा । इसमें उधार नहीं चलता । भाव होने के साथ ही बन्ध हो जाता है । दिन-भर अशुभ भाव और अशुभ ध्यान चलते रहते हों, तो दिन-भर अशुभ कम ही बंधा करेंगे । वहाँ पर किसी की लाज-शरम नहीं रखी जाती । ओषा (मुनि का रजोहरण) और तिलक वाजु में रह जाते हैं, मन्दिर व उपाश्रय या धर्मक्रिया वैसे ही रह जाती है, मानपत्र व समारोह ऐसे ही चला करते हैं और जीव अशुभ भाव में चढ़कर पाप कर्म समय-समय पर बाँधता ही रहता है ।

## मरुभूति कहां भूला ?

मरुभूति प्रभु पार्श्वनाथ तीर्थंकर का जीव था ।

जन्म से ब्राह्मण होने पर भी जीवन में श्रावक धर्म का सुन्दर पालन करता था । परन्तु आयुष्य कर्म बाँधते वक्त भूल हो गयी । उस समय वह आर्तध्यान में चढ़ गया, जिससे तिर्यच गति की आयुष्य बाँधकर, मरकर तिर्यच हुआ । वैसे देखा जाय, तो अपराध तो उसके भाई कमठ का था । वह मरुभूति की पत्नी के प्रेम में पड़ गया । मरुभूति को ज्ञात होने पर उसने राजा के द्वारा भाई को शिक्षा देने की सोची । शान्ति से सीख देते हुए राजा के सामने कमठ अट-शंट बोलने लगा जिससे राजा ने उसे नगर से बाहर निकाल दिया । गुस्से में आकर वह तापस बन गया । बाद में मरुभूति को पछतावा हुआ कि 'यह मैंने क्या किया ? मेरे निमित्त से मेरा भाई कष्ट में गिर गया ।' वह भाई से क्षमा माँगने गया । कमठ को तो भाई के प्रति बहुत ही क्रोध था कि 'इसी भाई के कारण मुझ पर कष्ट आया, । जंसे ही मरुभूति उसके चरणों में गिरकर हृदय से सच्ची क्षमा माँगता है,



कि तुरन्त कमठ ने पास में पड़ी पत्थर की शिला उसके मस्तक पर डाल दी। यहाँ मरुभूति का सुन्दर श्रावक-धर्म का पालन घरा ही रह गया और शिला के आघात से वेदना के आर्तध्यान में मरकर विध्याचल के जंगल की हथिनी के पेट में हाथी के रूप में अविरत हुआ। पाप बंद और दुर्गति को अच्छे श्रावक की भी कहाँ लाज आयी? मरुभूति को जंगली तूफानी हाथी का अवतार मिला।

प्र०-तो क्या यहाँ किया गया सारा धर्म निष्फल है?

उ० नहीं, वह धर्म निष्फल नहीं, नहीं, जाता। उसका सुन्दर फल तो आगे मिलेगा। मरुभूति की ऐसी मृत्यु से राजा को वेराग्य हो गया। चारित्र्य लेकर राजा ने तो तप-स्वाध्या-ध्यान की धुनी लगा दी और अवधिज्ञान का उपाजंन किया। एक बार किसी सार्थ के साथ राजर्षि उसी जंगल से गुजर रहे थे। हाथी सार्थ के लोगों को परेशान करने लगा, लोग भागने लगे। राजर्षि ने तो अवधिज्ञान से हाथी को पहचान लिया, अतः दया से वहीं खड़े रहे। उनके पास आते ही हाथी एकदम शान्त हो गया। राजर्षि ने दो-तीन बार कहा-‘बुज्झ बुज्झ मरुभूति’। यह सुनते ही हाथी को पूर्व जन्म का स्मरण हुआ। वह मुनिराज के चरणों में झुक गया और उसने सम्यक्त्व सहित श्रावक के व्रत लिये।

अब देखिये, ध्यान का चमत्कार! हाथी व्रतों का पालन करता है। एक बार हाथी को प्यास लगने पर कीचड़ भरे तालाब में पानी पीने गया कि वहाँ गहरे दलदल में फँस गया, अब उसमें से दाहर निकल नहीं पाता। कमठ भरकर इसी तालाब में जलचर सर्प बना है। पूर्व के वैर के संस्कार से वह हाथी के

मस्तक पर चढ़कर डंक मारता है। हाथी को असल वेदना होने लगी। परन्तु पूर्व भव की वेदना में ध्यान बिगाड़ने का फल-यह तिर्यचगति, नजरो के सामने थी। हाथी ने वेदना का आर्तध्यान नहीं किया, वह तो कर्म विपाक के धर्मध्यान में चढ़ता है! 'अहो! यह पीड़ा तो मेरे ही पाप-कर्म का उदय है। द्वेष करना हो तो पाप पर ही करूँ, बेचारे सर्प पर क्या द्वेष करना? कर्म के विपाक अकाट्य है, अवश्य भोगने ही पड़ते हैं। मैंने अपनी ही भूल से इन कर्मों का उपार्जन किया है, तो मुझे इन्हें भोगना ही चाहिये। ये भोगने से तो मेरा कर्मों का कचरा साफ होता है, तो खेद किस बात का कहूँ'.... इस प्रकार कर्म विपाक के धर्म ध्यान को पकड़ रखा और मरकर देवलोक में जन्म पाया।

दोनों भवों में मरणान्त कष्ट आया, परन्तु पहले भव में अशुभ ध्यान करने से तिर्यचगति मिली और दूसरे भव में शुभध्यान से देव गति मिली।

ध्यान का यह चमत्कार है कि — अशुभ ध्यान मानव को भी तिर्यच बना देता है, जब कि शुभ ध्यान तिर्यच को भी देव बना देता है।

बाह्य संयोग चाहे जैसे क्यों न बिगड़े हुए हों, ध्यान कभी मत बिगाड़िये। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की आराधना की गाड़ी मोक्ष की ओर दौड़ी जा रही थी, परन्तु ध्यान बिगाड़ने पर नरक का पासपोट मिल गया। लेकिन फिर से ज्यों ही ध्यान में सुधार किया, पश्चाताप की सरिता में नहाये, तो स्वर्ग के पुण्य का ही नहीं, केवलज्ञान का भी उपार्जन कर लिया। ध्यान बिगाड़ने में निमित्त था, सिर्फ कोई शब्द-श्रवण, शब्द-संयोग। लेकिन उसकी चिन्ता-परवाह छोड़ते ही ध्यान सुधरने लगा।

बाह्य संयोग को महत्त्व न दें, तो आर्तध्यान से बचा जा सकता है। आर्तध्यान से बचने की चाबी है-बाह्य को नगण्य मानना।

इस संसार में जीवन में इष्ट या अनिष्ट संयोग मिलते ही रहेंगे, परन्तु यदि उन्हें महत्त्व दिया उनके प्रति राग-द्वेष में चढ़े, जैसे कि-‘यह वस्तु मुझे इष्ट है, प्रिय है। यह मिल जाये तो अच्छा, मिली हुई वस्तु सदा टिको रहे। अनिष्ट वस्तु न मिले तो अच्छा, अनिष्ट वस्तु मिलने पर चली जाय तो अच्छा’, ऐसी अर्ति यानी पीढ़ा में पड़े कि आर्तध्यान लगा। जो अर्ति में से पैदा हो, वह आर्तध्यान। यानी अर्ति में मन का प्रणिधान, मन की तन्मयता या केन्द्रीकरण, यही आर्तध्यान इष्ट का भी हो सकता है और अनिष्ट का भी ! राग या द्वेष से मन उस पर केन्द्रित हो जाये तो आर्तध्यान हुआ ही समझो। यह आर्तध्यान वर्तमान विषयक हो सकता है भूतकाल संबन्धी हो सकता है और भविष्य काल से संबन्धित भी हो सकता है।

**भूत—भविष्य के आर्त ध्यान :-- संयोग की एकरसता बुरी है**

संसार में रहे हुए और इष्ट-अनिष्ट संयोग में, दूध में शक्कर की तरह एकरस बने हुए जीव को कितनी कठिनाई है ! संयोग में एकरसता जीव के लिये बुरी है ! वह बेचारा भूतकाल या भविष्यकाल घटनाओं के आर्तध्यान से भी नहीं बच सकता ! बीती हुई बात से वर्तमान में क्या लेना - देना ? फिर भी राग-द्वेष के कारण इष्ट-अनिष्ट, प्रिय-अप्रिय, पसन्द-नापसन्द की

कल्पना वाला मन चैन से नहीं बैठता, वह अतीत के आर्तध्यान में जा चढ़ता है। मन में होता है कि “पहले वाला नौकर अच्छा था, लेकिन वह अपने गाँव चला गया, न गया होता तो अच्छा होता।” अब आप ही बताइये, भूतकाल की घटना से आज क्या लेना-देना ? पिछले नौकर के बारे में सोचने से वह आनेवाला तो है नहीं, फिर भी इष्ट के अवियोग का आर्तध्यान किये बिना रहा नहीं जाता।

□ इसी तरह ‘पहले दूसरा तो सब कुछ अच्छा ही भिला था, परन्तु एक अच्छा नौकर मिला होता तो, ठीक रहता।’ यह भूतकाल के इष्ट संयोग संबन्धी आर्तध्यान है। इसी तरह भूतकाल के अनिष्ट वियोग या असंयोग का भी आर्तध्यान होता है। जैसे कि—

□ ‘पहले नौकर खराब मिला, लेकिन ऐसा कि जाने का नाम ही न ले। यह टल गया होता, तो अच्छा होता’। अथवा तो ‘नौकर गाँव गया, परन्तु लौट आया। लौटकर न आया होता तो ठीक रहता।’ वर्तमान में उस नौकर से कोई संबन्ध नहीं है, परन्तु याद आने से मन आर्तध्यान में पड़ता है।

□ ‘बचपन में माँ चल बसी, माँ न मरी होती तो अच्छा होता!’ अब इस-बात का हमसे क्या संबन्ध है ? कुछ नहीं। मरी हुई माँ वापस आ तो नहीं सकती। फिर भी बेचारा जीव भूतकाल के इष्ट के अवियोग का आर्तध्यान अब भी करता है।

## मानव-जीवन और मानव मन से यही करना है ? इष्ट-अनिष्ट कितने ?

इस तरह वर्तमान, भूत या भविष्य काल से संबन्धित इष्ट संयोग या अनिष्ट वियोग, इष्ट के टिकने व अनिष्ट के अनागम सम्बन्धी आर्तध्यान यदि होते हो रहें, तो माप निकालिये कि दिन-भर में और रात को पड़े-पड़े कितने प्रकार के आर्त-ध्यान हुआ करते हैं ? अनमोल मानव जीवन और मानव मन से यही सब करना है ? पहले तो यह देखिये कि जीव को इष्ट-अनिष्ट कितने हैं ? एक लंबी लिस्ट बनाने पर भी शायद पूरा नहीं होगा । इष्ट मानी गयी एक-एक वस्तु में भी अनेकानेक इष्टानिष्ट होते हैं । साफ धोया हुआ कपड़ा पहनने के लिये लिया, यह इष्ट है । परन्तु नये कपड़े की अपेक्षा इस कपड़े को सफेदी अनिष्ट लगेगी । इसमें कहीं धरावर इस्त्री नहीं की गयी है, कहीं पर ठीक तह नहीं किया गया है, कहीं सिलाई की गड़बड़ी है, कपड़ा इतना ऊँचा नहीं है, उसका रंग, मुलायमता आदि धरावर नहीं है, कहीं पर भी दाग नहीं है, तो कहीं पर दाग है आदि-आदि न जाने कितना कुछ अनिष्ट या इष्ट लगता है । इस हिसाब से जीवन-प्रसंग में आने वालो ढेर-सारी वस्तुओं में इष्ट-अनिष्ट की गिनती नहीं की जा सकती । मन को राग-द्वेष, इष्ट-अनिष्ट का रंग लगा दिया कि बस 'अब यह चीज मिले, यह चली जाये, यह टिकी रहे या यह न मिले,' ऐसे भाव होते हो रहेंगे । उसमें जहाँ क्षण भर के लिये भी मन स्थिर हुआ कि आर्तध्यान हो जाता है । एक-एक दिन में ढेर-सारे इष्ट-अनिष्ट होने ही रहते हैं, इस अपेक्षा से आर्तध्यान कितने होंगे ? अरे ! अपने जीवन से जिसका कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसी बात भी कहीं नजर में

आने पर, सुनने पर या अखबार में पढ़ने पर, बाहर की वस्तु के प्रति भी बार-बार आर्तध्यान हो जाता है। इस आर्तध्यान के फल स्वरूप प्रति समय तिर्यचगति के योग्य अनेकानेक अशुभ कर्मों के ढेर ही बाँधते जायेंगे न ? सुबह से शाम तक कितनी बार और कितने कर्मों का बन्ध ? फिर एक बार याद कीजिये, 'उत्तम मानवजीवन और मानवमन से क्या यही करना है ?'

## जीव की चिन्ता :-

अज्ञानी, मूढ़, मूर्ख जीव को भान नहीं है कि 'अनावश्यक आर्तध्यान करके मैं अशुभ कर्मों को न्यौता दे रहा हूँ !' पहनने के लिये धुले हुए वस्त्र निकाले, वहाँ मन में होता है कि-इस्त्री ठीक से नहीं हुई है। इस्त्री बराबर हो तो विचार आता है- 'कपड़े में ऐसी सफेदी या चमक क्यों नहीं ?' पहनने के लिये जूते निकाले, तो लगता है- 'पॉलिश ठीक नहीं हुई है। यह कैसे चल सकता है ?' इस प्रकार के विचार करने वाले जीव को मन्दिर में बिठा दो, तो क्या वहाँ भी उसका चित्त शान्त रहेगा ? वहाँ भी आर्तध्यान से बच पायेगा ? आप कहते हैं न कि 'मन्दिर में, धार्मिक क्रिया में, नवकार वाली गिनते वक्त; हमारा चित्त स्थिर क्यों नहीं रहता ?' चित्त स्थिर कैसे रहेगा ? बाहर चिन्ता और आर्तध्यान के खूब अभ्यास से उसके जालिम संस्कारों से वासिल बना हुआ मन इन विचारों से मुक्त कैसे हो ? मन्दिर में नवकार वाली गिनने में, धर्म क्रिया करने में, वीतराग देव का स्वरूप, पंच परमेष्ठी का स्वरूप, क्रिया का मर्म आदि में चित्त को ओतप्रोत नहीं करना है, फिर तो वहाँ भी जड़ इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करने वाला मन आर्तध्यान में क्यों नहीं पड़ेगा ?



इसीलिये बाहर के विचार कम कीजिये । अब सवाल उठता है कि बाहर की चिन्ता किस प्रकार कम की जाय ?

(१) इसके लिये सबसे पहले बाहर के इष्ट-अनिष्ट, पसन्द-नापसन्द पदार्थ के प्रति रागद्वेष कम करने चाहिये ! ऐसा मत कहिये कि 'राग-द्वेष किये थोड़े ही जाते हैं, वे तो सहज में ही हो जाते हैं' । क्योंकि रागादि आत्मा के स्वभाव नहीं हैं ! यदि राग आत्मा का स्वभाव होता, तो (i) उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता, जैसे एक वस्तु पर राग मिटकर द्वेष आता है और द्वेष मिटकर राग होता है । ऐसा नहीं होता । (ii) महात्माओं को रागादि कम होते हैं, ऐसा नहीं होता और (iii) यदि राग न मिटता हो, तो मोक्ष कैसे मिले ?

हमें अभी एक वस्तु पर राग हैं, लेकिन बाद में वही राग मिटकर उसी वस्तु पर द्वेष होता है । यदि राग ही जीव का स्वभाव होता तो यह राग-द्वेष का परिवर्तन नहीं होता । महावीर प्रभु वीतराग थे, ऐसा आप मानते हैं ? यदि मानते हो, तो यदि उनका राग स्वभावभूत होता तो कैसे उड़ता ? राग जीव का स्वभाव नहीं है ! हाँ, अनादि काल से चला आता है, इसलिये सहज ही होने जैसा दिखता है और हमें लगता है कि हमारा राग का स्वभाव है ।

**राग-द्वेष को कैसे दबाया जाय ?**

यदि (१) सच्ची समझ, (२) परलोक में इससे होने वाले नुकसान का भय तथा (३) वर्तमान में भी इस से जीव की होने वाली दीन दशा के प्रति धृणा पैदा हो और पंच परमेष्ठी

दृष्टि के सम्मुख लाया जाय, तो राग-द्वेष को दवाना आसान हो सकता है ।

### राग में धृणा का उदाहरण :--

एक पुरुष को दो पत्नी थी । नयी पत्नी के कहने से उसने पहली पत्नी को अगल रसोईघर दे दिया । एकबार वह व्यक्ति वसूली के लिये दूसरे शहर गया और दुपहर में देर से घर लौटा । आकर पत्नी से भोजन परोसने के लिये कहा । नयी पत्नी बड़े नखरे के साथ बोली-‘अभी भोजन करना है ? यहाँ तो चौका साफ हो चुका है ।’ पति बेचारा कहता है-‘तो क्या मैं भूखा रहूँ ?’ नयी पत्नी बोली-‘नहीं, नहीं, भूखे क्यों रहेंगे ? आप कई बार पहली पत्नी की प्रशंसा करते हुए कहते हैं न कि वह आपका बहुत ध्यान रखती है । तो जाइए उसी-के पास, वह आपको खाना खिला देगी ।’

पति पुरानी पत्नी के पास गया । वह तो बहुत खुश हुई । उसने पति को बड़े आदर से भोजन करने बिठाया । परन्तु इस व्यक्ति को खाना अच्छा नहीं लगना ! मुँह बिगाड़कर बोला-‘तुम्हें खाना बनाना भी आता है या नहीं ? खाने में कोई स्वाद नहीं है । जा, नयी के हाथ से बनी कोई सब्जी ले आ, तभी रोटी गले से उतरेगी ।’

पुरानी पत्नी ने नयी पत्नी से कहा-‘बहन ! तुम्हारे हाथों से बनायी कोई सब्जी दे दो ।’ उसने तो जवाब दे दिया-‘क्या दूँ ? यहाँ तो कुछ नहीं है ।’ पहली ने कहा-‘न हो तो कुछ बनाकर दे दे न ? उनके गले रोटी नहीं उतर रही है !’

नयी पत्नी तो जल्दी से उठकर पिछवाड़े की ओर गयी। वहाँ से गाय के बछड़े का दाने वाला सरकंडा (छाणा) उठा लायी। कढ़ाई में तेल का छौंका लगाकर, मिर्च-मसाले डालकर वह सरकंडे की सब्जी पहली का दे दी। वह तो चौंक कर कहने लगी-‘अरे, पगली ! पति को ऐसा खिलाया जाता है ?’ नयी तो बोली - ‘तू ले जा, वे न खाये तो मेरा नाम नहीं !’

पुराना पत्नी ने जल्दी से वह सब्जी ले जाकर पति के पास रख दी। वह मूढ़ तो रोटी के कौर के साथ बड़े मजे से वह सब्जी खाता जाता है और कहता है-‘देखा ? सब्जी कैसी बनायी जाती है ? तुझे तो कुछ नहीं आता ।’ तब पुरानी ने कहा, ‘आपने क्या खाया है, मैं बता दूँ ? उसने सब्जी नहीं, गाय का सरकंडा आपको पकाकर दिया है ! मैंने उसे मना किया तो कहने लगी तू ले जा, तू ही देख लेना वे खायेंगे या नहीं !’

बात सुनकर पति चौंक उठा। ‘उस नयी को इतना घमंड ? उसने मुझे गोबर की सब्जी खिलायी ? लेकिन इसमें उसका क्या दोष ? दोष तो मेरा ही था कि मैं उसके राग में इतना अंधा हो गया ।’

इस तरह उस आदमी को राग के प्रति धृणा हो गयी। जब नयी पत्नी उसकी इष्ट न रही और उसके प्रति राग कम हो गया। चिन्ता को टालने का पहला उपाय यही है कि इष्ट-अनिष्ट की कल्पना छोड़कर उनके प्रति राग-द्वेष कम

करो । राग-द्वेष कम करने से मन बाहर की चिन्ता में कम भटकेगा ।

(२) निरर्थक विचार रोक्ने का दूसरा उपाय है कि मन पर काबू रखिये । मन बाहर भटकने लगे या व्यर्थ की चिन्ता करने लगे कि तुरन्त अन्दर से मन को कड़क हुक्म दीजिये कि 'अरे नादान ! यह क्या लगा रखा है ? यह देखना सोचना बन्द कर दे । परमात्मा महावीर के १६ वें विश्वभूति के भव का चिन्तन कर ।' मन को ऐसा हुक्म देकर विचार करने लगिये । अतः में मन को कहा जाय- '१२ नवकार गिन' और गिनतीवद्ध १२ नवकार एकदम शुद्ध गिनने लगिये । ध्यान से नवकार गिनने से दूसरे विचार आने बन्द हो जायेंगे । अपनी आत्मा मालिक है, बाह्य इन्द्रियों की तरह मन भी अपने अधीन है । हम जैसे चलायें, वैसे ही इन्द्रियाँ बाणी व मन चलेगी ।' ऐसा भाव पैदा करने से मन पर काबू आयेगा ।

(३) विकल्प - विचार व चिन्ता से बचने का तीसरा उपाय यह है कि बाहरी पदार्थों को महत्त्व न दिया जाय । हर का तो नाशवंत है, आचाराम - गयाराम है, जब कि आत्मा और उसका उदासीन भाव आदि संपत्ति तो अविनाशी है । अविनाशी आत्मा नश्वर पदार्थों को क्यों महत्त्व दे ? मन में एक ही भावना रमण करती रहे कि 'यह बाहर का सब कुछ तुच्छ है, कुछ नहीं है । गरीब व्यक्ति पड़ौसी के यहाँ उड़ाये जाने वाले मेवे-मिठाई को तुच्छ न गिने तो ही सुख से खा-पीकर मजे से रह सकता है । प्रतिदिन विचार कीजिये कि इस बाह्य जड़ को महत्त्व देकर तो अनन्त काल से संसार - अटवी में

भटकता रहा हूँ । अब यह बंधा और न चलेगा ।' रामचन्द्रजी ने यदि राज्याभिषेक को महत्त्व दिया होता, तो वनवास कैसे स्वीकार करते ?

दुनिया के सारे भगड़े जड़ को महत्त्व देने से पैदा होते हैं । यह महत्त्व देना बन्द किया जाय, तो भगड़े और जड़ से संबन्धित विचार य चिन्तायें कम हो जाये ।

(४) आर्तध्यान का एक एक कारण है-इष्ट वस्तु प्रिय लगना और अनिष्ट वस्तु अप्रिय लगना । इसलिये अब उल्टा अपनाइये । इष्ट को अनिष्ट मानें और अनिष्ट को इष्ट मानें । यह करना कठिन तो है, परन्तु इसमें यदि तात्त्विक समझ मिला दें, तो यह काम आसान हो जाय । उदाहरण के लिये- किसी का बंगला-गाड़ी-कमाई-ठाठ देखकर मन ललचाया, वह इष्ट लगा, वहाँ पर विचार किया जाय कि 'अरे अरे ! यह कितना बड़ा राग का साधन ह ? कैसे महा आश्रव यानी पाप-बंध का कारण है ? यह बेचारा जीव इसमें कुचल जायेगा !' अथवा तो 'यह सुनहरा रमाल तो भगवान को भुलाने वाला है, सत्संग व धर्म को भुलाने वाला है, उत्तम मानव भव इसके पीछे नीलाम हो रहा है !' अथवा - 'इन मोटर-बंगले - पैसों के पीछे कैसे पापों का आचरण होता है ?' इनका कैसा अभिमान ? कंसी सुख - प्रियता ? कैसे महा-आरंभ - झूठ - माया - प्रपंच ? इस प्रकार तत्त्व से विचार करने से इष्ट भी कनिष्ट लगने लगेंगे । इस तरह अनिष्ट गरीबी आदि में ये सब दोष नहीं, देव-गुरु-धर्म की विशेष सगाई, अधिक इष्ट लेगी । इस तरह इष्ट को अनिष्ट और अनिष्ट

को इष्ट मानने से आर्तध्यान घट जायेगा ।

(४) इष्ट को अनिष्ट मानने से ही पर्याप्त नहीं समझ लेना, परन्तु इष्ट को प्रवृत्ति कम करते जाना, यह भी आर्तध्यान को रोकने का एक उपाय है । दो मिनट बैठे कि पाँव लंबे करने का मन होता हो और इधर-उधर देखने का मन होता हो, फुरसत मिलते ही बातें करने की मन में इच्छा होती हो, बाजार में निकलने पर कुछ भी देखने को दिल करता हो आदि सब इष्ट कहा जाता है इसमें कटौती करते जाना, वह प्रवृत्ति कम करते जाना और उस पर अंकुश रखना ।

(६) इष्ट की प्रवृत्ति कम करते जाईये । उदारण के लिये :- भोजन में चार चीजों से काम चल सकता हो, तो परोसी गयी दूसरी चीजें थाली में से निकाल दीजिये: मत लीजिये । इसी तरह बिना काम घूमना-फिरना लोगों से मिलना जुलना वन्द कर दीजिये । दुनिया को जानने की आतुरता ही मत रखिये, आँखें इधर-उधर भटकाने के बदले आँखें मूंदकर परमात्मा को देखिये ।

समझ लीजिये, अधिक आवश्यकताओं व ज्यादा सुविधाओं में आर्तध्यान को अधिक अवकाश रहता है ।

(७) जिसने सुविधायें कम कीं, आवश्यकताओं में कटौती की, इष्ट में कटौती की, उसने अधिक इष्ट के निमित्त से होने वाले आर्तध्यान को रोका । आर्तध्यान को रोकने के लिये एक उपाय यह है कि संसार की असारता और निर्गुणता पर



भिन्न - भिन्न रीतियों से खूब विचार किजिये । संसार की एक-एक बात में रही हुई असारता व निर्गुणता को खोजिये और उसे हृदय में खूब जमा लीजिये । बाद में अच्छा व्यापा, अच्छे पैसे, अच्छा सेवा परायण परिवार, प्यारी पत्नी, प्रतिष्ठा, जड़ पदार्थ; आदि संसार की प्रत्येक वस्तु की असारता व निर्गुणता पर चिन्तन कीजिये । प्रश्न उठेगा कि—

## संसार के पदार्थ असार क्यों ?

इसके कई कारण हैं ।

(१) ये परमात्मा को भूलाते हैं । पैसे - शक्ति व समय का व्यय करके परमात्मा की अच्छी तरह से पूजा करना भी ये भुला देते हैं ! क्योंकि ये पदार्थ मन को ऐसा मनवाते हैं कि ये सब वस्तुयें तो संसार निभाने के लिये जरूरी हैं ।

(२) संसार ही अनेक प्रकार के लोभ, राग, क्रोध, मान आदि दोषों का सेवन करवाता है ।

(३) संसार ही हिंसा, झूठ आदि दुष्कृत्यों का सेवन करवाता है ।

(४) संसार के कारण ही बहुत आर्तध्यान होता है ।

(५) संसार में ढेर सारे अशुभ कर्म बंधते हैं ।

(६) अन्त समय आने पर संसार की सर्व वस्तुओं पर राग होने से दुःख का पार नहीं रहता ।

इस प्रकार संसार की प्रत्येक वस्तु की असारता का खूब-खूब विचार किया हो, तो वह वस्तु यहाँ - वहाँ चली जाने

पर आर्तध्यान नहीं होगा ।

असार पदार्थ की क्या चिन्ता करना ? चिन्ता नहीं होगी, तो आर्तध्यान भी नहीं होगा ।

**आर्तध्यान रोकने के साधन :-**

(१) इष्ट-अनिष्ट के प्रति राग-द्वेष कम करना, (२) मन पर काबू, (३) नश्वर पदार्थों को महत्त्व न देना, (४) इष्ट को अनिष्ट मानना व अनिष्ट को इष्ट मानना; (५) इष्ट की प्रवृत्ति कम करना, और (६) ससार की प्रत्येक वस्तु की असारता का चिन्तन करना ।

यह सब करते रहने से आर्तध्यान कम होता है और वाद में धर्मक्रिया करते वक्त आर्तध्यान ज्यादा परेशान नहीं करता इससे शुभ भाव में चित्त की स्थिरता रहती है । शुभ में स्थिरता रहने पर ही धर्म-साधना का सुन्दर फल आता है और भव की मंजिल कट जाती है ।

शुभ भाव की स्थिरता के बिना बेचारी अकेली क्रिया भी क्या करे ? धर्मक्रिया तो मन को शुभ भाव में रखने का परम साधन हैं । लेकिन आर्तध्यान शुभ भाव को कहाँ टिकने देता है ? ऐसा चलाते रहने में जीव की कंसी कंगाल दशा हो जाएगी ? कंसी सत्त्वहीनता ? कंसी बुद्धिहीनता ?

जीव कंगाल है, क्योंकि वह छोटी-छोटी इष्ट-अनिष्ट बातों को महत्त्व देता है । जीव सत्त्वहीन है, क्योंकि वह तुच्छ पदार्थों की चिन्ता को रोक नहीं सकता । जीव बुद्धिहीन है,

क्योंकि वह इस चिन्ता से होने वाले नुकसान को नहीं समझता और यह चिन्ता भुलाना उसे नहीं आता ।

इष्ट - अनिष्ट तो ललाट के साथ ही लिखे हुए हैं । इसलिये आर्तध्यान आते ही सावधान हो जाना चाहिये और विचार करना चाहिये-

**प्रेरक विचार :-**

ऐसी असार वस्तु की फिजुल चिन्ता से मन को काला करने के लिये यह मन नहीं मिला है ।

पशुओं व अनार्य मनुष्यों की अपेक्षा विशिष्ट कोटि का मन तो अविनाशी परमात्मा को सौंपने के लिये मिला है ।

तुच्छ और नश्वर जड़ वस्तु को अपना मन तो पशु और अनार्य सौंपते हैं । मेरा मन तो तत्त्वज्ञान के फूलों का उद्यान है, आर्तध्यान का उकरड़ा-गंदगी का ढेर नहीं । इसीलिये आर्तध्यान के आते ही इष्ट को ललकारूँ कि 'तुझमें भला अच्छा लगे ऐसा है ही क्या, कुछ भी नहीं है, और अनिष्ट को कहूँ कि 'तू तो मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता' ।

छोटी-सी बात की महत्व देने की दीनता, उसकी चिन्ता करने की निःसत्त्वता और चिन्ता के नुकसान न समझने की मूर्खता मैं नहीं करूँगा ।'

वेदना के आर्तध्यान में भी सावधान होकर आर्तध्यान को हटाये । दवा, डाक्टर, पथ्य और खाने-पीने की बहुत चिन्ता करना निष्फल है; और रोग की पीड़ा के लिये हाय-हाय करना

व्यर्थ है। चिन्ता या हाय-हाय करने से कुछ हाथ नहीं आता, सिर्फ आर्तध्यान होकर तिर्य्यगति के पापों का उपार्जन होता है। अच्छा धार्मिक प्रवृत्तिवाला जीव भी यदि आर्तध्यान में भरे, तो एक बार तो दुर्गति में ही जाता है। चलिये, फिर एक बार मरुभूति का जीवन प्रसंग देखें। उबयेगा मत। तीर्थंकर देवों के चरित्र बार-बार याद करना अच्छा लगता है? अपने स्वयं के गुणगान बार-बार सुनने अच्छे लगते हैं न? लेकिन उससे तो पापों का बन्ध होता है। प्रभु के बारंवार गुण-गान से कर्मक्षय होता है।

पार्श्वनाथ भगवान का जीव मरुभूति श्रावक व्रतों का सुन्दर ढंग से पालन करने वाला, धार्मिक जीवन जीने वाला और पवित्र विचारों में रमण करने वाला था! अपने दुष्ट भाई कमठ के दुराचार व उद्दण्डता के लिये राजा ने उसे नगर से बाहर निकाला तो मरुभूति को पछतावा हुआ कि 'उसके कण्ठ में मैं निमित्त बना, यह तो बुरा हुआ' और वह भाई से क्षमा माँगने गया! सोचिये, कितनी उच्च कोटि का जीव होगा! सा आदर्श धर्मात्मा श्रावक! उसकी दुर्गति होगी या सद्गति? ऊँची सद्गति ही होगी न? लेकिन क्या हुआ? जब मरुभूति कमठ के चरणों में गिरकर क्षमा माँगता है, वहाँ कमठ ने क्रोध में आकर उसके सर पर पत्थर की शिला गिरा दी। भयंकर वेदना में धर्मात्मा मरुभूति आर्तध्यान में पड़ गया, 'अरे! मैं तो इससे क्षमा माँगता हूँ और यह मुझे मार रहा है? हाय कैसी पीड़ा।' ऐसे आर्तध्यान में मरकर वहाँ से जंगल के हाथी का अवतार पाया न? तीर्थंकर का जीव है, बरसों का धर्मात्मा है, फिर भी दुर्ध्यान को कोई शर्म आयी? नहीं, लाज-शर्म रखे बिना

दुर्ध्यान ने उसे उठाकर सद्गति में से भ्रष्ट करके दुर्गति में पटक दिया ! जीवन में यदि एक बार भी ऐसा दुर्ध्यान - हाय-हाय करने का यह फल मिलता है, तो जीवन भर ऐसा ही करने वाले की क्या दशा होगी ? बाद में वहाँ वचाव के लिये कहा जाय कि 'ऐसे ही संयोग मिलते हैं, इसमें हमारी क्या गलती ? हम क्या करें ?' ऐसा वचाव काम में नहीं आ सकता । कर्म तो मानों यही कहता है- 'दूसरे की गलती में भी तूने आर्तध्यान क्यों किया ? आर्तध्यान तो गुनाह है; तेरे गुनाह की सजा तू ले ले, उसको उसके गुनाह की सजा मिल जाएगी । तू तो तेरी सजा भुगत ले ।' इससे सूचित होता है कि-

दूसरे के अपराध में भी हमें हमारा मन विगाड़ने का अधिकार नहीं है । मन विगाड़ने पर वचाव नहीं मिलेगा और कर्म की उधारी भी नहीं रहेगी, कर्म तो तुरन्त चिपके ही ममभो । आर्तध्यान यानी मन को विगाड़ना । इससे तिर्यचगति के योग्य अशुभ कर्म आत्मा पर चिपक जाते हैं । धर्मात्मा मरुभूति ने भी इसी तरह तिर्यच हाथी का अवतार पाया ! उसकी धर्म साधना और धर्म भावना तो निष्फल नहीं गयी, क्योंकि उसके सुसंस्कार आत्मा में पड़े हुए हैं । कोई अच्छा निमित्त मिलने पर वे सुसंस्कार उस जीव को ऊँचा उठावेंगे । हाथी दबे हुए मरुभूति को ऐसा निमित्त मिला गया और वह ऊँचा उठ गया । लेकिन निमित्त न मिला होता, तो क्या होता ? यह तो अच्छा हुआ कि-

राजा अरविंद धर्मात्मा मरुभूति की ऐसी दुःखद मृत्यु देखकर अत्यन्त विरक्त होकर संसार छोड़कर चारित्र्य लेते हैं, तन तोड़कर संयम, तप, स्वाध्याय आदि की साधना करते हैं

और शरीर से जितना सार लिया जा सके, लेते हैं। आम का रस निकालते हुए उसे गुठली तक बराबर निचोड़कर रस निकालते हैं न ? वस, अरविंद राजर्षि भी इसी तरह काया और मन का पूरा सार निकालने लगे। इसमें उनके अवधिज्ञान हुआ। एक बार जंगल में सार्थ के साथ गुजरते हुए राजर्षि के सामने वही हाथी दौड़कर मारने के लिये आया, लेकिन पूर्व के स्नेह से वहीं खड़ा रह गया। राजर्षि ने अवधिज्ञान से उसे पहचानकर बोध दिया। 'बुझ बुझ मरुभूई !' ऐसा कहकर जागृत किया। इस पर विन्तन करते हुए हाथी को पूर्व जन्म का स्मरण हुआ। पूर्व-जन्म में थोड़े से दुर्ध्यान के कारण अपनी यह दुर्दशा हाथी ने जानी। उसने वहाँ फिर से समकित पाकर वृत लिये और तिर्यंच हाथी होने पर भी श्रावक धर्म का पालन करने लगा।

उसमें भी हाथी ने खास तौर से आर्तध्यान से बचने के लिये पूरी सावधानी रखी।

क्यों भाई ?

(१) इसीलिये कि आर्तध्यान करते ही दूसरी किसी अपेक्षा के बिना और क्षणभर के भी विलंब के बिना अशुभ कर्म बन्ध की सजा का फंमला सुना दिया जाता है। दुर्ध्यान किया नहीं कि तुरन्त अशुभ कर्म बाँधो। यदि दुःखदायी कर्म बन्ध नहीं चाहिये, तो फिर आर्तध्यान न होने देने के लिये जागृति रखनी ही पड़ेगी।

(२) दूसरा कारण यह है कि आगे के बारे में हम नहीं जानते कि आगे कर्मवश कैसे संयोग आयेंगे ? उस समय कौसी



परिस्थिति होगी ? कैसे दुःखदायी इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग हो जाये या कोई वेदना आ जाय ? और अन्तकाल में तो न जाने कौसी परिस्थिति होगी ? अब यदि अच्छा स्थिति में सामान्य इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग या रोग में आतं ध्यान से वचने का अभ्यास ही न रखा, तो ऐसी भावी विपत्ति के समय आतं ध्यान कैसे रहेगा ? उस भारी विपत्ति के समय तो कौसा भयंकर आतं ध्यान होगा ?'

ऐसा समझकर हाथी अभी से आतं ध्यान को रोकता है । इसका सुखद फल यह मिला कि अन्तकाल में भयंकर वेदना में भी आतं ध्यान छोड़कर सुन्दर समाधि व धर्मध्यान में रह पाया । ग्रीष्म के ताप में प्यास लगने पर तालाब में उतरा, पर कीचड़ में फँस गया । यहीं पर जल सर्प वने कमठ के जीव ने उसके मर्म स्थान पर डस लिया, अपार वेदना होने लगी । लेकिन उसने शुभ ध्यान ही रखा—

'यह तो मेरे कर्म का ही विपाक है । इसमें साँप को क्यों दोष दूँ ? यह तो बेचारा दया का पात्र है कि पाप से अपना पेट भर रहा है, जिसके फल-स्वरूप बेचारे को महादुःख सहने पड़ेंगे । मेरे कर्म तो अकाट्य हैं, भोगे बिना छूटेंगे नहीं । ऐसी निर्धारित; अनिवार्य कर्म— पीड़ा की क्या चिन्ता करना ? वह चिन्ता छोड़कर परमेष्ठि परमात्मा का ही ध्यान क्यों न कर ?' नमस्कार महामंत्र के स्मरण में मृत्यु पाकर हाथी स्वर्ग में पहुँच गया ।

महभूति के ऊँचे मानव भव में आतं ध्यान से मरने पर तिर्यचगति मिली और तिर्यच हाथी के हल्के भव में शुभ ध्यान से मरने पर देव का अवतार मिला । कितना अन्तर ? इतना

याद रखिये जीवन में शुभ ध्यान का बहुत अभ्यास किया हो, बार-बार आर्तध्यान को रोका हो, तो यह अभ्यास अन्त समय में उपयोगी होता है और मन को आर्तध्यान से निकालकर शुभ ध्यान में जोड़ सकते हैं। उस समय वहाँ वेदना का हिसाब नहीं होता कि वेदना हो, तो मन आर्तध्यान कैसे नहीं करेगा ? जीवन जीते हुए रोग की सामान्य वेदना के समय आर्तध्यान को रोकने का अभ्यास कर लिया है, इसलिये अब अन्त समय में भी आर्तध्यान नहीं होगा।

### वेदना में आर्तध्यान कैसे टले ?

रोग की वेदना आने पर वैद्य-डाक्टर को बुलाना पड़ता है, दवा-पथ्य आदि की चिन्ता करनी पड़ती है। फिर भी यदि कुशलता से काम लिया जाय, तो आर्तध्यान रोका जा सकता है। इसके लिये यहाँ शास्त्र में मुनि के वारे में जो विचार किया गया है, वह उपयोगी है। प्रश्न किया जाता है कि मुनि बीमार पड़ते हैं, वे भी वैद्य का आश्रय लेते हैं, दवा उपचार कराते हैं, फिर भी उन्हें आर्तध्यान क्यों नहीं ? इसका उत्तर आगे देंगे।

### मुनि को रोग में आर्तध्यान क्यों नहीं ?

रोग आने पर भी मुनि मध्यस्थ भाव में रहते हैं, इसी-लिये उनको आर्तध्यान नहीं होता। 'मध्यस्थ' अर्थात् वे राग-द्वेष की ऊँची-नीची, गढ़-खाई वाली भूमि पर चढ़ते-उतरते नहीं, वे तो मध्य में साम्यावस्था को सपाट भूमि पर रहते हैं। अर्थात् वे शरीर के राग में या रोग के द्वेष में नहीं पड़ते।

यदि रोग पर द्वेष नहीं है, तो उसे दूर करने प्रयत्न क्यों करते हैं ?

उ०—रोग को दूर करने का प्रयत्न सतत श्रुतोपयोग, श्रुत-वृद्धि, गच्छ की संभाल आदि के लिये करते हैं। श्रुत यानी शास्त्र, शास्त्र में कहे गये तात्त्विक पदार्थ ! उन्हीं में चित्त लगा रहे, इसी उद्देश्य से रोग को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। 'रोग पीड़ा देता है, रोग बुरा है, सहा नहीं जाता', ऐसा रोना नहीं रोते या ऐसी कायरता से रोग मिटाने का प्रयत्न नहीं करते। उनका उद्देश्य तो यही है कि रोग में मन जाने से शास्त्र-चिन्तन, तत्त्व चिन्तन ठीक से नहीं हो पाता, इसीलिये रोग को मिटाने का प्रयत्न करते हैं। उद्देश्य ऊँचा होने से चिकित्सा का प्रयत्न होने पर भी पीड़ा का आर्तध्यान नहीं है। पीड़ा पर द्वेष नहीं है और नीरोगता पर राग नहीं है। इसीका नाम है—मध्यस्थ भाव। काया की पीड़ा - अपीड़ा की क्यों ज्यादा कीमत आंकी जाय ? कीमत तो आत्मा के स्वास्थ्य - अस्वास्थ्य की है। आत्मा स्वस्थ हो, समता-समाधि में रहे, इसकी कीमत है। क्योंकि आत्मा यदि अस्वस्थ हो, असमाधि में हा तो दीर्घकाल तक पीड़ा देने वाले कर्मबन्धनों से बंध जाती है। यदि आत्मा स्वस्थ हो, समाधि में हो, तो कर्म बंध टल जाता है और पुराने कर्म भी नष्ट होते हैं।

प्र० आत्मा स्वस्थ व समाधि में कैसे रहे ?

उ० शास्त्र - चिन्तन में लगे रहने से आत्मा स्वस्थ व समाधि में रह सकती है।

मन शास्त्र में लगा रहे, यानी कि दूसरे राग-द्वेष भरे विचार, संकल्प-विकल्प तथा कषायों में न जाय। यह नियम है

कि मन एक ही जगह रह सकता है । यदि मन अच्छी बात में लग जाय, तो बुरे में नहीं जायेगा । शास्त्रों का चिन्तन-मनन अच्छा है । मन को उसमें रोके रखिये, फिर यहाँ-वहाँ के विचार टल जायेंगे । मन को खुराक चाहिये । अच्छी खुराक दी जाय, तो वह कचरा नहीं खायेगा । मन का काम बड़ा सीधा है । उसे अच्छे शास्त्राभ्यास व तत्त्व चिन्तन का काम दे दिया जाय, तो वह बुरे विकल्प-विचार नहीं करेगा और अच्छे में रोके रहने से स्वस्थता व समाधि भी बनी रहेगी । ऐसी स्थिति बनाये रखने के लिये ही मुनि, रोग में चिकित्सा करते हैं । 'रोग से दुर्बल व पीड़ित काया शास्त्राभ्यास में ज्यादा जोर नहीं लगा सकती, इसीलिये थोड़ा उपचार करा दूँ, जिससे शास्त्राभ्यास सुन्दर ढंग से चला करे ।' ऐसे अच्छे उद्देश्य से ही मुनि, रोग की चिकित्सा करते हैं । बाकी पीड़ा अच्छी नहीं लगने का सवाल नहीं है, शारीरिक स्वास्थ्य का राग नहीं है, पीड़ा के प्रति द्वेष नहीं है । इसीका नाम है—मध्यस्थ भाव ।

राग-द्वेष के प्रवाह में न वह जाना, बीच में खड़े रहना, इसका नाम है—मध्यस्ता । यदि शरीर पर राग न हो, तो उस पर आपत्ति या रोग आने पर उसके प्रति द्वेष नहीं होगा ।

एक ओर राग होता है, तभी दूसरी ओर द्वेष जगता है । पैसे, कुटुम्ब, दुकान—ये सब जीव को राग करने के लिये प्रेरित करते हैं । बाद में यदि आपत्ति आ पड़े, तो द्वेष होगा व हाय-तौबा मच जायेगी । जिसको राग है, उसे द्वेष आयेगा ही । जिसे पैसे पर राग है, उसे कम आमदनी और महंगाई पर द्वेष होगा । जिसको कुटुम्ब पर राग है, कुटुम्ब के बीमार पड़ने या कुछ कष्ट में आने

पर हाय-हाय करेगा। राग में वहे तो द्वेष में भी वहना पड़ेगा। राग की पीड़ा कम होगी, तो द्वेष की पीड़ा भी कम होगी।

पर पदार्थ, उसके राग में फँसने वालों के साथ अन्त में द्रोह करने वाले हैं। आत्मा में से निकलकर बाहर में फँसे, बाहर की चीज पर राग किया, तो द्वेष व हाय-हाय ही समझो। राग ही क्यों करते हैं? समझ रखना चाहिए कि 'मैं जिसके राग में' फँस रहा हूँ, वह बाहर की जमात तो ऐसी है कि अवसर आने पर जीव का द्रोह ही करती है। संयोग नाशवंत हैं, यानी बाहर के संयोग टिकने वाले नहीं हैं, वे तो जाने ही वाले हैं और जीव को भटकाने वाले हैं। ये तो मानों यही कहेंगे कि—'हम तुम्हारे नहीं हैं, सारी दुनिया तुम्हारी नहीं हैं। तुम जाओ, हम तो यही रहने वाले हैं।' ये बाहर के जड़-चेतन पदार्थ एक दिन जीव को सोख देंगे। मरने वाले को कोई 'आइयेगा' ऐसा भी नहीं कहेगा। क्यों? वहाँ भय रहता है कि कहीं भूत बनकर आ गया तो? आज कई पूर्व जन्म के स्मरण वालों को पूर्व भव के सम्बन्धी रखने को तैयार नहीं और इस जन्म के सम्बन्धी उसे छोड़ने को तैयार नहीं। बाहर के संयोगों की कैसी विषमता? आदमी मरता हो, तब भी घर-दुकान, तिजोरी, बीबी-बच्चे सब सलामत ही रहेंगे, सिर्फ खूद ही सलामत नहीं है। सब यहीं रहने वाले हैं, कोई उस जीव के साथ नहीं जाएगा।

जड़ संयोग उछलती हुई करोड़पति कन्या के जैसे है। चाहे जैसे सुखकारी लगने वाले पर पदार्थ भी संयोग में आये, तभी से मानों जीव को कहते हैं कि 'हम तो तुम्हें एक बार एकदम अकेला छोड़ देंगे!' यह तो ऐसी ही बात हुई, जैसे कि किसी लड़के की शादी करोड़पति लड़की से हुई हो, शादी करके घर लाये, तभी से

उछलती हो और कहती हो कि “आप ऐसा करेंगे, तो मैं अपने मायके चली जाऊँगी। चाहे तुम मेरी चिन्ता करो, लेकिन मैं तुम्हारी परवाह नहीं रखती। तुम्हारे बिना भी मैं ता जिन्दगी बिता सकती हूँ।”

ऐसी लड़की कभी रुठकर चली भी जाये, लेकिन यदि उसके पति ने पहले से ही यह याद रखा हो कि ‘यह तो कल जाने जाने ही वाली है। इसे मुझ पर राग नहीं है, तो मैं इस पर राग क्यों रखूँ?’ ऐसा सोचकर यदि वह पहले से ही उस पर राग न करे, तो उसके जाने से अधिक द्वेष या दुःख नहीं होगा। वह तो कहेगा कि ‘मैं तो जानता ही था कि यह तो दूसरे ही दिन जाने वाली है। लेकिन इतने दिन रह गयी, यह बड़े आश्चर्य की बात है। अब गयी, तो भले गयी। जिसका जाना मैंने निश्चित ही मान लिया था, उसके जाने से मुझे कोई दुःख नहीं है। वह रही, तब तक मैंने उसके पिता कि संपत्ति और इज्जत के सहारे अपना काम जमा लिया। जो पहले से ही इतनी उछल रही थी, उसके चले जाने में दुःख क्यों मानूँ?’

बस, जगत के पदार्थ करोड़पति की कन्या जैसे हैं। मनपसन्द पदार्थों के संयोग जब से मिलने हैं, तब से उनकी धीमी-सी आवाज सुनायी पड़ती है कि ‘हम तो जाने ही वाले हैं। चाहे तुम हमारी चिन्ता करो, लेकिन हम तो तुम्हारी चिन्ता करने वाले नहीं हैं! तुम्हारे बिना भी हम यहाँ रह सकते हैं।’ अब ये पदार्थ यकायक चले जायें, तो पहले से ही उनका जाना निश्चित समझ रखने वाले, और राग न करने वाले व्यक्ति का उनके जाने का दुःख नहीं होगा। वह तो कहता है कि-“मैं तो पहले से ही जानता था कि या तो कल ये मुझे छोड़कर जायेंगे,



या इन्हें छोड़कर मैं जाऊँगा। इतने दिन तक मेरा और इनका संबन्ध टिका रहा, यही आश्चर्य की बात है। अब ये चले गये, ता भी कोई बात नहीं। 'निश्चित रूप से जाने ही वाले हैं', ऐसा समझने के बाद तो उनके जाने का गम कैसा ? वे रहे, तब तक इन पर-पदार्थों के सहारे मैंने अपना आत्म हित भी साध लिया। अब ये छोड़ जायें, इसमें मुझे चिन्ता करने की क्या आवश्यकता ?" इस तरह यदि पहले से ही राग को रोक दिया, तो बाद में द्वेष या खेद भी नहीं हाँगा। ऐसे लोग ही सुख से जी सकते हैं और सुख से मर भी सकते हैं।

हमें समझदार बनना चाहिये। समझदारी इस में है कि 'जगत के पदार्थ अचानक जाने वाले हैं', ऐसा समझकर जड़ पदार्थ पर बिल्कुल राग न रखें और उनकी मौजूदगी में अपना आत्म हित साध लें।

### शरीर पर सुन्दर विचार :-

शरीर भी उन्हीं पर पदार्थों में से एक है। जब तक यह है, तब तक इससे शक्य आत्म हित का काम साध लेना चाहिये। नहीं तो यह शरीर की बला, जाने लगे, तब उसका दुःख नहीं होगा। नहीं तो जोरदार शोक भरी पुकार निकलेगी—'हाय ! मुझे मरना होगा ?'

यह शरीर तो धोखेबाज है। इसीलिये यह है, तब तक विचार की दृढ़ता और स्थित प्रज्ञता रखकर उसके पास से काम निकलवा देना चाहिये।

रोग में आर्तध्यान होने के दो कारण हैं—(1) मध्यस्थता और (2) कर्मफल विचार

(1) मुनि, रोग में चिकित्सा कराते हैं, फिर भी उन्हें आर्तध्यान क्यों नहीं, उसी की यह बात चल रही है। मुनि को आर्तध्यान न होने का एक कारण यह है कि मुनि मध्यस्थ हैं। उन्हें शरीर पर राग नहीं है, रोग पर द्वेष नहीं है। वे समझते हैं कि 'शरीर भी एक दिन जाने वाला है और रोग जाने वाला है। ऐसे नाशवत पदार्थ पर राग-द्वेष क्यों रखना ?'

(2) मुनि को आर्तध्यान न होने का दूसरा कारण यह है कि रोग के मूल में उन्हें अपने कर्म-विपाक का विचार है, खयाल है। वे सोचते हैं कि 'यह रोग-वेदना-आपत्ति मेरे स्वयं के बाँधे हुए, पूर्व कर्म के उदय के कारण ही आये हैं। अशुभ कर्म के उदय के बिना आपत्ति नहीं आती। मेरे अशुभोदय के बिना मेरा शरीर भी खराब नहीं होगा। दुनिया में ऐसी कोई सत्ता नहीं है कि जो जीव के अशुभ कर्म के बिना उसका कुछ बिगाड़ सके।

**श्रीपाल-धवल : जीव को किसका सहारा है ?**

धवल सेठ ने लाख कोशिशें कीं, पर वह श्रीपाल के कुँवर का बाल भी बाका नहीं कर सका। उससे तो श्रीपाल का और भी शुभ-शुभ होता ही गया। श्रीपाल के जहाज और उसकी दो सुन्दर स्त्रियाँ कब्जे में करने के लिये धवल ने श्रीपाल को जहाज में से धक्का देकर नीचे समुद्र में गिरा दिया, तब श्रीपाल के पुण्योदय से तिरने के लिये तख्ते की तरह मगरमच्छ की पीठ बैठने के लिये मिल गयी। मगरमच्छ ने उन्हें थाणा बन्दरगाह पर उतार दिया। वहाँ के राजा ने नैमेत्तिक के वचन से अनजान व अकेले श्रीपाल के साथ अपनी पुत्री की शादी कर दी। श्रीपाल कुमार को अशुभ कर्म उदय में नहीं थे, तो धवल उनका क्या बिगाड़ सका ? धवल

उनका बिगाड़ने गया, लेकिन श्रीपाल के शुभोदय से सब अच्छा ही हुआ। एक तो थाणा की राजकन्या मिली और धवल के वापस थाणा आने पर श्रीपाल को अपने जहाज व दो पत्नियाँ सुरक्षित मिल गयीं। ऐसा तो एक बार नहीं, कई बार हुआ। क्योंकि श्रीपाल को अच्छे कर्म उदय में थे।

अपने शुभ कर्म उदय में हों, तो दुनिया में ऐसी कोई सत्ता नहीं, जो अपना कुछ बिगाड़ सके !

धवल सेठ श्रीपाल का कितना ही बुरा करने गया, लेकिन श्रीपाल के कर्म अच्छे थे, फिर उनका बुरा भला कैसे होता ? उल्टे, उनका तो अच्छा ही होता गया। श्रीपाल घर से अकेले ही निकले थे। वे भरूँच में आये। ससुर के नाम से अपनी पहचान उन्हें अच्छी नहीं लगी। वे पुरुषार्थ करने निकल पड़े। वहाँ पर धवल सेठ ने अपने रुके हुए जहाज चलाने के लिये, देवी को वलिदान देने के लिये वत्तीस लक्षण वाले पुरुष की आवश्यकता बताकर श्रीपाल का भोग देने का प्रयत्न किया। भरूँच के राजा से किसी परदेशी का भोग देने की मंजूरी ली और ऐसे किसी पुरुष को पकड़ लाने के लिये अपने सिपाहियों को भेजा। सिपाहियों ने श्रीपाल को सुलक्षण युक्त व अकेला देखकर पूछा— “तू कौन है भाई ? कहाँ का रहने वाला है ?”

श्रीपाल ने कहा—‘मैं परदेशी हूँ।’

‘ऐसी बात है। चल, तब तो तेरा काल आया लगता है। राजा की आज्ञा से हमारे सेठ को देवी के आगे तेरा भोग देना है।’

**भाग्य बचाता है चतुरता नहीं :—**

देखिये, धवल के पास सैकड़ों सिपाही हैं। और तो और

पैसे के जोर पर उसे राजा के सैनिक भी मिल सकते हैं। अब अकेले श्रीपाल कुमार को बचाव कैसे मिले ? मनुष्य की चतुराई कहाँ तक काम करेगी ? परन्तु भाग्य जारदार हो, तो वह बचाव का जोरदार काम कर सकता है। श्रीपाल का भाग्य जोरदार है, उसे रास्ते में विद्याधर ने मंत्रित जड़ी-बूँटी बाँधकर दी जिससे उसे किसी का शस्त्र न लगे। अब सिपाही उस पर बाण बरसाते हैं, तलवार चलाते हैं, पर श्रीपाल को किसी का शस्त्र नहीं लगता। श्रीपाल शस्त्र चलाये, उनका प्रहार तो सिपाहियों पर होता ही। श्रीपालकुमार तो दयालु हैं, इसीलिये किसी को मारने के हेतु से प्रहार नहीं करते, सिर्फ गिर पड़े या भाग जाय. ऐसा ही प्रहार करते हैं। सिपाही तो बेचारे हार गये और जाकर धवल सेठ को बुला लाये। धवल सेठ को भी लगा कि 'मानो या न मानो, इस पुरुष को कोई देवी सहाय मिली है। अब तो यह मेरे जहाज को रोकने वाली शिकोतरी देवी को हटा सकता है। इसलिये अब इसी से प्रार्थना कर लूँ।'।

**धवल सेठ श्रीपाल की खुशामद करता है :**

भाग्य जोर करता हो, तो बड़े-से-बड़ा वैभव वाला भी वैभव-हीन के पाँवों में गिरता है। बड़े वैभव वाला धवल सेठ अकेले श्रीपाल कुमार की खुशामद करता है-हे भाई ! तुम तो महापुरुष हो। हमने आपका पहचाना ही नहीं। हमारी भूल हुई, हमें माफ करना। ओह ! इस जगत में महान् पुरुष कैसे उदार होते हैं ? आपने यदि चाहा होता, तो मेरे सब सिपाहियों को परलोक पहुँचा देते, इसमें आपको क्या देर लगती ? आपकी कैसी उदारता और महानता कि आपने एक को भी नहीं मारा। धन्य जीवन ! धन्य अवतार ! आपका मन कितना बड़ा है ! हे भाई ! मेरे जहाज देवी शिकोतरी ने रोक दिये हैं, उन्हें आप

चालू करवा देंगे ? मैं आपके पाँव पंडता हूँ. आपसे विनती करता हूँ, मेरा इतना काम कर दीजिये । आप तो देव पुरुष हैं ।

खुशामद चल रही है । धवल सेठ कैसा दीन बन-कर प्रार्थना कर रहा है ! श्रीमाल का भाग्य जार मारता है, इसीलिये तो समृद्धिशाली व अनेक सिपाहियों वाला धवल सेठ भी उनका कुछ बुरा नहीं कर सकता । वह भी अन्त में पाँवां में गिरकर खुशामद करता है ।

अब विचार कीजिये—

जीवन जीते हुए किसका सहारा लेना चाहिये ?

वैभव-सामग्री और स्वयं के ब्रडप्पन का ? ।

या भाग्य को मजबूत करने वाले धर्म का ?

धवल सेठ के पास बहुत धन वैभव और सिपाही यदि सामग्री थी, लेकिन उसीका सहारा लेने से उसे क्या मिला ?

महावीर प्रभु का जीव तीसरे भव में मरीचि था । दादा ऋषभदेव प्रभु के समवसरण की समृद्धि देखकर वह विचार करता है कि - 'मेरे पिता भरत महाराजा बड़े चक्रवर्ती हैं, उनके घर में भी ऐसी समृद्धि तो नहीं है । मेरे दादा ऋषभदेव के पास ऐसी अनुपम समृद्धि धर्म के प्रताप से ही है । संसार में समृद्धि सिर्फ धर्म के अधीन है ! तो फिर

मैं धर्म के परतंत्र, ऐसी समृद्धि की शरण में बैठ रहने के बदले मूल धर्म का ही शरण क्यों न ले लूँ ? मूल को छोड़कर डाल को पकड़कर कौन बैठे ?

वस, 'जीवन में धर्म का ही सहारा लेने जैसा है, धर्म की ही शरण लेने जैसी है,' इसी विचार पर मरीचि ने वैराग्य पा लिया। चक्रवर्ती के घर के समृद्धि सुख छोड़कर उसने प्रभु की व प्रभु के धर्म की शरण ली। यानी संसार छोड़कर प्रभु के पास वहीं चारित्र्य ले लिया। किसका सहारा लेने जैसा है? 'हाय) पैसा! हाय दुकान का!' या धर्म का?

आपके हृदय में आश्वासन किससे मिलता है? पैसे से या धर्म से? भाग्य के जोर के बिना तो भटकते ही रहना पड़ेगा। धर्म के बिना भाग्य जोरदार नहीं बनता।

श्रीपालकुमार का भाग्य तो जोरदार है ही लेकिन उसके साथ ही साथ उनके दिल में धर्म के रूप में क्षमा-उदारता-परोपकार-वृत्ति भी जोरदार हैं। मूल से ही उनमें ये गुण थे, नवपद की आराधना ने उनके श्रद्धाबल के गुण के साथ क्षमा, उदारता आदि गुणों में विशेष वृद्धि की।

'नवपद' यानी? अरिहंत-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय-साधु-ये देवगुरु के दर्शक पाँच परमेष्ठिपद और सम्यग्दर्शन-ज्ञात-चारित्र्य-तप ये चार धर्म के दर्शक पद-इस तरह कुल नौ पद हैं। इस नवपद की श्रीपाल ने बहुत सुन्दर आराधना की, जिसमें प्रेरणादात्री बनी उनकी पत्नी मयणासुन्दरी। मयणासुन्दरी तो सही अर्थों में धर्मपत्नी है।

जो धर्म की प्रेरणा दे, वह धर्मपत्नी। बाकी तो कर्मपत्नी पत्नी है।

मोहरूपी विष के कटोरे पिला-पिलाकर पाप-कर्म के ढेर



बँधाये, कर्मपत्नी । ऋषभदास कवि कहते हैं कि—

‘विश्वासे बहाला कीधा, पियाला भेर ना पीधा,  
प्रभु ने विसारी दीधा रे संसारिया मां०  
कामिनीय वश कीधो, घर ने धंधे धेरो लीधो,  
ऋषभदास कहे दगा दीधो रे, संसारिया मां०  
सगु तारुं कोण साचु रे, संसारिया मां’

जो पति-पत्नी परस्पर धर्म का सम्बन्ध नहीं रखते, धर्म की प्रेरणा नहीं देते, एक-दूसरे पर अटूट विश्वास रखकर एक-दूसरे से प्यार करते हैं और मोहरूपी कातिल जहर का प्याला पीते हैं व पिलाते हैं । वह पीने में वे इतने मग्न हो जाते हैं कि प्रभु को याद करने की बात ही नहीं आती । जीवन भर ऐसा जहर पी-पीकर बाँधे हुए कर्म के ढेर के साथ मरकर रवाना होने पर क्या हालत होगी ? यहाँ पर एक-दूसरे से बहुत सहारा माना, लेकिन मृत्यु होने पर और परलोक में सिधाने पर परस्पर का सहारा मिलेगा ? मानव होने पर भी यदि पति-पत्नी जानवर और कुत्ते-कुत्तिया की तरह सिर्फ मोह विष के प्याले पीने-पिलाने का ही काम करें, और धर्म का अमृतपान करने-कराने की बात हो न हो तो वे कर्म पति व कर्मपत्नी ही कहलायेंगे न ?

मयणामुन्दरी सच्चि धर्मपत्नी हैं, पति श्रीपाल कुँवर को धर्मगुरु के पास ले जाकर नवपद की समझ देती है, साथ में रह कर नवपद की आयंबिल तप से आराधना कराती हैं । पवित्र और गुणों से युक्त आराधना ने श्रीपाल के कोढ़ रोग को समूल नष्ट कर दिया । तो फिर नवपद पर श्रद्धा कितनी मजबूत हो जायेगी ? भाग्य से भी अधिक सहारा उन्हें उनके श्रद्धाबल ने दिया ।

कहिये—

किसका सहारा लेंगे ? पुण्योदय का, धर्म-श्रद्धा का या धर्म का ? श्रद्धा बल की यह कसौटी है कि धर्म श्रद्धा भाग्य से भी अधिक आश्वासन व शान्ति देती है ।

भाग्य के बल पर श्रीपाल ने धवल के सिपाहियों को जीता, उसके हृदय में जो निश्चिन्तता थी उससे भी अधिक निश्चिन्तता तो उन्हें धवल के द्वारा समुद्र में गिराये जाने पर नवपद की श्रद्धा के बल पर थी कि 'मुझे नवपद की शरण है, मुझे भला किसकी चिन्ता ?'

ऐसी घोर आपत्ति में सहारा मिला, वह कितना बड़ा होगा ? ऐसे में कभी कर्मवश डूबना भी पड़े, तो भी बिलकुल चिन्ता या संताप नहीं होगा ।

आप सुख-संपत्ति में पुण्य के साथ से खुश होते हैं लेकिन क्या आपत्ति में देव-गुरु-धर्म का आसरा मानते हैं ? मनुष्य तीन प्रकार के हैं—

१. मूढ़ व्यक्ति तो जड़ - संपत्ति को सहारा मान बैठता है ।

२. थोड़ा समझदार आदमी संपत्ति के कारणमूल पुण्य से सुख मानता है और

३. सच्चा विवेकी मनुष्य तो देव-गुरु - धर्म की शरण को मानता है । अब इन तीनों की दशा पर विचार कीजिये :-

(१) जड़-संपत्ति से ही शान्ति मानने वाला उसमें अन्धा बनकर उसके पीछे दौड़ता है । अपना पुण्य वहाँ तक पहुँचता है

या नहीं, यह ता वह देखता ही नहीं । इस अंधी दौड़ में पुण्य के समाप्त होने पर बेचारा ऐसी पछाड़ खाता है कि उसे दूसरों पर भारी द्वेष होता है और उसके कल्पान्त का पार नहीं रहता । आर्तध्यान के ढेर-सारे आंदोलनों से वह पीड़ित होता है । इसका परिणाम क्या होता है ? पहले का पुण्य तो खत्म हुआ सो हुआ, नये पापों का अंवार लग जाता है । पहले अंधी दौड़ के वक्त और बाद में करुण क्रन्दन करते वक्त किये गये आर्तध्यान से तिर्यचगति के पापों का जत्था इकट्ठा नहीं होगा तो क्या होगा ? अधिक मूढ़ता हो, तो रोद्रध्यान से नरक के पाथेय की जोरदार कमाई होती है ।

(२) पुण्य को सहारा मानने वाला मन में विचार करता है कि 'इस संपत्ति पर क्या भरोसा किया जाय ? पुण्य का उदय है, इसीलिए संपत्ति मिली है । बाद में यदि पुण्य कच्चा हो जाने पर संपत्ति चली जाय, तो वह दूसरों को गाली देने के बदले अपने कर्मों को रोयेगा, लेकिन रोयेगा जहर-हाय ! मेरे कैसे पाप का उदय कि संपत्ति चली गयी ! अरे अरे ! अब मैं क्या करूँ ?' इस तरह वह दीन बनेगा । पहले पुण्य का सहारा था, अब पुण्य के जाने से दिलासा भी गया, जिसमें भी यदि पुण्य बढ़ाने के लिये धर्म का आलंबन ले, तो वह भाग्यशाली है लेकिन सुख की लीला में और दुःख की पीड़ा में धर्म को बढ़ाने वाले कितने मिलेंगे ।

**दुःख में भी धर्म क्यों नहीं ?**

कहिये, आज आपको मंहगाई, अभाव आदि सताते हैं न ? तो आपने धर्म बढ़ाया ? 'पहले प्रभु पूजा में घर से दूध

चन्दन, केसर, अगरबत्ती, बरक आदि नहीं ले जाता था । चलो, अब मुझे धर्म बढ़ाना है, अतः ले जाऊँ ।' क्या आप ऐसा करते हैं ? नहीं, क्योंकि पुण्य के निर्बल होने पर खान-पान आदि के लिये तो पैसे मिल जाते हैं, लेकिन धर्म के लिये समय और पैसा हाथ नहीं आता । पुण्य बढ़ाना धर्म बढ़ाना तो आता ही नहीं ।

क्या आप नहीं जानते कि पुण्य पाप को दुर्बल बना देता है । दुःख आया, यह पुण्य खत्म होने की निशानी है, पापोदय की सूचक है, तो अब क्या किया जाय ? पुण्य बढ़ाया जाय या पाप ? धर्म को आज अमीरी में भी कहाँ जगह देते हैं ?

(१) पुण्य का उदय होने पर सुख तो मिलता है, लेकिन वहाँ भी पाप सूझते हैं । आज के पुण्यशाली रात्रि भोजन करते हैं न ? अभिमान व क्रोध करते हैं न ? झूठ-अनीति, दंभ करते हैं न ? धर्म में लापरवाही रखते हैं न ? देवाधिदेव के भी सेठ बन जाय ? गुरु की आवश्यकता नहीं ? कहिये, पुण्य के उदय में धर्म को स्थान है ?

(२) तब पाप के उदय में धर्म को जगह है नहीं । 'क्या करे साहब ? नौकरी ऐसी है कि रात्रिभोजन करना ही पड़ता है ।' यह तो सिर्फ बहाना है ।' फिर तो रात्रिभोजन की छद्म रहने से भोजन के बाद भी रात में १०-११-१२ बजे तक चाय-पानी नाश्ता चलता ही रहता है । पाप उदय में अपने थोड़े से द्रव्य में से भी जिनभक्ति के लिये थोड़ा द्रव्य खर्च करेंगे ? सामायिक-प्रतिक्रमण करेंगे ! नहीं । च्या करें, नौकरी से थक जाते हैं फिर प्रतिक्रमण कैसे करें ? 'आमदनी पर्याप्त नहीं होती,

तो जिनभक्ति कहाँ से हो ?' ये तो सब बहाने हैं । यदि ओवर टाइम काम के पैसे मिलते हों तो कई घण्टे देने को तैयार हो जायेंगे । वहाँ पर थकान महसूस नहीं होती । थकान तो सिर्फ धर्म की बात में महसूस होती है । कहिये, धर्म को कहाँ जगह मिलती है ? पुण्य के उदय में या पाप के उदय में ? जो सिर्फ पुण्य में ही सब कुछ मानते हैं, उन बेचारों को धर्म के लिये कोई स्थान ही नहीं दिखता ।

(३) देव-गुरु की शरण में ही सहारा मानने वाले के यहाँ धर्म के लिये जगह है । उसके पास सुख सम्पत्ति हो तो भी वह समझता है कि धर्मात्मा की समझ श्रद्धा कैसी होती है ?

यह सुख-सम्पत्ति तो चार दिनों की चांदनी है ! सुविधा को सहारा मानकर बैठे नहीं रहें । इससे जीव का भविष्य में कोई कल्याण होने वाला नहीं है । इसी तरह वर्तमान में भी कई चिन्ताओं, व्यग्रता और दुर्ध्यान से यह सुख-संपत्ति दुःख ही देने वाली है । सुख-संपत्ति को लाने वाले पुण्य को भी सब कुछ माना नहीं जा सकता । क्योंकि :-

(१) पुण्य तो ठग है । यह कब खत्म हो जाय कोई भरोसा नहीं ।

(२) सिर्फ पुण्य होने से ही नया पुण्य इकट्ठा नहीं होगा । पुण्य का माल धर्म में सद्व्यय करने से ही पुण्य बढ़ता है ।

(३) पुण्य तो उदय में आ-आकर खाना होने वाली जाति है ।

ऐसे पुण्य में सहारा कैसे खोजा जाय ? देव-गुरु धर्म की

शरण ही सच्चा सहारा है। देव-गुरु का प्रभाव ही ऐसा है, उनकी कृपा ही ऐसी बरस रही है कि प्रतिकूलता हो या अनुकूलता, दोनों में मेरा अच्छा ही हो रहा है।

आपत्ति में मेरे देव-गुरु उनके खुद के जीवन से और उपदेश से मुझे सीख दे रहे हैं कि 'आपत्ति से तो पाप का कचरा साफ होता है। वहाँ चिन्ता कैसी? आपत्ति आने पर भी दिल में देव-गुरु तो सलामत है तो फिर चिन्ता कैसी? रोना कैसा? आपत्ति के आशीर्वाद हैं कि उसमें-। देव-गुरु-धर्म पर भाव बढ़ते हैं। तब

अनुकूलता में देव-गुरु की कृपा होने से उनकी विशेष आराधना होती है। अर्थात् सच्ची शान्ति तो देव-गुरु-धर्म की शरण में है। मेरे पास यह जो है, यह अमूल्य, अनुपम निधान हैं। फिर मुझे कैसी चिन्ता? उनके ध्यान में कहीं मेरी असमय मृत्यु हो जाय, तो भी क्या चिन्ता? दिल में देव-गुरु हैं, वे अमर हैं, वे ही तारणहार हैं।

देव-गुरु के ऐसे सहारे पर जीना आ जाय, तो जीवन में से कई दुःख आकर चले जायेंगे, पर आर्तध्यान को जगह नहीं मिलेगी।

(१) कोई गाली देकर गया, अपमान करके गया, उसके सामने अपना कुछ चल नहीं संकता हो, तो भी रोना नहीं रोयेगा कि 'हाय! क्या करूँ? मेरा पुण्य नहीं है, इसीलिये ऐसा अपमान सहना पड़ता है?' नहीं, ऐसी दीनता भी नहीं। क्योंकि मन में बैठ गया है कि 'मान तो दो पैसों की चीज है, लेकिन मेरे पास मेरे हृदय में तो लाख रुपये के देव-गुरु हैं, मुझे किस बात की कमी है? यह तो सिखाता है कि 'देख, ऐसे लोग बेचारे अज्ञानी हैं, कर्म से पीड़ित हैं। सब्बे जीवा कम्मवस'-ऐसा सोच उनके प्रति दिया रखना।'



(२) गाली देने वाले के सामने अपना बस चल सकता हो, तो भी उसे गाली नहीं देगा। देव-गुरु का सहारा सामने वाले की गाली या अपमान को किसी गिनती में ही नहीं लाता। देव-गुरु मेरे लिये सब कुछ अच्छा ही कर रहे हैं, उनके आगे तो सामने वाला भी किसी गिनती में नहीं है, उनका सम्मान मेरा क्या भला कर देगा ? मेरा भला तो देव-गुरु कर रहे हैं।”

### संपत्ति मिजानी श्रीमंत कन्या जैसी :-

अच्छी संपत्ति, सुविधा, सम्मान मिलने पर अभिमान भी नहीं होगा। क्योंकि दिल में देव-गुरु के मिलने का जो आनन्द है, वह आनन्द संपत्ति मिलने में नहीं है। तो फिर संपत्ति का अभिमान भी कैसे होगा ? करोड़पति कन्या से शादी हुई हो, परन्तु वह घमंडी और दूसरों के सामने अपना अपमान करने वाली हो, तो ऐसी पत्नी से आनन्द नहीं मिलता। इसी तरह संपत्ति मिलने पर भी उसका अभिमान नहीं होता। ऐसी संपत्ति-सुविधा-सम्मान मिले, पर अभिमान नहीं होगा, उनके मिलने का आनंद नहीं होगा।

अपनी आत्मा का अनन्त काल का हित देव-गुरु से ही होता है, इसीलिये मिलने पर हृदय में दिलासा; शान्ति व उमंग होती है।

देव-गुरु का श्रद्धा बल ऐसा है कि हृदय में देव-गुरु की शरण रहती है। फिर आपत्ति आने पर भी आत्मा मस्त रहती है, लापरवाह रहती है; वह समझता है कि संपत्ति-आपत्ति तो बाहर की चीज है, इस भव की चीज है। परभव में भी साथ

चलने वाली अन्दर की चीज तो देव-गुरु हैं। मेरा संबन्ध तो अन्दर की वस्तु के साथ है। बाहर की बात या बाहर की वस्तु का क्या लेखा-जोखा रखना? देव-गुरु और उनके सिद्धान्त ही मन की मस्ती में सहायक हैं। चाहे जैसे संयोगों भी मैं उनसे मस्त रह सकता हूँ।

इस तरह देव-गुरु का ही सहारा मानने वाले को आपत्ति में भी दिलासा रहता है। इसीलिये तो समुद्र में फँके जाते वक्त भी श्रीपाल नवपद का स्मरण करके निश्चिन्त रहते हैं, जैसे कि कुछ हुआ ही न हो। बिल्कुल आर्तध्यान नहीं। आपत्ति में आपसे ऐसा हो सकेगा? ऐसा हो जाय, तो आप निहाल हो जायेंगे। वहाँ पर कोई दुर्ध्यान नहीं, कोई लेखा-जोखा नहीं, कोई रोना नहीं। नवपद की शरण में सदा काल निश्चिन्तता रहती है।

### नवपद की सच्ची आराधना में क्या आता है ?

श्रीपाल को नवपद पर अथाह, अनन्य श्रद्धा है। गुरु ने बताया था कि 'नवपद की सच्ची आराधना से क्षमा-उदारता-इन्द्रियदमन-मनोदमन आदि रखने से होती है।' श्रीपालकुमार ने ये गुण साथ ही रखे हैं। इसीलिये, भाग्य के जार से धवल के दाव में से तो वे बच गये, वाद में मारने की पैरवी करने वाला धवल क्षमा माँगकर अपने जहाज चलाने की विनती करता है, तो इन गुणों के भंडार श्रीपाल उसे क्षमा दे देते हैं और धवल के जहाज चलाने के लिये चल पड़ते हैं। यदि श्रीपाल में क्षमा आदि गुण न होते, तो सिर्फ भाग्य के सहारे रहकर, धवल को क्षमा क्यों देते? धवल तो उन्हें मारने वाला था, तो श्रीपाल उसके जहाजों को अपने कब्जे में ही कर लेता न? बड़े व्यक्ति

दूसरों का इस तरह छीनते नहीं, लेकिन धवल का तिरस्कार करके निकाल तो सकते थे ! वे ऐसा भी कह सकते थे—‘नालायक ! किस मुँह से मुझे जहाज चलाने के लिये कह रहा है ? जा, जा, यहाँ से चलता वन ! लेकिन नहीं, श्रीपाल को भाग्य के जोर पर नहीं, नवपद की श्रद्धा पर भरोसा था । श्रद्धा-भक्ति-क्षमा-उदारता आदि गुण उनमें ऐसे हैं कि उन्हें ऐसा कुछ करने या कहने का भी मन नहीं होता । वे धवल को क्षमा भी देते हैं और उसके जहाज चलाने की उदारता भी बताते हैं ।

**महान् कैसे बना जाता है ? मन के रंग न बदले दूसरे की उदारता कब जँचती है ?**

क्षुद्रता भाग्य पर विश्वास और क्षमादि की, कीमत नहीं करने देती ।

क्षुद्र दिल वाले व्यक्तियों को श्रीपालकुमार की धवल के प्रति क्षमा-उदारता की प्रवृत्ति नहीं जँचती । दिल में दबी हुई अग्नि की तरह तीव्र कषाय हों, तो उसे यह प्रवृत्ति जँचेगी भी कैसे ? वह तो यही कहेगा—‘देख लिया न क्षमा का फल ? श्रीपाल को कितनी बार धवल के कारण परेशान होना पड़ा ?’ ऐसे कषाय भरे दिल क्षुद्र होते हैं ।

(१) उसे भाग्य की सत्ता पर कोई विश्वास नहीं होता और

(२) उसे क्षमा-उदारता की कोई कीमत हो नहीं होती ।

इसीलिये दूसरे की उदारता पचानी हो, तो भाग्य की सत्ता पर विश्वास रखिये और दूसरे की उदारता की कीमत आंकिये ।

हम स्वयं तो ऐसी क्षमा या उदारता न भी दिखा सकें, परन्तु दूसरे की क्षमा उदारता की प्रवृत्ति को अच्छी व उचित मानने में हमारा क्या जाता है ? इतना मानने के लिये भी दिल में कुछ विशालता होनी चाहिये, क्षुद्रता व कषाय की कुछ मन्दता होनी चाहिये । यह उच्च मानव भव पाकर अपने दिल को क्षुद्र-तुच्छ नहीं, विशाल बनायें, कषायों पर कुछ अंकुश रखें ।

**दिल तो अपना है न ? उसमें कैसे भाव लाना या न लाना, यह तो अपने हाथों में हैं ।**

भावनाओं और शुभ ध्यान पर हमारा अधिकार है । यह अधिकार बजाना न आया और पूर्व के अनन्त काल के खेल की तरह कषाय व आर्तध्यान ही करते गये तो समझ रखिये कि एक अन्तिम काल ऐसा आने वाला है, जब ये सब मैली भावनायें निष्फल हो जायेंगी । जिसके लिये ये बुरी भावनायें रखीं, आर्तध्यान किया, वह सब तो छूटता चला जायेगा और हमें अकेले ही खाली हाथों इन मैली भावनाओं व दुर्ध्यान के कुसंस्कार तथा पाप कर्मों की गठरी लेकर यहाँ से जाना पड़ेगा ! वहाँ पर चित्त को अशान्ति का पार नहीं रहेगा । इसीलिये जीवन के अन्त समय की शांति के लिये खेद न करना पड़े, और कषायों की निष्फलता पर रोना न पड़े, इसलिये पहले से ही यह अधिकार बजाना सीखना चाहिये कि "मेरे दिल में बुरी भावनायें व आर्तध्यान न होने देने के लिये व उसकी भयानकता नजरो के सामने रखने के लिये मैं अधिकारी हूँ । 'दुर्ध्यान तथा कषाय भयंकर हैं और क्षमादि उत्तम हैं,'—यह दृष्टि तथा क्षमादि भाव की रुचि मेरे दिल में जागती रहे, ऐसा करने के लिये मैं स्वतंत्र हूँ, इसका मुझे अधिकार है । आगे बढ़कर

उच्च कोटि की क्षमा-उदारता व शुभ ध्यान जगाने के लिये मैं स्वतंत्र हूँ ।”

अपने दिल पर और अपनी भावनाओं पर यह अधिकार बजाने की जरूरत है ।

## महान कैसे बना जाता है ?

अधम जीवों की तरह अधम भावों से दिल को गंदा बनाकर महान् नहीं बना जाता । “नहीं भाई ! जहाँ हमारे पैसे आदि लूटे जाते हैं, वहाँ ऐसी क्षमा आदि की भी भावना हमें तो नहीं रखनी, चाहे महान् न बनें-ऐसा मत कहना । क्योंकि धन आदि लूट जाना या न लूटे जाना, यह तो भाग्य के अधीन है, वहाँ इन गंदी भावनाओं का चलन ही नहीं है । बिगड़ा हुआ काम कषाय करने से सुधरता नहीं है या काम बिगड़ने से रुकता नहीं है । यह सब तो भाग्य पर निर्भर है । शायद अपना कायिक या वाचिक पुरुषार्थ बचाव कर भी दे, परन्तु मानसिक मैले भाव और दिल में उठाये हुए कषाय के बुरे असर तो अपने सर पर ही आ पड़ते हैं । तो फिर उन्हें क्यों उठाना ? बाहर का जो सोचा हो, वह भाग्यानुसार होगा ही, इस पर तो हमारा कोई अधिकार नहीं है । भाग्य उल्टा होगा, तो विपरीत भी होगा । लेकिन अन्तर में अच्छे भाव रखने पर तो हमारा अधिकार है, वे तो हम अपने दिल में जगा सकते हैं ।

जीवें दो प्रकार के हैं-

(१) अधम मनुष्य सिर्फ बाहर के वैभव-परिवार पर अधिकार बजाने में मग्न रहते हैं ।

(२) महान् पुरुष अपने मन पर हुक्मत चलाते हैं ।

चाहे जैसे बाह्य संयोग आयें, उस समय मन में कैसे भाव लाना, उस पर महान् पुरुष अपना अधिकार आजमाकर अच्छे भाव ही लाते हैं इसीलिये तो वे चाहें जैसे विकट संयोगों में भी शान्त, स्वस्थ व प्रसन्न रह सकते हैं ।

इसीलिये तो मुनि वेदना में आर्तध्यान नहीं करते । वे देखते हैं कि बाहर के संयोग और बाहर की उपस्थित हुई रोग की परिस्थिति कर्माधीन है, उस पर अपना अधिकार चलाना निरर्थक है, किन्तु अपने मन पर जरूर अपना अधिकार चल सकता है । मन को ऐसा विचार जरूर कराया जा सकता है कि 'यह रोग तो कर्मजन्य है, अतः बिल्कुल आकुल-व्याकुल मत बनना ।' इस तरह मन को खराब होने से रोका जा सकता है । शरीर के रोग का विचार आता तो है, परन्तु उस समय हाय-हाय न करके ऐसा विचार किया जाय कि—“यह रोग तो मेरे पूर्व कर्म का विपाक है । यह रोग मेरे जड़ शरीर को विगाड़ने वाली चीज है, मेरे चेतन आत्मा का एवं उसके ज्ञानादि गुणों का यह कुछ नहीं विगाड़ सकता । फिर किस बात की चिन्ता ?”

मन को न विगड़ने देने के लिये इतना ही करें—

(१) जड़ के रंग पर मन का रंग न विगाड़े, यानी मन में हर्ष-शोक एवं राग-द्वेष के भाव उठने से रोकें, (२) वस्तुतत्त्व का सही व निर्मल विचार करें और (३) जड़ के प्रति उदासीन भाव लायें ।



श्रीपाल अपने मन पर अधिकार बजाते थे, इसीलिये तो चाहे उनका मन चाहा होता या अनचाहा, वे आर्तध्यान से वचकर मन को शान्त-स्वच्छ व प्रसन्न रख सकते थे। धवल के सैनिकों पर विजय पाने पर हर्षित नहीं हुए और धवल के प्रति द्वेष भी न रखा। अरे ! धवल ने श्रीपाल को मारने की कोशिश की उसके बाद भी अपने रुके हुए जहाज चलाने के लिये वह श्रीपाल से विनंती करता है, तो श्रीपाल ने उसे क्रोध से नहीं फटकारा। यह कब हो सकता है ? जब जड़ के रंग पर मन में राग-द्वेष के रंग न उठते हों ! चाहे (जड़) कैसा भी अच्छा या बुरा हो, मन को रागी या द्वेषी नहीं बनाना बनाना।

### जड़ के रंग बदलने पर मन के रंग बदलते हैं ?

बाह्य जड़ के रंग के साथ अपने मन के रंग बदलने का हमारा अनंतानन्त काल का अभ्यास है। क्या हम पर किसीका दवाव है कि हमें अपने मन के रंग बदलते ही रहना चाहिये ? नहीं, ऐसा कोई दवाव नहीं है, कोई नियम नहीं है कि जड़ के रंग के अनुसार मन के रंग भी बदलने ही पड़े। पड़ौसी को अच्छा लाभ हो या नुकसान हो, इससे आपके मन में हर्ष या खेद होता है ? नहीं। क्योंकि आपको पता है कि 'उसके नफे या नुकसान के साथ हमारा कोई संबंध नहीं है।' इसलिये ऐसा कोई नियम तो रहा नहीं कि जड़ के रंग के साथ मन के रंग भी बदलने ही पड़े।

प्र०—परायों के पैसों के लिये नहीं, किन्तु अपने खुद के पदार्थों के लिये तो मन के रंग बदलेंगे ही न ? या बदलने ही पड़ेंगे न ?

उ०— नहीं अपने पदार्थों को भी पराथा मान लें, तो मन के रंग बदलने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। नयी पत्नी लाने के बाद पति को उसके माह में, पहली पत्नी का पुत्र पराये जैसा लगने लगता है, फिर उस लड़के की कमाई या नुकसान पर अथवा उसके आरोग्य या बीमारी पर ज्यादा दर्द या शोक नहीं होता। वस, यही चाबी है,—

मन के रंग न बदलने हों, तो जड़ को पराया मानकर उस पर से ममता हटा दीजिये 'यह मेरा अपना है', ऐसा अपनत्व मिटा दीजिये।

आप देखते ही हैं कि बाहर की दुनिया में जो चीज अपनी नहीं मानी हो, उसके सुधरने या बिगड़ने में हमारे मन में हर्ष या खेद नहीं होता; तो फिर जो चीज अपनी है, उसे भी अपनी न मानें, तो उसके रंग बदलने पर मन को क्यों हर्ष-खेद होगा? शायद आपको लगेगा कि :—

प्र०—वस्तु अपनी हो, फिर भी 'अपनी नहीं है,' ऐसा कैसे माना जा सकता है?

उ०—किन्तु यह सोचिए कि इस तरह विचार किया जाय कि 'हे जीव ! तू, इस वस्तु को कहाँ तक वास्तव में 'मेरी' बना सकेगा? घर में लड़के का अधिकार आ जाने के बाद व्यक्ति अपने खुद के कमाये हुए पैसों को भी पहले की तरह अपना नहीं मान सकता। पहले किसी से पूछे बिना जितनी उदारता से पैसे खर्च करता था, उतना अब नहीं कर सकता। लड़के से पूछना पड़ता है, उसकी स्वकृति लेनी पड़ती है। अब पैसे कहाँ पहले की तरह 'अपने' रहे? यह तो एक प्रकार की मूर्खता ही है कि नाशवंत वस्तु को भी अविनाशी आत्मा अपना मान बैठती है।

**वस्तु को अपनी न माने, तो उसकी सुरक्षा कैसे करे ?**

प्र०—वस्तु को अपनी न माने, तो उसकी संभाल कैसे करेंगे?

उ०—यह सब तो कर्मवश होता ही है, फिर भी ऐसा ठोस विचार रखा जा सकता है कि यह चीज मेरी नहीं है । धावमाता राजकुमार को किस तरह रखती है ? कर्मवश उसे इसकी सब नौकरी करनी पड़ती हैं, लेकिन अन्तर में पक्का ख्याल है कि यह मेरा पुत्र नहीं है । इसीलिये तो समकितदृष्टि जीव के लिये कहा गया है कि—

‘समकितदृष्टि जीवडो, करे कुटुंब प्रतिपाल ।

अन्तर से न्यारो रहे, जिम धाव खेलावत बाल ॥’

शरीर, पैसे, कुटुंब सब कुछ रखते भी हैं, उनकी संभाल भी रखते हैं, लेकिन दिल में यह बात ठोस रूप से बैठी हो कि ‘ये फरेवी पदार्थ मेरे नहीं हैं,’ तो फिर उन पदार्थों के रंग बदलने पर अपने मन के रंग नहीं बदलेंगे ।

**पराये पदार्थ पर भी मन के रंग कहाँ बदलते हैं ?**

प्र०—वैसे तो पराये माने हुए किसी के बंगले, गाड़ी, या सुन्दर शरीर देखने पर राग होता है न ? और खराब देखने पर अरुचि होती है न ? परायी चीज पर भी मन के रंग तो बदले न ?

उ०—बदले जरूर, लेकिन सिर्फ राग-द्वेष ही हुए, हर्ष या खेद नहीं होता । कोई अच्छी गाड़ी लाये, तो हम खुश नहीं होते कि ‘चलो, गाड़ी आ गयी, अच्छा हुआ ।’ किसी का बंगला अच्छा नहीं बना या किसी का शरीर या रूप विगड़ गया, तो इससे हम

खिन्न नहीं होते कि 'हाय ! बंगला बिगड़ गया ।' हर्ष-खेद के मन के रंग 'अपनी' मानी हुई चीज पर होते हैं, 'परायी' मानी हुई चीज पर नहीं । हाँ, राग-द्वेष जरूर होते हैं, किन्तु वहाँ भी समझदारी पूर्वक ऐसा विचार करना चाहिये कि—

**‘मुझे इन फरेबी पदार्थों पर फरेबी बनने की क्या जरूरत है ?’**

जगत के पदार्थों पर 'यह अच्छा है' 'यह बुरा है', ऐसा मुफ्त का सिक्का मारने या सर्टिफिकेट देने की मुझे क्या आवश्यकता है ? इससे मुझे क्या मिलेगा ? किसीकी गाड़ी को अच्छा माना, तो

- (१) वह मुझे गाड़ी देने वाला तो है नहीं,
- (२) वह गाड़ी खराब नहीं होगी—ऐसा तो है नहीं, और
- (३) इन बाहर के पदार्थों को 'अच्छा-बुरा,' 'अच्छा-बुरा' मानते ही फिरेगा तो मेरी आत्मा के अच्छे-बुरे का यानी हिताहित का विचार करने का तो अवकाश ही नहीं रहेगा ।

यह तो नियम है कि जो बाहर में ही भटकता है, वह है, वह घर में नहीं होता ।

जिसको जगत के जड़ पदार्थों का ही विचार करना हो, उसे अपनी आत्मा का विचार कहाँ से आ सकता है ? उसे फुरसत ही नहीं होती । दुनिया के काजी बने हुए लोगों की दशा तो देखिये । वे बाहर की चिन्ता में ही लगे रहते हैं, घर के बाल-बच्चों की खैर-खबर लेने की फुरसत उनके पास नहीं होती । अपना ही देखिये न ? आपको बाहरी बातचीतों और

बाहर में ही घूमने-फिरने में अपनी आत्मा की संभाल लेने की फुरसत ही नहीं है न ?

जगत का देखते फिरेंगे, तो स्वयं का भूल जायेंगे । इसी-लिये यदि अपनी आत्मा की चिन्ता हो, तो बाहर के पदार्थ 'अच्छे हैं या बुरे हैं' इस विचार में नहीं पड़ेंगे । स्वयं की पहली चिन्ता यही है कि 'राग-द्वेष के विकार से बचूँ ।'

उस समय यह ख्याल रहेगा कि यदि मन बाहर की ओर डोला तो स्वात्मा को भुला दिया जायेगा, इससे राग-द्वेष की बुराईयाँ आयेंगी । तत्त्वचिन्तन तथा संवेग, विराग, क्षमा, दया.... आदि निर्मल गुणों का अभ्यास भुला दिया जाएगा ।

देखिये, जड़ के रंग पर मन के रंग न उठने देने के लिये दो बातें आयीं -

(१) अपनी गिनी जाने वाली कीमती चीज को भी अपनी नहीं मानना । नाशवंत जड़ अविनाशी आत्मा की चीज नहीं हो सकती । जो चीज अपनी नहीं है, उसके लिये हर्ष-खेद क्यों किया जाय ? ऐसा करना मूर्खता है, यह अविनाशी को बिगाड़ने का घंघा है ।

(२) बाहर की अच्छी या बुरी चीज में मन को पिरोने पर व राग-द्वेष करने पर स्वात्मा की चिन्ता भुला दी जाती है और आत्मा इन विकारों से खराब बन जाती है ।

श्रीपालकुमार को (१) एक तरफ श्री नवपदजी की आराधना का शिक्षण मिला है कि नवपद का उपासक शम-दम वाला होता है । 'शम्' अर्थात् क्रोधादि कषायों का शमन और 'दम' अर्थात् विषयों की ओर आकर्षित होने वाला इन्द्रियों का

दमन, नियंत्रणा उन्होंने नवपदजी की भक्ति व स्मरण के साथ शम — दम को भी जरूरी मानकर उसे भी अपने जीवन में अपनाया ।

(२) दूसरी तरफ उनके पास यह तत्त्वज्ञान भी है कि 'नाशवंत जड़ के आने या जाने पर अविनाशी आत्मा को अपना रंग नहीं बिगाड़ना चाहिये हर्ष-खेद नहीं करना चाहिये या नाशवंत पदार्थ की अच्छाई या बुराई पर राग — द्वेष नहीं करना चाहिये ।'

राग-द्वेष और हर्ष-खेद न हो, फिर इष्टसंयोग या अनिष्ट वियोग का आर्तध्यान वे क्यों करेंगे ?

शम-दम और आप्ततत्त्व के ख्याल से आर्तध्यान नहीं होने पाता ।

### शुभ ध्यान कैसे लगेगा ?

देखिये ! ऐसे आर्तध्यान एवं हर्ष-खेद या राग-द्वेष का जोर नहीं है, इसीलिये तो श्रीपालकुमार नवपदजी का शुभ ध्यान कर सकते थे । यदि आर्तध्यान, हर्ष-खेद, आदि की बुरी भावनाओं में श्रीपालकुमार सड़ते होते, तो वे शुभ ध्यान नहीं कर पाते । श्री नवपद के ध्यान में लीन नहीं बन सकते । समुद्र में फेंके जाने पर मन को नवपदजी में निश्चिन्त कहां से रख पाते ? 'हाय ! मुझ पर ऐसी आपत्ति ? अब मुझे इस समुद्र में डूबकर मरना होगा ?' यदि मन में ऐसी चिन्ता होती, तो नवपद में मन लगता ही कैसे ?

'हृदय में अरिहंत आदि नवपद हैं, तो किस बात की चिन्ता ? जीवन टिके या जाये, अविनाशी आत्मा को कोई फर्क पड़ने वाला नहीं ।' नवपद पर ऐसा श्रद्धाबल और उसीका निर्मल



ध्यान किस कारण से था ? क्योंकि मन में आर्तध्यान की पीड़ा नहीं थी, जड़ के लिये हर्ष-खेद या राग-द्वेष नहीं था ।

आप जैसे भवी जीव को अखण्ड शुभ ध्यान की तीव्र इच्छा होती है यह बात अच्छी है, किन्तु इसके लिये यह आवश्यक है कि आर्तध्यान का जोर दबाया जाय, उसके लिये जड़ के पीछे किये जाते हर्ष-खेद या राग-द्वेष को रोका जाय । नहीं तो, यदि मन उसमें फंस गया तो इष्टसंयोग-अनिष्टवियोग का आर्तध्यान हुए बिना नहीं रहेगा । इष्ट पर राग है, और इष्ट के मिलने का हर्ष है, तो 'यह इष्ट मुझे कैसे मिले' या 'मिला है तो कैसे टिका रहे,' -ऐसा आर्तध्यान क्यों नहीं होगा ? अनिष्ट पर द्वेष है और उसके मिलने का दुःख है, तो-'यह अनिष्ट न मिले तो अच्छा,' आ जाये तो 'जल्दी से यह टल जाये तो अच्छा' - ऐसा आर्तध्यान क्यों नहीं होगा ?

**आर्तध्यान में गूथा हुआ मन शुभ ध्यान में कैसे लग पायेगा ?**

नलराजा राज्य हारकर जंगल में जाते वक्त दमयंती से कहते हैं -'देखो, तुमने तो मुझे जुआ खेलगे से रोका था, फिर भी मैंने जुआ नहीं छोड़ा और सब कुछ गँवा बैठा । लेकिन मेरी गलती के कारण तुम वन में क्यों भटकोगी ? तुम अपने मायके चली जाओ । तुम अत्यन्त सुकोमल हो, जंगलों से भटकना तुम्हारा काम नहीं ।

तब दमयंती क्या कहती है ? वह ऐसे व्यंग्य नहीं कसती उपालम्भ नहीं देती कि "तुम्हारे कारण राज्यसुख गया..." । वह तो कहने लगी-'यह आप क्या कह रहे हैं ? पति वन में भटके और

पति महल में मौज करे ? ऐसा नहीं हो सकता । जैसे आपके साथ सुख भोगना आता था, उसी तरह दुःख भोगना भी आना चाहिये, वह मुझे आता है ।'.... खाने का पाप उमंग से किया, तो वह पाप धोने के लिये तप भी उमंग से करना चाहिये ।

पाप-दुष्कृत्य तो खुश हो-होकर किये, लेकिन उस पाप को खतरनाक समझने के बाद भी उसे उल्लासपूर्वक धोना या उसका सहर्ष त्याग करना नहीं आता, यह कैसे चल सकता है ? उपवास किस भावना से करना चाहिये ? यही भावना कि 'खाने का बहुत पाप किया है, यह बहुत पाप किया है, यह बहुत बुरा हुआ है, इसलिये आज इसे छोड़ दूँ ; इसीलिये आज उपवास ही कर-लुँ ।' क्या ? खाने का पाप धोने के लिये उपवास ? तो यह उपवास कितने उल्लासपूर्वक होगा ? खुश-खुश होकर खाना तो आता है, लेकिन उपवास तो वैसे करना नहीं आता । उपवास में कोई उल्लास नहीं, हर्ष नहीं । जैसे बीमार हो-वैसे, या जबरदस्ती से किया हो वैसे, होता है, यह कैसे चल सकता है ? पाप तो खुश हो-होकर करना आया, तो पाप का त्याग भी खुशी से करना आना चाहिये ।

पैसे कमाने के लिये पाप बड़े उल्लास से किये, तो पाप धोने के लिये दान भी उल्लासपूर्वक, खुशी-खुशी से करना चाहिये ।

दमयंती का तो यही हिसाब है कि 'पति के साथ यदि महल के सुख भोगने आये, तो वनवास के दुःख भी भोगने आने ही चाहिये ।' इसीलिये नल के कहने पर भी दमयंति मायके जाने के लिये तैयार नहीं होती । वह पति से कहती है,—'आप चिन्ता न करें, मैं वन में भी आपके साथ ही रहूँगी । इसका मुझे आनन्द है, दुःख नहीं है । मायके जाकर महल में रहूँ, तो मुझे दुःख होगा, अतः फिर से मुझे ऐसा मत कहियेगा । सुख भी कर्म का विपाक है

और दुःख भी कर्म का विपाक है। शुभ कर्म के जैसे अपने अशुभ कर्म भी हमें आनन्द से ही भोगने चाहिये।'

**पति के वियोग के भारी दुःख में भी दमयंती को आर्तध्यान क्यों नहीं ?**

दुःख में अशुभ कर्म के विपाक का चिन्तन यह शुभ एक प्रकार का शुभ ध्यान है। दमयंती को कर्मविपाक का शुभ ध्यान कैसे आया ? 'हाय ! इष्ट गया, अनिष्ट आया !' ऐसा आर्तध्यान नहीं है इसलिये आया। 'दमयंती जंगलों में भटकने के कष्ट सहें यह बात नल राजा के धीरजपूर्वक सहने से बाहर थी, इसीलिये अर्धरात्रि में उसे अकेली छोड़कर नलराजा चले गये। तब दमयंती को बनवास का जो दुःख नहीं लगा, वह पतिवियोग का दुःख लगता है। क्या यह आर्तध्यान नहीं है ? नहीं। दमयंती की विचारधारा को देखिये ! दमयंती सोचती है कि—

'पति ने मुझे मायके भेजने के लिये यह मार्ग अपनाया है। लेकिन क्या मैं बनवास के कष्ट सहने में कायर और महलवास के सुख की भूखी हूँ ? अब तो मुझ पर बड़ी आपत्ति आ पड़ी है। मेरा यौवन उफान ले रहा है। पति के वियोग में वह कामराग का तूफान न मचाये, इसका क्या भरोसा ? अब मैं मेरे शील की रक्षा कैसे करूँ ?'

देखिये। पति के वियोग का दुःख नहीं है, पति का सुख लूट जाने की चिन्ता नहीं है, किन्तु अपने शील की रक्षा की चिन्ता है। इसे आर्तध्यान नहीं कहा जा सकता। शीलरक्षा की भावना महान गुण है। उसका साधन खोने पर चिन्ता या दुःख होना तो शुभ ध्यान है, शुभ विचार है।

## अशुभ ध्यान को शुभ में बदलने की चाबी :-

प्रसंग एक ही है,

इसी प्रसंग को जड़-सुख-दुःख के पलड़े पर रखकर देखेंगे तो आर्तध्यान होगा, और गुणरक्षा-अरक्षा के नजरिये से देखेंगे तो शुभ ध्यान होगा ।

अतः अशुभ ध्यान को शुभ बनाने का उपाय यह हुआ कि प्रसंग को गुणरक्षा की दृष्टि से देखिये, सुख-दुःख की दृष्टि से नहीं ।

शरीर बिगड़ गया, बीमार हो गये, तब यदि ऐसा विचार आये कि 'हाय ! शरीर का सुख और खाने-पीने का मजा गया ! रोग की भारी वेदना आयी !' तब आर्तध्यान होगा । उस समय यदि ऐसा विचार आये कि 'अरे ! जब शरीर अच्छा था, तब तप-त्याग-आराधना नहीं की, अब बीमार शरीर से आराधना नहीं की, अब बीमार शरीर से आराधना कैसे होगी ? कोई बात नहीं, अभ्यन्तर तप करूँ'-तो शुभध्यान होगा । क्योंकि फिर तो सोते-सोते भी नवकार-जाप, महापुरुषों की सहनशीलता का ध्यान, अरिहंत का ध्यान कषायों का उपशम, विषयवैराग्य आदि शक्य आराधना की ओर लक्ष रहेगा । तो कहिये, जो ध्यान ऐसी आराधना की प्रेरणा दे, वह अच्छा या बुरा ? दुर्ध्यान या शुभध्यान ?

पैसे चले जाने पर यदि मन में लगे कि 'हाय ! सुख का साधन गया । किन्तु अब मौज कैसे करेंगे ? लोगों में मान-सन्मान कैसे मिलेगा ?' तो यह दुर्ध्यान कहलाएगा ।

**पैसे जाने पर शुभ ध्यान कैसे किया जा सकता है ?**

यदि ऐसा विचार किया जाए कि 'अरे ! पैसे गये, आजीविका की चिन्ता खड़ी हो गयी है, अब देवदर्शनादि धर्मक्रिया चित्त की समाधिपूर्वक कैसे होगी ? चिन्ता क्यों करूँ ? पैसे तो भाग्य से मिलने वाली चीज है देवदर्शन आदि पुरुषार्थ की चीज है। निर्वल भाग्य को भी यदि सुधारना है, तो धर्म-पुरुषार्थ से ही सुधरेगा। इसीलिये देव-दर्शनादि ? धर्म में मुझे अधिक श्रद्धा-संवेग से उद्यम करना चाहिये। भाग्य विपरीत है, लेकिन पुरुषार्थ की चीज-आत्मकल्याण का अवसर क्यों गँवा दूँ ? उसके लिये चित्त में असमाधि अस्वस्थता क्यों रखूँ ? चित्त की समाधि क्यों गँवा दूँ ?

**शीलरक्षा के लिए दमयंती की चार महाप्रतिज्ञायें :**

चित्त की समाधि यह महान गुण है। उसकी रक्षा का विचार शुभध्यान है। दमयंती को शीलरक्षा का विचार है। पति के अदृश्य होने पर अब उसके पास मायके जाने का ही रास्ता बचा है, लेकिन वह इतने से ही बस नहीं करती। वह चार प्रतिज्ञायें स्वीकार करती हैं कि जब तक मेरे पतिदेव न मिले, तब तक

- (१) दूध-दही-तेल-गुड़ शक्कर-तली हुई चीजें,— इन ६ विगई का त्याग,
- (२) रंगीन वस्त्र का त्याग,
- (३) गद्दी का त्याग,
- (४) शृंगार व देह-विभूषा का त्याग।

देखिए,—यह त्याग आर्तध्यान से या पति के मोह से नहीं किया था कि “हाय ! मेरे पति मुझे छोड़ गये, अब खाने-पीने-मौज करने का क्या काम ? अब इन स्वादिष्ट सरस भोजन, सुन्दर साड़ियों, शय्या और शृंगार का क्या काम ? नहीं सतीने यह सब जो छोड़ा, वह मोह से नहीं छोड़ा किन्तु शील की रक्षा के लिये छोड़ा । शीलरक्षा की कैसी तमन्ना ? यह आर्तध्यान नहीं है । त्याग भी कितना जोरदार ? पति बारह वर्षों के बाद मिलने वाले हैं, तो तब तक छहों विगई का त्याग ही न ? सोचिए अपने को चलता है एक दूध विगई के बिना भी ? गुड़-शक्कर के बिना घी के बिना ? प्रतिदिन एक विगई का त्याग भी भारी लगता है न ? पर्व तिथि को ब्रह्मचर्य पालना है ? तब सोने में हप्ता भर गद्दी का त्याग ? वनाव-सिंगार व शरीर शोभा का त्याग न ? १२-१२ वरसों तक वह सब कैसे छोड़ा होगा ? लेकिन दमयंती ने तो शील को परम धन और सद्गति-प्राप्ति का प्राण माना है, प्राण सलामत, तो देह सलामत—जीवन सलामत, शील सलामत तो आत्म जीवन सलामत, सद्गति प्राप्ति सलामत । उसके आगे विगई रस रस और शय्या-शृंगार किस विसात में ?

ज्ञानदृष्टि - तत्त्वदृष्टि की यही विशेषता है कि किसी भी प्रसंग को वह आर्तध्यान में न उतारकर धर्मध्यान में उतारती है ।  
यह कैसे होता है ?

प्रसंग पाकर इष्ट-अनिष्ट के हर्ष-खेद में फँसने के बदले आत्मगुण व धर्म की प्राप्ति-रक्षा-वृद्धि के विचारों में उतर जायें, तो दुर्ध्यान के बदले शुभ ध्यान होगा ।



## दमयंती के शील-श्रद्धा के बल का प्रभाव :-

दमयंती ने यहाँ किया । पति का वियोग होने पर इष्ट वियोग के खेद का रोना रोने के बदले शील रक्षा के विचारों में उतरी । इसीलिये वह अशुभ ध्यान-आर्तध्यान में न पड़कर शुभ ध्यान में चली ! पति का कुछ समाचार मिले इस की प्रतीक्षा में दमयंती को सात-सात साल तक तो गुफा में रहना पड़ा फिर भी वह रोती बैठी नहीं, शुभ ध्यान में रमण करती रही । शान्तिनाथ प्रभु के शासनकाल में होने से जंगल में प्रभु की मिट्टी की मूर्ति बनाकर प्रतिदिन प्रभु की पुष्पपूजा व ध्यान-ज्ञाप-गुणगान स्मरण आदि करती है, परमात्मा पर श्रद्धा बल बढ़ाती जाती है । यह बल इतना बढ़ा कि एक बार जोरदार वारिण के प्रवाह में तापस लोग आश्रम सहित वह जाने वाले थे, तब दमयंती ने तापसों के आश्रम के आसपास की जमीन पर लकड़ी से एक बड़ी वर्तुलाकाय रेखा करके तापसों को उसके भीतर रखा और अपने शील-सम्यक्त्व के बल के संकल्प पर उतनी जगह पर पानी को आने से रोक दिया जलप्रवाह को बाजू की ओर बाल (फिरा) दिया, मोड़ दिया !

## शील-सम्यक्त्व का यह पावर कहाँ से आया ?

कहिये, परमात्मश्रद्धा-भक्ति ज्ञान-दृष्टि, तत्त्वदृष्टि और शुभध्यान के साम्राज्य पर । दमयंती ने अपने हृदय में इन्हीं का साम्राज्य स्थापित कर दिया था ।

आपको ज्ञानदृष्टि-शुभध्यान का साम्राज्य स्थापित करना है ? तो जड़ वस्तुओं के लिये 'यह पसन्द है' 'यह नापसन्द है' 'यह अच्छा है,' 'यह खराब है,' ऐसा कहना छोड़ दीजिये । जड़ के प्रति राग-द्वेष और जड़ के लिये हर्ष-खेद करना छोड़ दीजिये ।

मन जब तक इष्ट-अनिष्ट के रागद्वेष और हर्षखेद में दबा हुआ रहेगा, तब तक ज्ञानदृष्टि, तत्त्वदृष्टि और शुभ ध्यान नहीं होगा ।

ऐसा मन नो मोहदृष्टि, अतत्त्वदृष्टि और आर्तध्यान में फँसा रहेगा, इसमें मजा नहीं आयेगा । इससे जीवन चिन्ता-सन्ताप व विह्वलता से ही भरा रहेगा ।

यह आत्मा की विडम्बना है । नाशवंत जड़ के लिये राग-द्वेष व हर्ष-खेद करके अविनाशी आत्मा विडम्बनाओं को क्यों गले लगाये ?

श्रीपालकुमार ऐसा नहीं करते थे, इसीलिये तो धवल सेठ के शिकोतरी देवी से स्थगित किये गए जहाज चला देने के बाद उन्होंने अपना मेहनताना पुरस्कार नहीं मांगा । उल्टा, धवल उनको नौकरी पर रखने के लिये आतुर है, परन्तु बड़ा वेतन देने के लिये तैयार नहीं है तो भी कोई बात नहीं । श्रीपालकुमार कहते हैं —

‘जहाज में यात्रा का भाड़ा लेकर तो यात्रा करने दोगे न ?

निर्लज्ज धवल सेठ ने ‘हां’ भरी ।

उसे कहाँ लाज शर्म थी ? किसके पास से भाड़ा मांगना ? लेकिन श्रीपालकुमार स्वस्थ हैं, ‘कोई बात नहीं, भाड़ा मांगते हैं, तो दे देंगे ।’ स्वयं ने धवल पर किए हुए उपकार के बदले की कोई अपेक्षा नहीं, स्वयं के पास रही हुई दो अद्भुत जड़ी - बूटी का बिल्कुल गर्व नहीं !

जड़ के प्रति राग-द्वेष कम किये बिना दिल इतना महान नहीं बन सकता और ऐसा संत व्यवहार भी नहीं आ सकता ।

## श्रीपाल की संतता और महा उत्तमता कैसी ?

बब्बर द्वीप में धवल सेठ दान चोरी के लिये पकड़ा गया, तो श्रीपाल स्वयं राजा के सैन्य को हराकर सेठ को छोड़ते हैं। सन्त व्यदहार कैसा ! आगे देखिए श्रीपाल के जहाज और दो शादी की युवान राजकुमारियों को हड़पने के लिये मम्मण सेठ ने उन्हें समुंदर में धकेल दिया ! और आगे थाणा में आकर सेठ ने श्रीपाल पर चंडाल कुल के होने का आक्षेप चढ़ाया। थाणा के राजा को वाद में वास्तविकता मालुम पड़ने पर वह धवलसेठ को मारने के लिये खड़ा हुआ, तब श्रीपालकुमार ने संत-हृदय से उसे बचाया। कितना कितना संत व्यवहार ? कितनी कितनी उत्तमता ?

## यह महा उत्तमता और संत-व्यवहार कैसे संभव है ?

कहिये इष्ट अनिष्ट की बहुत कीमत न आंकने पर, उसके प्रति राग-द्वेष और हर्ष-उद्योग में न फँसने पर संतपन व उत्तमता संभवित है।

सन्त हृदय को संपत्ति मिलने का उन्माद नहीं, आपत्ति आने का दुःख नहीं। कैसे वे समझते हैं कि --

(१) संगति या आपत्ति, दोनों नाशवंत है जब कि स्वयं की आत्मा अविनाशी है। अविनाशी आत्मा को नाशवंत का हर्ष-खेद कैसा ? क्योंकि वह तो आत्मा को छोड़कर चले जाने वाली है।

(२) बाह्य संपत्ति-आपत्ति पूर्व कर्म का फल है। कर्माधीन वस्तु में राग-द्वेष या हर्ष-खेद से कुछ सुधारता नहीं फिर वे क्यों करना ? इसमें कैसी बुद्धिमानी ? अपने राग-द्वेष करने से कर्म अनुकूल वर्तन करने वाले हैं नहीं। वे तो स्वतंत्रता से अपनी चलाते

ही रहेंगे। फिर हमारे फूलने या मुरझाने का क्या अर्थ रहता है ? अनुकूलता पर अगर फूलेंगे लेकिन बाद में जब कर्म टेढ़े चलेंगे, तब प्रतिकूलता आयेगी, वहां कैसे फूलेंगे ? तो फूलने का मतलब ही क्या ? इसी तरह प्रतिकूलता में मुरझायेंगे, रोयेंगे, किन्तु शुभ कर्म उदय में आते ही प्रतिकूलता पलायन हो जाएगी और अनुकूलता आएगी, तब मुफ्त में ही रोये न ?

धवल सेठ ने श्रीपाल को समुद्र में गिरा दिया, परन्तु श्रीपाल बिलकुल मुरझाये नहीं और रोने नहीं बैठें, तो क्या अनुकूलता नहीं आयी ?

(१) क्या ऐसा नियम है कि जो आपत्ति में खेद करे, रोये उसकी आपत्ति जल्दी चली जाती है ? और न रोये तो आपत्ति नहीं जायेगी ? नहीं। इसी तरह --

(२) क्या ऐसा नियम बनाया जा सकता है कि संपत्ति अनुकूलता में जो खुश हो, उसकी संपत्ति टिकी ही रहेगी ? नहीं।

इन दोनों में से एक भी नियम नहीं है। क्योंकि होता ऐसा है कि --

(१) जीव संपत्ति-अनुकूलता में बहुत आनन्द मनाता हो और वह चली भी जाती है। धवल ५०० जहाज पर बहुत हर्ष मान रहा था, लेकिन वक्वर द्वीप के राजा के सिपाहियों ने सब कुछ जप्त करके उसे कैद कर लिया। अब कहां रहा ५०० जहाजों का स्वामित्व ?

(२) मनुष्य आपत्ति में रोता रहे, फिर भी आपत्ति नहीं जाती और न रोने पर भी आपत्ति चली जाती है। ऐसा क्यों ?

## संपत्ति-आपत्ति का मुख्य आधार शुभ-अशुभ कर्म के उदय पर है ।

श्रीपालकुमार पर समुद्र में गिरने की घोर आपत्ति आयी, परन्तु जिसके शुभ कर्म साबूत हों उसे आपत्ति कितने समय तक रह सकती है ? समुद्र में गिरते ही पकड़ने के लिये मगरमच्छ तैयार ही बैठा था । 'मैं नवपद के सेवक का सेवक हूँ,' मानो इसी भाव से उसने श्रीपाल को अपनी पीठ पर बिठाया और थाणा-वन्दरगाह के किनारे तक ले गया । किनारा आते ही श्रीपाल उतरकर विश्राम हेतु एक वृक्ष के नीचे सो गये ।

### कर्म के खेल के प्रेक्षक और धर्म के श्रद्धालु बने :-

नवपदजी पर अथाह श्रद्धा वाले और कर्म के खेल के प्रेक्षक श्रीपाल को कोई चिन्ता है ? कोई हर्ष का उन्माद भी है ? नहीं ! अपने जहाज और पत्नियों को गँवाने पर भी अब कहां जाऊँगा, इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं है । जिसके शुभ कर्म साथ हों, उसको सब सलामत रहता है । जागने पर श्रीपाल ने देखा कि थाणा के राजा का सेवक घोड़े के साथ उनकी राह देखते हुए खड़ा है और स्वागत को तत्पर खड़ा था । राजा की ओर विनंती कर के वह श्रीपाल को घोड़े पर बिठाकर राजा के पास ले गया । राजा ने नैमित्तिक के वचन से अपनी रूपवती कन्या उन्हें ब्याह दी । ऐसा कैसे होता है ? कहिये कि श्रीपाल के शुभ कर्म बलवान हैं ।

अपना अच्छा करने वाले अपने शुभ कर्म हैं और अपना बिगाड़ने वाले भी अपने ही अशुभ कर्म हैं । मुनि को वेदना में

आर्तव्यान क्यों नहीं ? क्योंकि वे समझते हैं कि आपत्ति-पीड़ा अपने अशुभ कर्म का ही उदय है ।

अशुभ के उदय से पीड़ा आती ही है, इसीलिये दूसरों पर द्वेष करना निरर्थक है ।

पीड़ा भोगने से उतने अशुभ कर्म नष्ट ही होते हैं अतः रोना भी निरर्थक है ।

जिसे अशुभ के उदय का पहला आधा भाग ही याद हो वह रोता है कि 'हाय ! मेरे कैसे पाप का उदय चल रहा है !' लेकिन अशुभ के क्षय का दूसरा आधा भाग नजर के समक्ष हैं उसको रोने की जरूरत नहीं होती । उसे तो खुशी होती है कि 'चलो, अशुभ कर्म कुछ तो कम हुए ।'

याद रखिये :- पाप के बिना पीड़ा नहीं आती, और पीड़ा आने के बाद पाप खड़े नहीं रहते । क्योंकि पीड़ा देने वाली पाप राशि का काम पूरा होते ही वह पाप राशि कूचा बन जाती है । गन्ने का रस निकालने के बाद गन्ना कूचा बन जाता है, उसी प्रकार पाप कर्मों का रस पीड़ा के रूप में चखने के बाद कर्म कूचा ही बनेंगे न ? कूचा बनना मतलब खत्म होना, आत्मा पर से नीचे उतरना । जीवन में यह सूत्र सदा नजर के सामने ही रहना चाहिये कि 'जितना दुःख या पीड़ा भोगते हैं, उतने पाप कर्मों का कचरा नाश ही हो पाता है और इसी तरह जितनी सुख-सुविधा भोगी जाय, उतने पुण्य कर्म कम ही होते हैं । आत्मा की तिजोरी में से उतने जवाहरात कम हुए ।'

अपन किसमें राजी हैं ? कचरा साफ हो उसमें ? या जवाहरात कम हो उसमें ?



दुःख आने से तो पाप का कचरा साफ होता है, तो नाराज क्या होना ?

दुःख में पाप की होली जलती है और कचरा साफ होने से आत्मा की दीवली होती है। सुख-संपत्ति में पुण्य की होली जलती है और आत्मा का पुण्यधन जाने से दीवाला निकलता है।

जगत के इस त्रिकाल सत्य तत्त्व का जो मनन करे, वह मुनि है। चाहे रोग आये, पीड़ा आये, अपमान-आपत्ति आये, मन में ऐसा निश्चित बैठ गया हो कि, 'अपने ही अशुभ कर्मों के उदय के बिना दूसरा कोई अपना कुछ बिगाड़ नहीं सकता और अपने अशुभ कर्मों के उदय में आने पर रोग - आपत्ति आए बिना नहीं रहेंगे। साथ ही साथ मुनि यह भी समझते हैं कि 'कर्म के उदय से रोग व वेदना भोगने ही पड़ते हैं, लेकिन इससे कर्म क्षय पाते हैं' इसीलिये मुनि को वेदना का आर्तध्यान नहीं है।

### प्रतिक्रमण से पापनाश

‘मुनि’ किसे कहा जाता है ?

शास्त्र बताते हैं कि ‘मन्यते जगतत्रिकालावस्थामिति मुनिः’—जगत की तीनों काल की अवस्था का मनन करे, उसे हृदय से मान्य करे, वह ‘मुनि’ कहलाता है। ‘जगत्’ अर्थात् वस्तुमात्र। उसके स्वभाव का विचार करने में उसकी वर्तमान व आगे-पीछे की अवस्था पर ध्यान देना पड़ता है। इस जगत की वस्तु मात्र के स्वभाव देखकर जो उसकी भूत-भविष्य-वर्तमान अवस्थाओं का विचार करे, उसे बिना काम के हर्ष या खेद क्यों होंगे ?

जीव जड़ काया-माया के पीछे हर्ष या उद्वेग किस कारण से करता है ? इसीलिये कि वह वस्तु के नाशवंत स्वभाव को नहीं

देखता, उसकी बदलती हुई अवस्थाओं यानी उसके तीनों काल के स्वरूप को ध्यान में नहीं लेता । इसीलिये वह हर्ष-खेद करता है । मुनि कर्म का तीनों काल का स्वरूप विचारते हैं, इसीलिये रोग में खेद नहीं करते । वे तो शास्त्रों के वचन याद करते हैं । महावीर भगवान कहते हैं कि—

‘पुंवि खलु भो गोयमा ! कडाणं कम्माणं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कताणं नत्थि अवेयइत्ता मोक्खो, तवसा वा भोसइत्ता ।’

अर्थात् हे गौतम ! पूर्व में जो कर्म बुरी तरह से इकट्ठे किये, उनका प्रतिक्रमण न किया हो, यानी उनसे पीछे न हटे हों, तो वे कर्म परभव में अवश्य भोगे बिना या तप से खपाये बिना छुटकारा नहीं होता ।’

इसमें तीन बातें बतायी गयी हैं—

**पाप कर्म तीन तरह से नाश पाता है—**

- (१) पाप का प्रतिक्रमण करने से,
- (२) पाप का उदय भोग लेने से और
- (३) बाह्य-आभ्यन्तर तप से ।

**(१) पाप नाश का सीधा उपाय प्रतिक्रमण**

‘प्रतिक्रमण’ यानी पीछे हटना, वापस हटना पाप से पीछे हटना, अर्थात् किए हुए, पाप का तीव्र संताप-पश्चात्ताप महसूस करते हुए, सद्गुरु के आगे उसका बिना माया के निवेदन करके (आलोचन करके) प्रायश्चित्त लेना और वह वहन करना, यह प्रतिक्रमण कहलाता है । इससे पाप नाश पाते हैं । आप पूछेंगे—

प्र०— दुष्कृत्य किया इससे पापकर्म तो आत्मा पर लग ही गये, अब ये पाप प्रतिक्रमण से कैसे नष्ट होंगे ?

उ० प्रतिक्रमण में दुष्कृत्य से विपरीत भाव है। हिंसादि चुरा काम (१) जान-बूझकर किया। उसमें खुशी हुई (२) किये बिना न ही चलता हो और किया हो, फिर भी उसमें दूसरी का लालच है इसलिये किया, (३) अनजान में हो गया हो, तो उसमें प्रमाद है, असावधानी है। अब प्रतिक्रमण करते हैं, उसमें पहले किए गए दुष्कृत्य में रखी गयी खुशी का पश्चात्ताप है या दुष्कृत्य अनिवार्य कारण से कराने वाला दूसरी वस्तु का जो लालच था, उसका भी पश्चात्ताप है, अथवा जो प्रमाद का सेवन हुआ, असावधानी रही, उसका भी पछतावा है। इस तरह खुशी, लालच और प्रमाद, इन तीनों दोषों का जो पश्चात्ताप है, वह इन दोषों के अशुभ भाव से विपरीत शुभ भाव है। यह सहज में ही पहले के मैले भावों से लगे हुए कर्मों का नाश करता है। गीली हवा से लगी हुई सर्दी गरमाहट से नाश पाती है न ? वहाँ सिर्फ ऊपरी ऊपरी का पछतावा नहीं चलेगा, गुरु के आगे पछतावे के साथ उसका बालभाव-सहजभाव से स्पष्ट निवेदन करके प्रायश्चित्त लेना पड़ता है। इसीसे उन दुष्कृत्यों से विपरीत शुभ भाव आता है। यदि गुरु के आगे नहीं कहना है, तो वहाँ दिल में चोरी पैदा हुई, फिर सिर्फ पछतावा करने से शुभभाव कहाँ से आयेगा ? इस तरह प्रतिक्रमण के बिना कैसे चलेगा ?

**प्रतिक्रमण क्रिया का महत्व :-**

हाँ, जो सूक्ष्म पाप हुए हों, उनका संताप और 'मिच्छामि दुष्कर्म' करने से वे पाप नाश पाते हैं। इसीलिये सुबह-शाम

प्रतिक्रमण' नामक आवश्यक किया जाता है। दैनिक जीवन में दिन-रात, जानते-अनजानते हमसे ऐसे कई सूक्ष्म दुष्कृत्य हो जाते हैं, उनसे आत्मा पर लगे हुए पाप-कर्मों को हटाने के लिये दिन-रात के अन्त में प्रतिक्रमण की क्रिया है। यदि यह प्रतिक्रमण न करें, तो आप ही सोचिये, वे सूक्ष्म पाप किस प्रकार नाश पायेंगे ? अकेले मन के ही पाप देखिये न ? दिन-रात बुरे विचार, आरंभ-विषय-परिग्रह और कषायों के कितने विचार ! इसी तरह वाणी और बर्ताव से कितने पाप ! यदि प्रतिक्रमण नहीं किया जाय, तो ज्ञानियों ने प्रतिक्रमण-सूत्रों में सूक्ष्मता से एक-एक पाप की गिनती की है, उन सबका पश्चात्ताप-‘मिच्छामि दुक्कडं’ कराया है, वे सब पाप प्रतिक्रमण के बिना कहाँ याद आयेंगे ? और कहाँ संताप होगा ? तो प्रतिक्रमण के बिना आत्मा पर रहे हुए पापों के कातिल दल का कितना फल भोगना ?

**प्रतिक्रमण के बिना रहे हुए पापों से परलोक में क्या होगा ?**

आज तो विचित्र जमाना आया है। मनुष्य धर्म में पांच पैसे खर्च करके या देवदर्शन करके संतोष मानता है। लेकिन भाई ! उभय काल प्रतिक्रमण किए बिना पापों की जंगी सेना को कैसे हटा सकेंगे ? चाहे एकाध उपधान जैसा महान धर्म भी कर लिया हो, पयुषण में ८-१५ उपवास भी कर लिये हों, परन्तु प्रतिदिन मन-वचन-काया के अपार दुष्कृत्यों से प्रति समय आत्मा पर लगे हुए पापों के ढेर का ढेर कैसे निकलेगा ? ये पाप न निकले, तो क्या परभव में पारावार पीड़ाये व प्रतिकूलताये भोगे बिना चलेगा ? यहाँ जरा-सी प्रतिकूलता भी मन को दुःखाती है, परलोक में तो कितनी भारी प्रतिकूलताओं व पीड़ाओं में मन

को कितना संताप होगा ? दीर्घकाल तक वे संताप रहेंगे । उसकी अपेक्षा तो यहाँ दो घड़ी का प्रतिक्रमण कर लेने में क्या हर्ज है ? इससे उन पाप कर्मों का ढेर निकल जाएगा, यह महान लाभ और भविष्य में भी कैसा सुन्दर वचाव ! प्रतिक्रमण का महत्त्व समझते हैं ?

मदनसिंह श्रावक उभयकाल प्रतिक्रमण करने में चुस्त था । दिल्ली के बादशाह को यह बात मालुम हुई, तो बादशाह को उसकी परीक्षा करने का मन हुआ । कोई अपराध का आरोप मदनसिंह पर लगवाकर मदनसिंह को बेड़ियों से जकड़कर जेल में डाल दिया । अब समय होने पर मदनसिंह को प्रतिक्रमण करना है । लेकिन बेड़ियों में जकड़ा हुआ श्रावक प्रतिक्रमण करे कैसे ? वह तो बड़ा श्रद्धालु श्रावक था, बैठे-बैठे काउस्सग और खमासमण आदि से काम चलाने वाला नहीं था । यहाँ तो बेड़ियाँ हैं, अब करे क्या ? उसने जेलर से कहा-‘मुझे दोनों समय प्रतिक्रमण के लिये दो घड़ी बेड़ियों से मुक्त कर दिया करो, तो मैं तुम्हें एक समय का एक टाँक सोना दुँगा, दोनों समय के लिये दो टाँक सोना ।’ जेलर तो खुश हो गया । प्रतिदिन दो-दो टाँक सोना देकर भी मदनसिंह ने प्रतिक्रमण किया । वह जमाना तो सस्तीवारी का था, वहाँ दो टाँक सोने की कीमत कितनी थी ? किन्तु वह समझता था, कि ‘सोना चाहे कीमती हो, लेकिन प्रतिक्रमण तो उससे भी लाखों गुना कीमती है ।’

एक टाँक सोना बचा लेने से पापों का गंज नहीं मिटेगा, जब कि सोना खर्च करके किये गए प्रतिक्रमण में पापों को मिटाने की ताकत है ।

पाप उड़ने के बाद भविष्य में कितनी निश्चिन्तता रहती

है ! मदनसिंह यह समझता है, इसीलिये तो सोना देकर भी प्रतिक्रमण करता है ! बादशाह को यह बात ज्ञात होने पर मदनसिंह को शावाशी देते हुए छोड़ दिया ।

आप यदि समझदार हैं, तो दूसरा सब छोड़कर दोनों समय प्रतिक्रमण कीजिये । देखिये,

### प्रतिक्रमण में कितने लाभ ?

(१) पहला लाभ तो यह है कि पहले तो इसमें सामयिक ली जाती है, जिसमें अनन्त जीवों को अभयदान देने का लाभ तथा सर्व पाप-व्यापार को त्याग करने का लाभ मिलता है ।

(२) दिन भर में या रात-भर में किये हुए दुष्कृत्यों से बंधे हुए पापों का नाश का लाभ होता है ।

(३) पापों के प्रति सच्चा तिरस्कार भाव आता है ।

(४) दोनों समय का धर्म निश्चित हो जाता है ।

(५) जिनेश्वर भगवंत की आज्ञा का पालन होता है ।

(६) दुष्कृत्यों का बराबर स्मरण व पश्चाताप करने से अच्छे संस्कार आते हैं ।

(७) प्रतिक्रमण क्रिया में साथ-साथ किए जाने वाले देववन्दन गुरुवन्दन, कायोत्सर्ग आदि से अनेक गुणों व सुसंस्कारों का लाभ मिलता है और दूसरे कई कर्मों का नाश होता है ।

प्रतिक्रमण यह अद्भुत क्रिया है । भाग्यवान जीव इसकी आराधना कर सकते हैं । अभाग्य क्या करें ! उन्हें तो रात-दिन 'हाय पैसे ! हाय सुख ! हाय परिवार ! ....' की ही लत होती है । उन विचारों को तो प्रतिक्रमण के अद्भुत लाभों की कोई जानकारी



नहीं ! रात-दिन अर्थ और काम की आँधों में ही फँसे रहकर उन्हे ही वे जीवन का सर्वस्व मानने हैं और प्रतिक्रमण को गिनती में ही नहीं लेते !

आप कैसा जीवन जीना पसन्द करेंगे ? भाग्यवान का ? या अभागे का ? भूलियेगा मत -

मानव जीवन योग के लिये है, भोग के लिये नहीं, और प्रतिक्रमण महान योग साधना है ।

जीव योग से भाग्यशाली और भोग से अभागा बनता है ।

मनुष्य जन्म पाकर जो योग की साधना कर जाये, वह भाग्यशाली व भोग में ही डूबा रहे, वह अभागा है । आपको भाग्यवान बनना हो, तो निश्चित कीजिये प्रतिदिन दोनों काल में प्रतिक्रमण करूँगा । दोनों समय अनुकूलता हो तो एक बार तो अवश्य करूँगा ; अथवा महीने में कुल ६० प्रतिक्रमण होते हैं, उनमें से इतने प्रतिक्रमण तो करूँगा ही ।'

**धर्मक्रिया में समय क्यों सफल गिना जाता है ?**

घबराईये मत कि 'हाय ! इसमें कितना समय चला जाय !' अरे, यह समय तो बहुत लाभदायी सिद्ध होगा । प्रतिक्रमण से जो अन्तराय कर्म टूटते हैं, उनसे बाद में व्यापार आदि में थोड़ी मेहनत से भी लाभ हो जाता है ! उदाहरण के लिये, -गुरु सेवा से जो ज्ञान के आवरण तोड़ता है, उसे बाद में थोड़ी-सी मेहनत में भी अच्छी पढाई चढ़ती है । कर्म टूटे बिना अच्छा ज्ञान या दूसरी भी कोई अच्छी प्राप्ति नहीं होगी । जिनपूजन, साधू सेवा, गुरु भक्ति, तपस्या, प्रतिक्रमणादि पवित्र क्रिया आदि में कर्म तोड़ने की अद्भुत

ताकत है। इनसे ज्ञानावरण, लाभान्तराय आदि कर्मों का जबरदस्त क्षय होता है।

## प्रतिक्रमण से कौन से पाप नाश पाते हैं ?

प्रतिक्रमण से पाप कर्मों का नाश होता है, परन्तु चाहे जैसे उग्र या बड़े पाप किये हों, तो वे सिर्फ चालू प्रतिक्रमण की क्रिया करने से साफ हो जायें ऐसा कोई नियम नहीं है। स्थूल पापों का प्रतिक्रमण गुरु के आगे पश्चात्ताप के साथ वे पाप स्पष्ट रूप से निखालस वाला भाव से कहने से होता है। पाप गुरु के आगे प्रकाशित करने पड़ते हैं और उनके पास प्रायश्चित्त मांगना पड़ता है। वह प्रायश्चित्त करने पर ही उन पापों की शुद्धि हो सकती है।

## क्या अन्य धर्मों में योग्य प्रायश्चित्त हैं ?

जैन शास्त्र कई प्रकार के दुष्कृत्यों की पहचान कराके प्रत्येक के योग्य प्रायश्चित्त बताते हैं। यह प्रतिपादन सिर्फ जैन धर्म में ही मिलता है। दुनियां में दूसरे किसी धर्म के ऐसे कोई शास्त्र नहीं हैं कि जिनमें इतनी बारीकी से और इतने विस्तार से मन-वचन-काया के स्थूल-सूक्ष्म दुष्कृत्यों की पहचान भी करायी गयी हो ! यदि यही नहीं है, तो उनके प्रायश्चित्त की तो बात ही कहाँ से ? जिसे वे दुष्कृत्य समझते हैं, उसके प्रायश्चित्त की बात भी सिर्फ कल्पना से, मन माने तर्क से करते हैं, प्रत्यक्ष दर्शन से देखकर नहीं करते। सर्वज्ञ नहीं होने से वे प्रत्यक्ष से यह तो नहीं देख सकते कि 'आत्मा कैसी है ? इसके दुष्ट भाव कैसे हैं ? आत्मा में भावों की क्या प्रक्रिया चलती है ? इन भावों से कैसे कर्म बध है ? बाद में उन कर्मों में क्या प्रक्रिया चलती है, कैसे-कैसे प्रायश्चित्त से वे कर्म नाश पाते हैं ?' नाश की प्रक्रिया कैसी है ?.... इसमें से कुछ

भी वे प्रत्यक्ष से नहीं देख सकते । फिर किस तरह योग्य प्रायश्चित्त बता सकते हैं ?

तीर्थंकर भगवान् वीतराग सर्वज्ञ है, इसीलिये सर्व काल के सर्व द्रव्य व सर्व भाव वे प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं और उसके आधार पर यह सब यथार्थ कहते हैं । उन्होंने प्रतिक्रमण से पाप कर्मों का नाश देखा और कहा, उसमें गुरु के आगे वालभाव से निखालस भाव से पाप--निवेदन और प्रायश्चित्त ग्रहण से पाप नाश बताया है । इसीलिये भव्य जीव इसकी श्रद्धा से अपने जीवन के सर्व दुष्कृत्य शास्त्रज्ञ सद्गुरु के आगे कह देते हैं । अर्थात् भव आलोचना करते हैं और उसका प्रायश्चित्त लेकर वहन करते हैं । आप पूछेंगे-- भव-आलोचना क्यों ?

### भव-आलोचना किसलिये ?

इसका कारण स्पष्ट है कि यदि भव-आलोचना न की, तो आत्मा पर चिटके पाप कर्म ऐसे ही रह जायेंगे । अब भवान्तर में या तो उनका दुःखद फल भोग-भोगकर नाश करना पड़ेगा, या फिर वे कर्म तप से खपाने पड़ेंगे । यदि अपने दुष्कृत्य हृदय में छुपाकर रखे और गुरु के आगे मान हानि होने के भय से उनकी आलोचना न की, तो इसका अर्थ यह हुआ कि मन को मान हानि जितनी बुरी लगी, उतने दुष्कृत्य बुरे नहीं लगे, और उतने पाप कर्म आत्मा पर रह जाना बुरा नहीं लगा ! इसका दुःखद परिणाम यह होगा कि वे पापशल्य आत्मा में तदवस्थ रह जायेंगे, वे दुष्कृत्य के भाव तथा पापकर्म अशुभ अनुबन्ध वाले बन जायेंगे ! 'अनुबन्ध' यानी बीज शक्ति, अर्थात् पापानुबन्ध वाले पाप जब भोगे जायेंगे, तब साथ में ही नये पापों को जन्म देंगे । क्योंकि उस वक्त अशुभ

अनुबन्ध की वजह से दुष्ट बुद्धि यानी दुष्कृत्यों के भाव फिर से प्रकट होंगे ही !

यहां पर आलोचना न करने वाले को भवान्तर में दुष्ट बुद्धि क्यों ?

यहां पर दोष-दुष्कृत्यों को प्रतिक्रमण-आलोचना-प्रायश्चित्त से नाश करने जैसा बुरा न माना, लेकिन गुरु के आगे होने वाली मान हानि बुरी मानी, इसलिये सहज ही है कि यदि दुष्कृत्य इतने बुरे नहीं लगते, भयंकर नहीं लगते, तो उस दुष्कृत्य के बीज आत्मा में पड़ जाते हैं और वे भवान्तर में पुनः दुष्ट भाव जगाते हैं। दोष-दुष्कृत्य एकदम खराब लगें, तो ही उसके बीज आत्मा में नहीं रहते और आगे चलकर दुष्टबुद्धि नहीं जगती। परलोक में यदि दुष्ट भाव ही जगते रहें, तो वहां तप-धर्म करने का मन ही कहाँ से होगा कि जिससे पूर्व भव के कर्म नाश पायें ? इसलिये अन्त में यही मार्ग बचा कि 'उन कर्मों का नाश तो दुःख भोगकर करो'। परन्तु इतने से ही छुटकारा नहीं होने वाला है। क्योंकि पाप कर्म स्वयं तो भोगे जाने से नष्ट हो चुके हैं, फिर भी वे पापानुबन्ध वाले होने से दुष्ट-भाव होने के कारण नये पाप कर्म बंधेंगे....और इस तरह आगे-आगे दुःख भुगतना ही पड़ेगा। समझदारी इसी में है कि प्रतिक्रमण के बिना दुष्ट भाव व पाप कर्मों की परंपरा अनेक भवों में चले, उससे तो अच्छा यही है कि प्रतिक्रमण करके अर्थात् गुरु ने आगे निवेदन-आलोचना करके प्रायश्चित्त लेकर, वहन करके उन पाप कर्मों का नाश किया जाय !

प्रतिक्रमण से कर्म का नाश होता है। यह हुई कर्म नाश की एक रीति।

## भोगकर पापनाश के ४ उपाय

दूसरी रीत यह है कि कर्म भोगने से भी नाश पाते हैं । पूर्वोपाजित पाप-कर्म उदय में आते हैं, दुःख देते हैं और इस तरह भोगने से नष्ट होते हैं । कहा ही है कि पाप कर्म के बिना दुःख नहीं आता और दुःख देने के बाद पाप कर्म टिकते नहीं । परन्तु खूबो यह है कि यदि ये पाप कर्म भोगने न आयें, तो फिर से नये पाप-कर्मों का उपार्जन होगा ।

‘कर्म भोगने नहीं जाना’ इसका अर्थ यह है कि दुःख के समय आकुल-व्याकुल हो जाना, दुर्ध्यान व कषाय करना, दुःख मिटाने के लिये अनुचित प्रवृत्ति करना । उदाहरण के लिये :—हिंसा-भूँठ-अनीति आदि पापों का आचरण करना । गरीबी का दुःख आने पर कोई सीधा, सादा, प्रामाणिक मजूरी आदि का काम करे, तो अनुचित नहीं है परन्तु भूँठ, माया, कपट, अनीति से धंधा करे या भारी हिंसा-आरंभ-समारंभ वाला धंधा करे, यह तो अनुचित प्रवृत्ति कही जाएगी । इससे ढेर-सारे नये पाप कर्म बंधेंगे । इसी तरह रोग का दुःख आने पर हाय-हाय करना, अभक्ष्य दवा-आहार लेना, यह अनुचित है । इससे भी नये भारी पापकर्म आ खड़े होते हैं । ऐसा करने से ‘दुःख भोगना न आया’ कहा जाएगा । यहां के दुःख भोगने से सिर्फ पूर्वोपाजित कर्म नाश पायें, उससे क्या ? दो पाप निकाले और बारह घुसाये, तो क्या फायदा ? यहां पर दुःख इतने भयंकर नहीं थे, परन्तु अब यहां पर जो भारी दुष्कृत्य करता है, उसके पाप का दुःख इतना भयंकर है कि नरक या तिर्यच गति में भोगना पड़ेगा । इसीलिये उसे देने वाले पाप ‘बारह’ कहे गये हैं । दो पाप निकालकर बारह इकट्ठे किये, यह तो वक्रे को निकालकर ऊँट को घुसाड़ने जैसा हुआ । अशुभ कर्म भोगना नहीं

आया, जिससे वकरे जैसा सामान्य कर्म निकाला और ऊँट जैसा भारा कर्म धुसाया ! ऐसा होगा ।

इसीलिये पापकर्म भोगने से नाश पाते हों, तो उन्हें भोगना भी आना चाहिये ।

**‘पाप कर्म भोगना आना’** अर्थात् वे उदय में आने पर उन्हें आनन्द से स्वीकारना चाहिये । दुःख कठिनाई आये या अन-चाहा घट जाये, तब तुरन्त समझ लेना चाहिये कि—

(१) ‘यह मेरे पूर्ववद्ध अशुभ कर्म का फल है । मेरे कर्म उदय में आये, इसीलिये यह दुःख-आपत्ति आयी । अनन्त गुणसम्पन्न तीर्थंकरदेव से लेकर अनन्त दोष भरे हुए महा अनाड़ी मनुष्य तक के लिये यह सनातन नियम है कि उन्हें जो भी दुःख आता है, वह अपने ही पूर्वोपाजित अशुभ कर्म के कारण आता है । इसीलिये दुःख आने पर उसके लिये दूसरों को क्यों दोष देना ? दोष तो स्वयं का है । स्वयं ने भूतकाल में ऐसे अशुभ कर्मों का उपार्जन नहीं किया होता, तो ऐसा दुःख नहीं आता । मात्र दूसरे तो दुःख देते दिखते हैं, लेकिन वे तो निमित्त मात्र हैं; मूल कारण तो स्वयं के ही अशुभ कर्म हैं । स्वयं के अशुभ के बिना दुःख देने के लिये कोई शक्तिमान नहीं है । नरक के जीव के वे कर्म पूरे हो जाने पर वह वहां से बाहर निकल जाता है, बाद में परमाधामी देव उसको कुछ नहीं कर सकते ।

(२) दूसरी समझ यह होनी चाहिये कि ‘बड़े से बड़े तीर्थंकर भगवान हों या चाहे महा अनाड़ी जीव हो, दुःख भोगते-भोगते उसके दुःख देने वाले कर्म तो कम होंगे ही । दुःख-रोग-प्रतिकूलता को मैं भी जैसे-जैसे भोगता जाता हूँ, वैसे-वैसे मेरे कर्म



भी कम हाते जाते हैं, फिर किस कारण से रोऊँ ? कचरा जाने पर भला कौन रोयेगा ? दुःख तो कर्म के फोड़े को मिटाने वाली मरहम-पट्टी है । मरहम-पट्टी से पीड़ा होने पर भी यदि फोड़ा मिटता हो तो कौन रोयेगा ?

(३) तीसरी समझ यह है कि 'दुःख के समय भी यदि अच्छी भावना रखी जाय, तो नयी पुण्य कमाई होगी । गोशाला महा अनाड़ी था । जगत दयालु महावीर परमात्मा पर तेजोलेश्या छोड़कर प्रभु को जला देने के लिये तत्पर हुआ था । परन्तु उसके द्वारा छोड़ी गयी तेजोलेश्या, प्रभु को न जला पाने से, स्वयं के शरीर में प्रवेश कर गयी और उसने उसे ही जला डाला । प्रभु की तो कर्मक्षय रूपी पुण्य कमाई बढ़ गयी; एक भी पाप का संचय नहीं हुआ !

**अब यहां कर्म का अटल सिद्धान्त देखिये :**

सामान्य तौर पर तीर्थंकर भगवान को केवल-ज्ञान के बाद उपसर्ग या अशाता के कर्म बाकी नहीं रहते, फिर भी महावीर प्रभु को अशुभ कर्म अशाता वेदनीय बाकी था, इसी से उसके उदय से तेजोलेश्या की प्रदक्षिणा के कारण भी दाह की पीड़ा भुगतनी पड़ी। परन्तु वह भोगनी आयी, गोशाले के प्रति तनिक भी द्वेष-दुर्भाव न किया, उसे दुःख देने वाला नहीं माना और स्वयं भी मन से बिल्कुल दुःखी नहीं हुए । स्वस्थता से पीड़ा भोगी तो कर्म का आगे पर कुछ न चला । कर्म तो भोगे जाने के बाद खाना हो गये ।

**गोशाले का पछतावा : बड़ा पुरस्कार**

गोशाले को अब तीव्र अशुभ का उदय है, इसीलिये तेजो-

लेश्या उसके शरीर को जलाने लगी ! भयंकर अन्तर्दाह की पीड़ा होने लगी ! सात दिन तक बेचारा तड़पता रहा । पहले तो 'स्वयं सर्वज्ञ नहीं है, ऐसी लोक में बात होने' के दुःख के समय प्रभु को ही दुःख देने वाला मानकर उपालंभ देता था । परन्तु अब उसके मन में लग गया कि 'यह दाह का दुःख मेरे स्वयं के पाप के कारण ही आया है । मैंने महान धर्माचार्य की अवगणना की, इसीलिये मेरी ही छोड़ी गयी तेजोलेश्या से मुझे स्वयं जलना पड़ा ! धिक्कार है मेरे इस दुष्कृत्य को ! चलो, अब अपने शिष्यों को और लोक को इतना तो सिखा दूँ कि 'जो अपने धर्माचार्य की अवगणना करता है, उसे ऐसे दुःख मिलते हैं । इसीलिये कोई धर्मगुरु की आशातना मत करना ।"

इस तरह पाप के तीव्र पश्चात्ताप का अच्छा भाव आने से वह मरकर १२ वें देवलोक में गया । दुःख भोगने पर भी उसको इतने अंश तक स्वीकारा कि उसमें स्वयं की नालायकी को जवाबदार माना तो पुरस्कार स्वरूप बारहवां देवलोक मिला ! तो फिर दुःख को सर्वांश से बधाये, तो कितना बड़ा पुरस्कार मिले ? आगे खिए,—गोशाले ने दुःख को बधाया और पाप का पश्चात्ताप किया इतना ही नहीं किन्तु उसने शिष्यों को भी कहा,

"मैं सच्चा जिन नहीं हूँ, सर्वज्ञ नहीं हूँ । सच्चे जिन सर्वज्ञ श्री महावीर प्रभु हैं । मैं उनका पूर्व में शिष्य था, और उनके पास से ही तेजोलेश्या की विद्या पायी थी । परन्तु मैंने मेरे धर्माचार्य की अवगणना की उनका द्रोह किया, उसका यह फल पाया है । इसीलिये तुम किसी धर्मगुरु का द्रोह मत करना, और मेरे मरने के बाद मेरे मुर्दे को रस्सी बांधकर थूंकते-थूंकते श्रावस्ती नगरी के राज मार्गों पर कुत्ते के मुर्दे की तरह घसीटकर घुमाना और लोगों

से भी कहना कि 'जो भी धर्माचार्य की अवगणना करता है, उसका ऐसा हाल होता है।' कितनी बड़ी पाप की णृणा ! १२वां देवलोक यों ही थोड़े मिला है ? फिर भी एक न्यूनता रही, -गोशाले ने ऐसा कहा, लेकिन यों नहीं कहा कि मुझे महावीर प्रभु के पास ले जाओ, उनके आगे मैं मेरे सर्व पापों की आलोचना करूंगा, प्रायश्चित्त लूंगा और निर्मल बनूंगा,' इतनी कमी रही, क्रूर कृत्यों के संस्कार तथा उपार्जन किये हुए तीव्र पाप कर्म के अनुबन्ध रह गये । यद्यपि पश्चात्ताप के शुभ भाव से मिले पुण्य से बारहवां देवलोक तो मिला, परन्तु बाद में वे पाप कर्म और कुसंस्कार उसे भारी पीड़ा देंगे ।

### पुण्योदय के समय पाप के उदय को विलंब क्यों ?

प्र० वे पाप कर्म तो आत्मा में पड़े हुए ही थे, तो फिर तुरन्त अगले भव में फल क्यों नहीं बताया ?

उ० कई कर्श व कुसंस्कारों को फल दिखाने के लिये अनु-  
कूल द्रव्यक्षेत्र—काल—भाव—भव के संयोग की आवश्यकता होती है।

अन्तर-आत्मा में क्रूरता के संस्कार पड़े हो, परन्तु कबूतर जैसा भव मिला हो, तो वह क्रूरता जाग्रत नहीं दिखाई पड़ती । वैसे गोशाले को १२ वें देवलोक में जन्म मिला है, जिससे वहां उग्र कुसंस्कार उदय नहीं पायेंगे, और आयुष्य तो जीवन में एक बार हो बंधती है, आयुष्य बंधते वक्त भी मन के परिणाम जैसे शुभ या अशुभ हों, उसी प्रकार का आयुष्य बंधता है । फिर चाहे जीवन में कितने भी सुकृत क्यों न किये हों, परन्तु तत्काल के अशुभ भाव के कारण यदि आयुष्य दुर्गति का बांधा हों, तो मरकर उसी गति में जाना पड़ता है । इससे उल्टा, जीवन में दुष्कृत्य बहुत किये हों, फिर भी अगर आयुष्य तत्काल के शुभ भावों

के कारण सद्गति का बाँधा हो, तो मरकर तुरन्त सद्गति में ही जाना होगा और प्रायः उसी गति के संयोग के हिसाब से ही संस्कार वैसे ही जाग्रत होते हैं और कर्म भी विपाक वैसे ही बताते हैं।

**गोशाले के प्रसंग में भी ऐसा ही हुआ।**

जीवन में बहुत दुष्कृत्यों का आचरण किया, जिससे अशांता वेदनीय आदि अशुभ कर्म और कुसंस्कार बड़े प्रमाण में उपाजित किये, परन्तु आयुष्य बाँधते वक्त अच्छे भाव थे, जिससे देवलोक का आयुष्य और शांता वेदनीय आदि अच्छे कर्म बाँधे तथा पाप पश्चाताप के सुसंस्कार भी पैदा किये। जब मरने के बाद वह १२ वें देवलोक में देव बनता है, तब वहाँ के संयोग के हिसाब से शुभ कर्म और सुसंस्कार उदय दिखाते हैं। अशुभ कर्म तथा उग्र कुसंस्कार फल नहीं दिखा सकते। लेकिन यह वहाँ तक ही है! वहाँ से मरकर मनुष्य बनेगा, तो पुनः अशुभ कर्म अपना काम शुरू कर देंगे! इससे सूचित होता है कि —

**शुभाशुभ का उदय संयोग के अधीन है :**

आत्मा में दोनों प्रकार के कर्म हों, परन्तु द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव और भव के संयोग-परिस्थिति के हिसाब से यदि पुण्यकर्म जोर पकड़े तो पापकर्म दब जाता है। यानी? पुण्य उसका विपाक बताता है और पाप उसका विपाक नहीं दिखा सकता। इससे विपरीत यदि वैसे भव आदि के संयोग से पापकर्म जोर पकड़े तो उसका विपाक भोगा जाएगा, और वहाँ पुण्य का विपाक बन्द हो जाएगा, पुण्य नहीं भोगा जाएगा।

अपनी बात यह चल रही थी कि यदि पूर्वभव के लाये हुए पापकर्म भोगने आते हों, अर्थात् पाप के उदय से आए हुए दुःख के वक्त यदि अच्छी भावना रखना आता हो तो नय पुण्य की कमाई होती हैं। गोशाला अपनी ही तेजोलेश्या के ताप से जलते रहने के दुःख में भरा, पापकर्म के उदय से ही ! परंतु उस वक्त भवितव्यतावश भावना अच्छी आयी, तो मरकर एक बार तो 12 वें देवलोक में गया !

(4) कर्म भोगना आना चाहिए इसके लिये चौथी समझ यह है कि 'मेरी आत्मा मूल में शुद्ध ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यमय है। उसे पुण्योदय से स्वर्ग की समृद्धि मिल जाय उससे उसे कुछ लाभ नहीं है। इसी तरह पापोदय से आपदा आती है उससे भी उसके ज्ञानादि गुण में कुछ घाटा नहीं होता है।

तो फिर पुण्य के उदय में यानी सुख-सुविधा मिल जाने में मुझे इतना पागल बनने की क्या आवश्यकता ? और पाप के उदय में यानी दुःख आपत्ति-असुविधा आने पर मुरझाने व खिन्न-दीन-हीन बनने की जरूरत है ? इन सबसे मेरे असली, शुद्ध, स्वच्छ, ज्ञानमय स्वरूप में कोई विकास-विकार नहीं होता, तो फिर मुझे सुख-दुःख का बुरा असर अपने मन पर लेने की क्या जरूरत है ? मैं निर्विकार शुद्ध ज्योति-स्वरूप हूँ ! दुनिया के संयोगा धोन सुख-दुःख मेरी चीज नहीं हैं, ये तो कर्म के खेल हैं। मुझे तो वे सब तटस्थ भाव से सिर्फ देखते रहना है, उनमें अच्छा-बुरा कुछ नहीं मानना, कहीं खुश होना नहीं या रोना नहीं ! तब सुख - दुःख में हर्ष - उद्वेग नहीं करने की यह चावी ले लीजिए,—

सुख-दुःख में अलिप्त रहने की चाबी : 'अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप का चिन्तन कीजिये' ।

इस समझ को चित्त में बसाया, वह भी इस तरह कि 'मानों हम अभी मोक्ष के जीव जैसे शुद्ध ज्ञानमय व निर्विकार बन गये हों' । ऐसी भावना करके यदि इस प्रकार खूब अभ्यास किया जाय, तो एक ऐसा सुन्दर संस्कार पैदा होता है कि जिससे बाद में मामुली सुख-दुःख आने पर तो इस भावना के प्रभाव से आसानी से सुख-दुःख से अलिप्त रह सकते हैं और बाद में आगे अभ्यास बढ़ने से बड़े सुख दुःखों में भी अलिप्त जैसे रह सकते हैं । आप कहते हैं न कि—

‘भरतजी मन में ही वैरागी,  
चार कोड़ मण अन्न नित सींभे,  
लूण लाख दस मण लागी,  
तीन कोड़ गोकुल नित दुंभे,  
तो भी न हुआ अनुरागी....भरतजी,

कितनी संपत्ति ? 96 करोड़ पायदल सेना को निभाते हैं ! जिनके यहां नित्य 4 करोड़ मण (80 करोड़ किलो) अन्न पकाया जाता है, जिसमें 10 लाख मण (2 करोड़ किलो) तो नमक डाला जाता है । 96 करोड़ की सेना को वेतन देने के लिये धन कितना जाता होगा ? आश्चर्य होगा कि ऐसे समृद्ध भरत चक्रवर्ती भी इस समृद्धि में 'अनुरागी, नहीं बने ! करण ? उनके मन में वैराग्य उछलता था, अपनी ही आत्मा का शुद्ध ज्ञानमय निर्विकार स्वरूप का ध्यान था, फिर बाह्य संपत्ति भला उन पर क्या असर करती ?



## आत्म स्वरूप के चिन्तन से सुदर्शन अनासक्त :-

मशान में कायोत्सर्ग ध्यान में रहे हुए सुदर्शन सेठ को अभया रानी ने प्रपंच से महल में घुसेड़ दिया । सेठ के रूप पर मोहित होकर वह उन्हें भोग की प्रार्थना करती है, हावभाव दिखाती है । यहाँ देखिये, कामोत्तेजक रात्रि का समय है, खुब-सूरत रानी हावभाव व कामचेष्टाओं के साथ विनंति कर रही है, लेकिन सेठ का रोम भी नहीं फड़कता । वहाँ रानी ने हावभाव - चेष्टा करने में कौन-सी कमी रखी होगी ? फिर भी सेठ को अंशमात्र भी काम का विकार नहीं होता । यह कैसे हुआ होगा ? ऐसे ही हुआ होगा कि सेठ अपनी आत्मा के शुद्ध ज्ञानमय निर्विकार स्वरूप के हार्दिक चिन्तन में लयलीन बने हों, फिर इन कामोत्तेजक संयोगों की क्या मजाल कि सेठ को थोड़ा भी विकार करा सके ? उन्होंने मन से निश्चित कर लिया कि मेरा आत्म स्वरूप विल्कुल विकार रहित है, शुद्ध ज्ञानमय है, मुझे इन चमड़े के विषयों के साथ क्या लेना-देना ? मेरी आत्मा के आसपास यह तो मोह की सेनाने घेराव डाला है, लेकिन उसे अपनी आत्मा के अन्दर प्रवेश ही नहीं होने दूँगा, कामराग-स्नेहराग-विषयराग रूपी कचरे को थोड़ा भी अन्दर घुसने नहीं दूँगा-ऐसी ठोस मान्यता व दृढ़ भावना से ही सुदर्शन सेठ ऐसे अति कठिन संयोगों में भी अलिप्त रहे ! ऐसे सयाग देने वाले कर्म उदय को ललकारना उन्हें आया, कर्म के उदय से प्राप्त संयोग का विल्कुल असर मन पर नहीं लिया और खुशी भी नहीं मानी कि 'चलो रानी मिल गयी' ।

आत्म स्वरूप के चिन्तन से उपसर्ग (उपद्रव) में मोक्ष:-

राजा द्वारा भेजे गये मारक (जल्लाद) खंघक मुनि की खाल उधेड़ते हैं फिर भी दुःखी हुए ? नहीं । वैसे खंघक सूरि के 500 शिष्यों को घाणी (कोल्हू) में पीला जाता है, फिर भी कोई साधु दुःखी हुआ ? नहीं, उन्हें कठिन कर्म का उदय समता से कैसे भोगना यह आया और उसमें तनिक भी दुःख नहीं माना., क्योंकि वे अपनी आत्मा के शुद्ध निर्विकार ज्ञानमय स्वरूप के चिन्तन में लीन बन गये थे ! परिणाम स्वरूप सर्व कर्मों का अन्त करके उन्होंने मोक्ष पा लिया !

शास्त्र कहते हैं कि कर्मों का नाश (1) प्रतिक्रमण से होता है; उसी तरह (2) कर्मों को भोगने से भी होता । यदि भोगना आये, तो जीव उदय-प्राप्त कर्मों का नाश करने के साथ-साथ अन्य कई कर्मों का नाश भी कर देता है ! यदि कर्म भोगने न आये, तो उदित कर्म चाहे भोग लेने से चले जायें, परन्तु दूसरे कई नये कर्म उपाजित करता है ! दो को निकालकर बारह को घुसाने जैसा हो जाता है .

यह कर्मनाश की दूसरी रीति की बात हुई ।

### तप से कर्मनाश: ६ बाह्यतप

(3) कर्म का नाश करने की तीसरी रीति तप है । !

पूर्व जन्म के कर्म भोगे जाने से ही नष्ट हों, ऐसा कोई नियम नहीं है । तप करने से भी कर्मक्षय होता है ।

तप दो प्रकार के हैं, - (1) बाह्य, और (2) अभियन्तर  
बाह्य तप :-

अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रस त्याग, काय कष्ट,

और संलीनता, ये बाह्य तप है।

यह तप स्वेच्छा से करना है। कोई बंधा हुआ भूखा मरे, वह अनशन तप नहीं है।

**‘तप के बिना सिद्धि नहीं’**

**‘तप के बिना ढेरबढ़ कर्मों का क्षय नहीं।’**

इस ठोस समझ के साथ ‘मुझे सिद्धि चाहिये, मुझे मोक्ष पाना है, कर्मक्षय करना है, मुझे आहार संज्ञा तोड़नी है, इसलिये आहार का त्याग करूँ’— इस इच्छा से अनशन-आहार छोड़े, वह अनशन तप गिना जाता है! फिर चाहे उपवास न करके एकाशन-वियाशन ही क्यों न किया हो! अरे! पोरिसी या नवकारशी ही की, लेकिन इस इच्छा से की, तो वह अनशन तप हुआ। इससे कर्मक्षय होता है।

**नवकारशी—पोरिसी आदि से कितने पाप टूटते हैं ?**

शास्त्र कहते हैं कि—सौ वर्ष तक एक नरक का जीव परमाधामी की घोर पीड़ा भोगे, काटा जाय, छेदा जाय, छोला जाय, जलाया जाय, लोहे के मुदगर से मारा जाय....आदि भयंकर पीड़ाएँ लगातार १०० वर्ष तक भोगे और इससे जो घोर अशातावेदनीय कर्म भोगने के नाश पाते हैं, उतने कर्म एक श्रद्धालु सम्यग्दृष्टि जीव नवकारशी तप से खपाता है, ! क्षीण करता हैं ! वाद में पोरिसी करे, तो १००० वर्ष के कर्म का क्षय करता है, साढपोरिसी करे, तो १०,००० वर्ष के कर्म का क्षय करता है .. इस प्रकार आगे-आगे के तप में क्रमशः दस-दस गुना लाभ

होता है। कहिये, जिन्हें सुबह होते ही मुँह में व्रण या चाय की प्याली डालनी है, उन्हें क्या यह भान भी है कि 'अरे जीव ! कुछ तो रुक ! सूर्योदय होने के बाद दो घड़ी तक तक तो रुक, फिर दातुन करना, तो नवकारशी तप होगा, उससे नरक की सौ वर्ष की भयंकर वेदना के पाप नाश होंगे।' नित्य नवकारशी वाले को इतना भान तो होगा कि 'रोज नहीं, तो पर्व दिनों में जरा पोरिसी कर लूँ और १० गुना लाभ पाऊँ', यानी १००० वर्ष की नरक की वेदना के कर्म चकचूर हो जायेंगे।' पोरिसी करने में कितना मामुली सहन करना है ? और लाभ कितने कर्मों के क्षय का ? लेकिन अनादि की खाऊँ-खाऊँ की राक्षसी आहार संज्ञा में बेचारे जीव को यह सूझेगा ही कैसे ? उसे यह पता नहीं कि भैंस के भव में यह तप नहीं किया जा सकता। मालिक गुस्से में आकर चारा देर से डालेगा, तो वहाँ तक उसे अवश्य भूखा तो रहना पड़ेगा, लेकिन वह तप नहीं होगा। यह तो मानव जीवन की ही बलिहारी है कि कर्मक्षय की इच्छा नवकारशी-पोरिसी आदि अनशन तप हो सकता है। अरे ! कोई पचचक्खण नहीं था, उठे तब से लेकर दुपहर तक खाया, लेकिन बाद में कर्म क्षय के लिये—'चलो, अब आज कुछ नहीं खाना है, ऐसा नियम कर लु' या 'आज से मुझे राज ४ वार से ज्यादा नहीं खाना, ऐसा अभिग्रह करूँ' तो यह भी अनशन तप ही है।

(२) ऊनोदरि का तप :— भोजन करते हुए दो-चार कौर कम खाना। क्यों ? क्योंकि भगवान ने इसे तप कहा है, इससे भी कर्मक्षय होता है। इसीलिये तो यह ऊनोदरी तप हुआ। इसमें कम खाने से शरीर अच्छा रहेगा ऐसा उद्देश्य नहीं है अथवा कम खाने से दूसरों को अच्छे लगें, इसके लिये ऊनोदरी

नहीं है, किन्तु यह परमात्मा की आज्ञा है, इससे कर्मक्षय होता है, इसलिये ऊनोदरी तप है। कैसी मजे की बात ? खाने पर भी तप ? क्यों ? दौ-चार कौर कम खाने पर भी खाने का उतना लालच दबाया इसलिये। इसका उद्देश्य है - कर्मक्षय का, जिनाज्ञा पालन का आहार संज्ञा को दबाने का। यह पवित्र उद्देश्य से किया गया त्याग यह तप है।

इससे सूचित होता है कि

कर्मक्षय के लिये इन्द्रियों व मन के विषयों के लालच को जितना दबाया जाय, उतना तप होता है।

जीवन जीते जीते बहुत-से विषय सामने आयेंगे या स्मरण में आयेंगे इन्द्रियों के विषय के रूप में शब्द-रूप आदि विषय, और मन के विषय के रूप में क्रोध, मान आदि कषाय, सामने आयेंगे। इन्हें जितना इन्द्रिय-मन के संपर्क में आते रोकेंगे, इन्द्रियों और मन को इन विषयों को पकड़ने से जितना रोकेंगे, उतना तप होगा; इससे महान कर्मक्षय का लाभ होगा।

(३) वृत्ति संक्षेप तप :- भोजन के लिये बैठे, थाली में ८ चीजें परोस गयीं, उसमें से त्याग व कर्मक्षय के लाभ के लिये एक-दो चीजें निकाल दीं, तो यह वृत्ति संक्षेप तप हुआ। मन की लालचवृत्ति का संक्षेप किया, मन की वृत्ति को ८ में से ६ चीजें खाने पर संकुचित किया। प्रतिदिन के लिये ऐसी प्रतिज्ञा की कि 'भोजन करते वक्त सात से अधिक चीजें नहीं खाना....' अथवा 'रोज के लिये २० से अधिक चीजें नहीं खाना....' या रोज के ३ धान्य, २ सब्जी, ४ विगई से अधिक नहीं खाना

इत्यादि;—यह वृत्तिसंक्षेप तप हुआ। इससे पेट भरेगा या नहीं ? भरेगा। इसमें जरूरत होने पर दिन में चार बार खाने को मिलेगा या नहीं ? मिलेगा। फिर भी भोगवृत्ति पर नियमन से तप का लाभ होता है, महान कर्मक्षय का लाभ होता है, भरपूर पुण्य-उपार्जन होता है।

### वृत्तिसंक्षेप तप पर एक भिखारी का दृष्टान्त :-

एक भिखारी था। उसे जैसा-तैसा, जूठा जो भी मिलता, खूब खाता। उसके शरीर में फुँसियां हो गयीं, उनमें से रस्सी निकलने लगी, उसे बहुत जलन होती है, वह तड़पता है, लेकिन फिर भी खाना तो चालु ही रहता !

एक बार उसे एक साधु मिले। भिखारी ने हाथ जोड़कर दीनता से उन्हें कहा 'बापजी ! देखिये न, मेरे शरीर में यह कैसा रोग हुआ है ? कोई जड़ी-बूटी हो, तो बताईये न जिससे मेरा यह रोग मिट जाय।'

मुनि ने कहा—'अरे भाई ! जड़ी-बूटी तो तेरे पास ही है। हमारे पास क्या मांगता है ?

भिखारी कहता है—'मेरे पास जड़ी-बूटी ? नहीं, बापजी ? मैं तो भिखारी हूँ। भीख मांगकर जीवन चलाता हूँ। मेरे पास तो एक कानी कौड़ी भी नहीं, तो फिर जड़ी-बूटी की तो बात ही क्या ?'



मुनि ने कहा-‘महानुभाव ! खा-खाकर तो तेरे शरीर में रोग पैदा हुआ है । अब खाने में थोड़ी कटौती कर ले, तो वह तेरे लिये जड़ी-बूटी का काम करेगा । तेरे शरीर का रोग तो मिटेगा ही, आत्मा का कर्म-रोग भी नष्ट हो जाएगा ।’

शास्त्र कहते हैं कि

इन्द्रियों और मन की वृत्ति में कटौती करने से तप होता है, तप से काया और आत्मा निरोगी बनती हैं ।’

भिखारी ने कहा-‘मुझे मिलता ही कितना है, जिसमें कटौती करूँ ?’

मुनि ने कहा-‘अरे नादान ! तुझे भीख में कितने धान्य मिलते हैं ? कितनी सब्जियाँ मिलती हैं ? दूध, दही आदि कितनी विगईयाँ मिलती हैं ? न मिले तो न भी मिले, लेकिन मिलने पर कितनी लेना, ऐसा कोई नियम है ! नहीं ! खाने में भी ऐसा कोई नियम है कि ‘चाहे जितना मिले लेकिन इतना ही खाना ? नहीं ! तो देख ये...ये...विगईयाँ हैं, एवं कितने ही धान्य हैं, कितनी ही सब्जियाँ हैं, इनमें कटौती की जा सकती है ।’

यह बात भिखारी के गले उतर गयी । उसने कहा-‘ठीक है महाराज ! मुझे रोज एक ही धान्य, एक ही सब्जी और एक ही विगई खाने का नियम करा दीजिये । इससे अधिक मुझे नहीं लेना ।’ भिखारी ने प्रतिज्ञा ले ली, ‘रोज को एक ही धान्य, एक ही सब्जी, एक ही विगई वापरनी ।’

**त्याग का लाभ :-**

क्या किया उसने ? वृत्तिसंक्षेप तप और रसत्याग तप !

वह तप किसी लालचा से नहीं था, धन-माल मिलने की आशंका से नहीं था। इसीलिये इसमें उसके इतने कर्म खप गये कि इसके रोग मिट गये ! वह फिर से स्वस्थ हो गया। उसे नौकरी भी मिली। उसमें से आगे बढ़ते हुए वह व्यापारी बना ! और धनवान भी बना ! अब तो मनचाहे धान्य-सब्जी-विगई मिल सकते हैं फिर भी रोज एक ही अनाज, एक ही सब्जी और एक ही विगई लेता है। वह मुनि का उपकार मानता है कि “भला हो उन महात्मा का ! जिन्होंने मुझे इस स्थिति तक चढ़ाया और बहुत धान्य, बहुत सब्जियां व बहुत रस के पाप में से मुझे बचा लिया ! नियम न होता तो, जो खाकर आत्मा को विगाड़ता, अब बचा हुआ वह दूध घी आदि का सुपात्रदान में दान ले लूँ।” वह दान देने लग गया।

देखिये, एक समय का मूढ भिखारी गुरु-उपदेश से कड़क वृत्तिसंक्षेप व रसत्याग के नियम से दानवीर बन गया ! उसने इतने अन्तराय कर्म का क्षय किया और इतना पुण्य उपार्जित किया कि वहां से भरकर जिस देश में मनुष्य के रूप में जन्म लिया, वहां उसके जन्म से पहले ही नैमित्तिक ने दुष्काल पड़ने की जो सच्ची भविष्यवाणी की थी, वह इस पुण्यशाली के जन्म से भूँठी हो गयी ! उसके प्रबल पुण्य से भारी बारिश हुई और सुकाल बन गया ! केवलज्ञानी भगवंत के पास से राजा ने यह बात जानने पर इस बालक के मस्तक पर छत्र धराकर उसे राजा घोषित किया। देखा राजाने कहा ‘जिसका पुण्य इतना जोरदार हैं कि जो दुष्काल को भी भगा दे, वही प्रजा का पालक सच्चा राजा बनाने लायक हैं।’

एक नादान व जनेतर भिखारी का ऐसा पराक्रम जानने के बाद आपको वृत्ति-संक्षेप करने का पौष चढ़ता है ? नहीं मनको

ऐसा लगता है कि यहां हमें बहुत मिलता है, त्याग करूं तो खाना बाकी रह जाए न ?' क्यों आप इसी गिनती में चलते हैं न ? या क्या 'जो खाया वही अपना' इस गिनती में चलते हैं ? खापा हुआ रहता है ? भूलिएगा मत पेट तो एक छेदवाली कोठी है । इसमें लाखों मण भोजन डालो, लेकिन यह तो खाली ही रहेगी ! कहिये, जिंदगी में आज तक इस छेद वाली कोठी में कितना डाला ? कितनी हजार रोटियां डाली ? वे सब अब है सलामत ? तो फिर क्यों जितनी मिले, जितनी बार मिले, वह सब खाने के पीछे लगे हैं ? यह तो मोह लालच है । मोह-लालच के पूर्णतः वश में रहने से अपनी आत्मा का सत्त्व नष्ट हो जाता है ।

आत्मा का सत्त्व मिलने वाले प्रलोभनों में कटौती करता है ।

'मुझे इतनी ही चीजें चलेगी,' इतनी बार ही खाऊंगा' 'निश्चित किए हुए टंक से ज्यादा नहीं खाऊंगा,' 'सुपारी का टुकड़ा भी नहीं लेना' चाय की आधी प्लेट भी नहीं पीना,' 'पानी के सिवाय कुछ भी नहीं लेना....' इत्यादि भी अनशन तप हुआ । इस तरह चीजों की संख्या का नियमन द्रव्य-संक्षेप तप हुआ । उसमें किनना लालच रोका, जिससे आत्मा के सत्त्व का विकास हुआ ।

मानव जीवन की सफलता का सत्त्व विकास में है, पशु की तरद लालचवश और विषय मग्न होकर सत्त्व के नाश करने में नहीं ।

लालच के मारे नियम विना का जीवन जीने में तो मनुष्य के देह में पशु हृदय का खेल ही होगा ।

**(४) रसत्याग तप :-**

दूध, दही, घी, तेल, गुड़-शक्कर, तली हुई चीजें, इन छः

विगईयों में से अमुक विगई का त्याग रखने से यह तप होता है । सुबह से निश्चित किया जाय कि आज दूधत्याग या दहीत्याग.... आदि । अथवा ऐसा निश्चित किया जाय कि 'आज तीन, चार या पाँच से अधिक विगईयों का सेवन नहीं करना....' 'वर्ष भर के लिये या जीवन भर अमुक विगई का सर्वथा त्याग' या 'रोज अमुक त्याग ऐसा नियम भी किया जा सकता है ।

### कुमारपाल महाराजा :-

१८ देश के सम्राट होने पर भी प्रतिज्ञा करते थे कि 'चातुर्मास में धी के सिवाय पाँच विगई का त्याग' । कैसा रसत्याग? लालच व सुखशीलता पर कितना नियंत्रण ? गणधर बनने का महापुण्य स्वकीय राज्यजनता की जिस सक्रिय कृष्णा पर उपार्जित किया होगा वह कृष्णा स्वात्मनियंत्रण विना एवं लालचों के पराधीन बनकर शक्य नहीं ।

### भरपूर आर्तध्यान से बचना है ?

यदि आर्तध्यान से बचना है, तो ऐसे टंक का नियम, एवं वृत्ति-संक्षेप या रसत्याग का नियम लेकर मन की लालच पर काबु रखो । यदि ऐसा कोई नियम ही नहीं रखा, लालचों के चारों दरवाजे और बारह खिड़कियाँ खुली रखीं तो इष्ट विषयों की जोरदार छूट के कारण भरपूर आर्तध्यान चलने की अनुकूलता रहेगी ।

### आर्तध्यान किसका होता है ?

इष्ट के संयोग का और अनिष्ट के वियोग का ही आर्तध्यान होता है न ? 'इष्टसंयोग' अर्थात् मनचाहा होता रहे, मन-

चाहा मिलता रहे,' ऐसा लालच ! इसी तरह 'अनिष्ट - वियोग अर्थात् अनचाहा टल जाये, अनचाहा पास न आये,' ऐसी इच्छा । अब यदि किसी त्याग का नियम ही नहीं है, प्रतिज्ञा ही नहीं है, तो लबका लालच रहेगा ही । इसी लालच से आर्तध्यान क्यों नहीं होगा ? यदि थोड़े बहुत त्याग की भी प्रतिज्ञा हो, जैसे कि- 'महीने में १०-१५ या २० दिन मिठाई का त्याग,' तो उतने समय तक तो उस चीज की अपेक्षा ही नहीं रहेगी, जिससे 'वह चीज मिले तो अच्छा' या 'वह चीज मिली तो अच्छा हुआ !' ऐसा आर्तध्यान नहीं होगा ।

### थोड़े-से त्याग में भी खूबी :-

खूबी तो इस बात की है कि थोड़ा-सा भी लालच रोक कर चाहे किसी थोड़े-से भी त्याग की प्रतिज्ञा क्यों न की हो, वह यही समझकर की है कि 'यह त्याग की हुई चीज-मिठाई आदि अच्छी तो नहीं ही है ! मेरी इतनी शक्ति नहीं है कि इनका पूर्ण त्याग कर सकूँ, इसलिये कुछ अंशों तक ही त्याग कर रहा हूँ, परन्तु वास्तव में तो ये चीजें आजीवन छोड़ने जैसी हैं ।' इस प्रकार मन में तो उस चीज के प्रति नफरत पैदा हुई । इसका लाभ यह है कि उसके त्याग के सिवाय के बाकी दिनों में भी उसे खराब मानने से उसका इतना लालच नहीं रहेगा, फलतः उसका इतना प्रबल आर्तध्यान भी नहीं चलेगा ।

### थोड़े से त्याग से भी पाप के प्रति नफरत :-

महीने में दो अष्टमी, दो चतुर्दशी, इन चार दिनों के लिये भी घी, दूध, दही, शक्कर का त्याग किया जाय, तो उसका

असर पूरे महीने पर पड़ेंगा। यह थोड़ा-सा त्याग भी यही समझकर किया है कि 'यह चीज बुरी है, इसलिये इसका जितना त्याग हुआ, उतना अच्छा, उतना मैं भाग्यशाली हूँ !' बाकी दिनों में खाते-खाते भी मन में यही भाव रहेगा कि 'यह चीज बुरी है, इसका सर्वथा त्याग करने की शक्ति मुझमें कब आयेगी ?' इस तरह इष्ट विषयों के प्रति जो नफरत पैदा होती है, यह बहुत बड़ी बात है, यह वीतरागता की बुनियाद है। यह नफरत आगे बढ़ते-बढ़ते काया एवं अहंत्व के प्रति भी अनासक्त भाव जागने से वीतराग बना जा सकता है।

मूल में पाप-वस्तुओं के प्रति नफरत की जरूरत है। यह आने के बाद तो त्याग कभी होना भी सरल है। यह नफरत थोड़ा भी लालच दबाकर थोड़ी-सी भी प्रतिज्ञा करने से आती है जिसे यह कुछ करने की इच्छा ही नहीं है, वह तो उल्टा मन में मानेगा कि 'चलो, अच्छी चीज मिली ! यह चीज जितनी ज्यादा मिले, उतने अधिक अपन भाग्यशाली हैं !' देखा ? एक उसके त्याग में सौभाग्य मानता है। तो दूसरा उसके भोग में सौभाग्य मानता है ! कितना अन्तर है दोनों में ?

## भोग में सौभाग्य ? या त्याग में ?

भोग में तो पुण्य की चटनी हो जाती है, जब कि त्याग में पुण्य की अभिवृद्धि होती है। कहिये, भाग्यवान कौन ? पुण्य को खत्म करने वाला ? या पुण्य की पेटी भरने वाला ?

सुरसुन्दरी का गणित मत रखियेगा, मयणासुन्दरी का गणित रखिये। सुरसुन्दरी से अब पिता ने पूछा कि 'पुण्य से क्या-



क्या मिलता है ?' तो उसने कहा—'पुण्य से धन-यौवन-चतुरता-स्वस्थ काया और मन पसन्द स्नेही मिलते हैं।' अर्थात् जिसे धन-यौवन आदि मिले जो इन्हें भोगे, वह पुण्यशाली। अर्थात् 'जो पुण्य को सफाचट कर दे, वह पुण्यशाली।' सुरसुन्दरी के गणित का यह फल है।

तब मयणासुन्दरी ने कहा—'जिसे विनय-विवेक, सुप्रसन्न-प्रशान्त मन, शील से शोभित देह और मोक्ष मार्ग का योग मिले, वह पुण्यशाली।' क्योंकि इन सबसे पुण्य की पेटी भरती है। 'जो पुण्य की पेटी भरे, वह पुण्यशाली,' यह मयणासुन्दरी का गणित था। इसी से भवान्तर में सलामती व मोक्ष की निकटता होती है।

नियम-प्रतिज्ञा करके द्वारा पर के लालच को जितना दवा-यगे, उतना ही पुण्य बढ़ेगा; व उससे आत्मा का सत्त्व खिलेगा, रसत्याग में यह बड़ा लाभ मिलता है। यह चौथे बाह्य तप की बात हुई।

### (५) कायकष्ट तप :-

धर्म के लिये और कर्मक्षय के लिये काया को जितना कष्ट देंगे, उतने ही कर्म खपेंगे। मन्दिर गये, सीधे ही प्रभु के आगे जाकर दर्शन करने के लिये खड़े रहने के बदले पहले प्रभु को तीन प्रदक्षिणा दीजिये, यह काय-कष्ट हुआ। लेकिन वहाँ यदि ऐसे सोचा कि 'कौन ये लंबी-लंबी प्रदक्षिणा घूमे ? चलो, सीधे दर्शन, स्तुति व नमस्कार ही कर ले।' ऐसा करके यदि प्रदक्षिणा टाली, तो उतना काय-कष्ट तप हाथ में होने पर भी गँवा दिया। प्रदक्षिणा फिरने में कितना समय लगता है या कौन से पाँव दुखने लग जाते

हैं ? वैसे तो किसी के साथ बातें करने में कितना समय व्यर्थ नहीं गँवाते ? इच्छा न होने पर भी शर्म के मारे बातें करने के लिए खड़ा रहना पड़ता है न ? वहाँ सुकोमल पांव नहीं दुखते ? यहाँ सिर्फ ३ प्रदक्षिणा देने के कष्ट से, परमात्मा के प्रति विनय बताने का अवसर आया, वहाँ काय कष्ट से घबराना ? समय का हिसाब गिनना ?

## मानव काया का क्या उपयोग ?

देवभक्ति, साधु-सेवा, संघ-सार्धमिक का वैयावश, धर्म के अनुष्ठान तथा जीवों की जयणा आदि में काया को जितना कष्ट दिया जाय, उतना ही तप होता है और इस तप से विपुल कर्मक्षय होता है। मानवदेह का दूसरा क्या सदुपयोग है ? एक दिन तो यह काया लकड़ी में जलने वाली है। इसमें से सार निकालो सत्त्व निकालो, उतनी ही कमाई होगी। भूलिये मत,—मानव काया से ही कर्मक्षय के लिये कष्ट सह-सहकर सर्वविरति चारित्र्य तक पहुँचना और उसका पालन करना शक्य है।

## दूसरी गति में क्यों शक्य नहीं ?

देवगति में तो भोग की ही लीला है। तियच के भव में (पशु पक्षी) विवेक ही नहीं है। नरक में पराधीनता से घोर दुःख सहने होते हैं। स्वाधीनता से स्वेच्छा से विवेक पूर्वक आत्म हित के लिए उग्र चरित्र तक के कष्ट मानवकाया से ही सहे जा सकते हैं। ऐसी महामूल्यवान काया को संसारी लालचों के लिये तो अपार कष्टों में डाली जाय और धर्म तथा आत्महित की बात आने पर एकदम सुकोमलता से रखी जाय, कष्टों से बचायी जाय, यह तो

अपने हाथों भाग्य फोड़ने की मूर्खता है, दीर्घातिदीर्घ काल के आत्म-विनाश के सृजन का धंधा है इसलिये काय कष्ट तप का आचरण विशेष रूप से करने जैसा है ।

(६) संलीनता तप :- यह अन्तिम छठा बाह्य तप है । संलीनता अर्थात् मन-वचन-काया को यथासंभव पाप से बचना, हलन-चलन बन्द रखना । जैसे कि बोलने का मौका आने पर मन में लगा कि 'बोलूँगा तो शायद झूठ या पापवचन बोलने का या किसी की निंदा करने का अवसर आएगा इसलिये मौन ही रखूँ या कम ही बोलूँ' । ऐसा सोचकर मौन रखा जाय, यह वाणी का संलीनता तप हुआ । अथवा जितना कम बोला जाय, यह उतना संलीनता तप हुआ । किसी वस्तु या किसी घटना पर क्रोध या लोभभरा विचार करते वक्त पाप के भय से यह विचार छोड़ दे या उस पर कुछ अशांति में नियंत्रण रखे, तो यह मन का संलीनता तप हुआ । इसी तरह-माला गिनने बैठे या व्याख्यान सुनने बैठे, वहाँ काया को एकदम स्थिर, एक ही आसन पर रखकर या ज्यादा न हिलाकर, हाथ-पांव आदि ज्यादा ऊँचे नीचे न किये, तो यह काया का संलीनता तप हुआ । चारों ओर आँखें घुमाने का काम बंद करे, वह भी कायसंलीनता इन्द्रिय संलीनता तप है । रात को जग पड़े और पाव आध घंटा कायोत्सर्ग में रहे तो यह भी मन-वचन-काया का संलीनता तप है ।

ऐसे बाह्य तप से भी कर्म क्षय बहुत होता है ! कर्म प्रतिक्रमण से और भोगने से क्षय पाते हैं । किन्तु आत्मा पर असंख्य जन्मों के थोकबंध कर्म लगे हुए हैं, उनका छुटकारा मात्र भोगने से नहीं, ऐसे तप की साधना से ही होगा । यह कर्मनाश तीसरी रीति हुई ।

## मोक्षार्थी को बाह्यतप का महत्त्व खाते रहने वाले रोगी जैसी जीवन दशा :-

अज्ञानी मूढ़ जीव पूर्व भवों के पापकर्मों के कारण कितनी प्रतिकूलतामें भोगता है ! मन में सोचा हुआ बहुत कुछ नहीं होता है। कई अनचाही आपत्तियां आ पड़ती है, वे भोगनी पड़ती हैं। फिर भी बेचारे जीव की दृष्टि उन कर्मों की ओर जाती ही यहीं, कर्मों का कोई विचार ही उसे नहीं आता। बहुत या अनुचित खाते रहने वाले उस रोगी को रोग घेरे रहते हैं, फिर भी वह सोचता ही नहीं कि 'इस खाने से ही मैं रोगी हूँ'। वह तो कहेगा-मेरा पुण्य ही अच्छा नहीं है, इसलिये शरीर अच्छा नहीं रहता।' अथवा कहेगा, 'आज के घी-दूध-अनाज आदि में कोई पोषक तत्त्व ही नहीं रहा, फिर शरीर कैसे अच्छा रहे?' कैसी अज्ञान दशा है ? उसे कौन कहे कि 'अरे भाई ! खाना कुछ कम कर दे, भारी पदार्थ खाना बन्द कर दे, फिर देख, तेरा शरीर अच्छा चलता है या नहीं ?' उसे कोई कह भी दे, तो भी वह कहाँ मानने वाला है ? बस, मूढ़ जीव की दशा भी कुछ ऐसी ही है। वह कर्मों से दुःखी होने पर भी कर्मों के सामने देखने के लिए तैयार नहीं है। गुरु समझायें, तो भी वह मानने के लिये तैयार नहीं होता। परन्तु भूलिएगा मत कर्मों के ढेर के सामने आँख-मिचौनी करने से कर्म अपना काम नहीं छोड़ देगा।

कर्म तो जीव को चारों ओर से घेर लेता है। एक बात की नहीं अनेक बातों की असुविधा तकलीफ कष्ट कौन पैदा करता है ? यही कर्म पैदा करता है। इसलिए कर्मों के सामने देखने की आवश्यकता है और आत्मा पर असंख्य जन्मों से लगे हुए कर्म तप

से उतारने की जरूरत है। ध्यान रखिये यह तप यहां हो सकता है। और कर्मनाश के लिए तप यह श्रेष्ठ उपाय है। पूछिये।

प्र०— तप से कर्म नाश पाते हैं, इसका प्रमाण क्या है ?

उ०— तप की विरुद्ध दशा में चलने से कर्म उपार्जित हुए हैं, तो सहज है कि तप से उनका नाश होता है। उदाहरण के लिए खाने की भूल से बुखार आया, तो वह खाना बन्द करने से उतर जाता है न ? उसी प्रकार 'खाऊँ-खाऊँ' की संज्ञा से कर्म इकट्ठे हुए, तो वे अब अनशन-वृत्ति-संक्षेप आदि तप से ही नाश पायेंगे यह स्वभाविक ही है। बाकी तो देखिये कि जीव इस संसार से छूटकर मोक्ष को कैसे पा सके ?

### महावीर प्रभु का तप :-

भगवान महावीर स्वामी जैसों ने भी कितना घोर तप किया ? प्रभु के साढ़े बारह वर्ष के साधना काल में उपवास कितने ? और खाने के दिन कितने ? पारणे के यानि खाने के दिन सिर्फ 349, यानि एक वर्ष जितने भी दिन नहीं ! तो उपवास ? साढ़े ग्यारह वर्ष से भी अधिक हुए न ? प्रभु ने 6-6 महीने तक लगातार उपवास भी किए। साढ़े बारह वर्ष में से साढ़े ग्यारह वर्ष अनशन ! यानी कितना तप ?

इतने उपवास में सम्पूर्ण अनोदरी, सम्पूर्ण वृत्ति संक्षेप और सम्पूर्ण रस त्याग तो हो ही गया न ?

महावीर प्रभु ने कायकष्ट-कायक्लेश कितना सहन किया ? 6-6 मास के सतत उपवास होने पर भी नियत क्रम के अनुसार विहार चालु ही रखा। उसमें भी क्षुधा परीषह, तृषा परीषद, शीत

उडण परिषह आदि परिषहों के कष्ट साढ़े बारह वर्षों तक चालु ही रहे । दुष्ट देवता, अनाड़ी मनुष्य अज्ञानी कुत्तों, हिंसक-तापसी पशुओं के भयंकर उपसर्ग-उपद्रवों के घोर कष्टों का भी प्रभु ने स्वागत किया !

प्रभु ने संलीनता-तप कैसा किया ? कवि कहते हैं, —

“साडा बार वरस जिन उत्तम वीरजी भूमि न ठाया हो !”

चाहे दिन हो या रात, साढ़े बारह वर्ष तक वीर प्रभु जमीन पर पालथी मारकर बैठे भी नहीं फिर सोने की तो बात ही कहां ? सिर्फ दिन के तीसरे पहर में आहार-विहार-नीहार के सिवाय दिन-रात भगवान काउस्सग मुद्रा में ही रहते, ध्यान में खड़े रहते ! बहुत थकान महसूस होने पर कुछ समय के लिये गोदाहिका आसन में बैठते लेकिन स्थिर ध्यान में ही रहते । विचार कीजिये कि मन-वचन-काया की कैसी संलीनता होगी ? किस अद्भुत तरीके से उन तीनों को संगोपन किया होगा !

यदि बाह्य तप निरर्थक होता तो प्रभु वह करते ही क्यों ? या तप से यदि सिर्फ पुण्य और स्वर्गीय सुख-समृद्धि ही मिलती होती, हो प्रभु उसकी चाहना तो थी नहीं फिर वे तप क्यों करते ? प्रभु को सर्व कर्मों का क्षय करके स्वात्मा को पूर्णतः निर्मल व मुक्त करना था ; और यह काम तप से ही सिद्ध है, इसीलिये उन्होंने इतना भगीरथ तप किया ! उसमें भी ध्यान आदि आभ्यन्तर तप के साथ उपवासादि बाह्य तप इसलिये किया कि

**बाह्य तप से आभ्यन्तर तप को पुष्टि मिलती है ।**

प्र०— क्या संयम-सामायिक-चारित्र से कर्म नाश नहीं हो पाते ?



उ०— कर्म नाश पाते हैं, परन्तु वह तो इनमें रहे हुए निर्जरा तत्त्व यानि बाह्य व आध्यन्तर तप के अंश के कारण नाश पाते हैं ! वैसे तो चरित्र मुख्य रूप से संवर तत्त्व है उसमें कर्म के आने के द्वार बन्द हो जाते हैं । 'संवर' पानी आश्रव-निरोध, अर्थात् कर्म-बन्ध के हेतुओं पर रोक, इससे नये कर्म बंधने से रुकते हैं । लेकिन आत्मा पर चिपक कर रहे हुए पुराने कर्मों का क्या ? भोग-भोग कर उन्हें निकालने में तो पार नहीं आयेगा । असंख्य काल के कर्म इस छोटे-से जन्म में सिर्फ भोगने से कैसे खत्म होंगे ?

**कर्मों का विशेष निकाल तो तप से ही होता है ।**

इसीलिये शास्त्र ने अहिंसा-संयम-तप, ऐसा तीन प्रकार से धर्म कहा है 'धम्मो मंगलमुक्खि अहिंसा संजमो - तवो ।' सिर्फ अहिंसा और संयम, ऐसा दो प्रकार का धर्म नहीं कहा, उसके साथ तप भी कहा जीवन में तप चाहिये ही । यहां एक प्रश्न होता है,

प्र०— अहिंसा अलग क्यों बतायी ? क्या संयम में अहिंसा नहीं समा जाती ?

उ०— संयम में अहिंसा का समावेश तो हो ही जाता है, लेकिन अहिंसा को प्रधानता बताने के लिये उसे अलग से कहा गया है । सारा संयम अहिंसा के उद्देश्य से ही है, अहिंसा के लिये ही है । यदि अहिंसा का पालन न हो तो सत्य भी संयम नहीं और ब्रह्मचर्य भी संयम नहीं । सच तो बोले लेकिन वह वचन यदि जीव घात में निमित्त बनता हो तो वह संयम कैसा ? शरीर में रोग हैं, डाक्टर-वैद्य कहते हैं कि दो वर्ष ब्रह्मचर्य पालो, तो रोग जाएगा, सशक्त बनोगे और अच्छी तरह से जी सकोगे, संसार के सुख भोग सकोगे।'

इस कारण से ब्रह्मचर्य का पालन करे, तो वह संयम धर्म कैसा ? अच्छी तरह से संसार के सुख भोगना इसका अर्थ क्या है ? यही कि हिंसा-आरंभ-समारंभ अच्छी तरह से चलाते रहना । अब उसके लिये ब्रह्मचर्य का पालन किया जाय, यह संयम, धर्म' कैसे कहा जाएगा ? इसी तरह बाहर में अच्छे दिन दिखने के लिये, एवं अच्छा स्वागतसन्मान पाने के लिये इन्द्रिय निग्रह करे तो वह संयम 'धर्म' कैसा ? उसमें तो हिंसा को पोषण मिलेगा । इसीलिये कहा है कि संयम धर्म अहिंसा का पोषक होना चाहिये ।

धर्म 3 प्रकार का है — अहिंसा, संयम और तप । इसमें अहिंसा व संयम के साथ तप को भी खास स्थान दिया गया है, वह इसी कारण से कि अहिंसा-संयम से नये कर्म आने रुक जाते हैं, इसी तरह तप से पुराने ढेर-सारे कर्म नष्ट होते हैं । आप ही कहिये आपके जीवन में तप को कितना महत्त्व दिया जाता है ?

आप साधु हैं, तो कहेंगे—“हम आभ्यन्तर तप- ‘स्वाध्याय’ करते हैं न ? और शास्त्र भी कहते हैं कि “स्वाध्याय जैसा कोई तप हुआ नहीं है, होगा भी नहीं स्वाध्याय यह आभ्यन्तर तप है व आभ्यन्तर तप बाह्य तप से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है ।”

परन्तु इतना ही देखिये न कि क्या प्रभु महावीर को सिर्फ स्वाध्याय करना और खा-पीकर ध्यान धरना नहीं आता था ? उन्होंने किसलिये साढ़े ग्यारह वर्ष जितने समय तक अनशन-वृत्ति संसेप रसत्याग किया ? घोर परोपद के कष्ट क्यों स्वकीय इच्छा से सहे ? सतत कई घंटों तक खड़े खड़े कायोत्सर्ग में रहे ? क्यों उतनी त्रिविध संलीनता की ? भूलिएगा नहीं, स्वाध्याय की ओट में यह सब तप एक ओर रखकर आरामी जीवन जोयेंगे, तो आप ठगे जायेंगे ।

सुकोमलता (आराम-तलवी) से कर्म छूटने के बदले कर्मों के भुँड आपको घेरते जायेंगे। कर्म को शर्म नहीं है। एक भी दरवाजा खुला रहा तो ये कर्म अन्दर घुस जायेंगे। 'अनशन' आदि न करके छूट से खाना जारी ही रखा, द्रव्य संक्षेप और रस त्याग के बदले जितने द्रव्य मिले उतने खाना और विगईयां की मजा उड़ाने का जारी रखा, प्रतिक्रमण आदि बैठे-बैठे करके काय कष्ट से कतराते रहे, वात चीत छूट से करके आराम से बैठकर के वचन काया की संलीनता से दूर भागते रहे, तो भारी कर्मों के आने के ये द्वार है इनसे आत्मा में भारी कर्म आए बिना नहीं रहेंगे। देखिए.

अकेले स्वाध्याय में कौन से आश्रव खुले रहते हैं ?

**इन्द्रियों की अविरति बाह्य तप से विराम पाती है ।**

अलवत्ता स्वाध्याय तप है, निर्जना तत्व है, इससे कर्म क्षय होगा, परन्तु अकेले स्वाध्याय में खाने की छूट, रस की छूट, आराम, वातचीत, धर्मकष्ट-परीषह सहने के बदले नाजुकता....आदि आश्रव द्वार खुले हैं। इससे तो भरपूर कर्म बंधेंगे ! भूलिए मत शा त्रों ने जैसे हिंसादी की अविरति कही है, उसी तरह इन्द्रियों की भी अविरति कही है।

घाह्य तप छोड़कर आरामतलवी-सुखशीलता आदि भोगना यह सब इन्द्रियों की अविरति है। इससे ढेर सारे कर्म व पापानुबन्धों (अशुभ अनुबन्धों) की कमाई होती है, उनसे कैसे वचा जायेगा ? अकेला स्वाध्याय उन्हें रोक नहीं सकता और सिर्फ स्वाध्याय बंधे हुए पाप कर्म और अशुभ अनुबन्धों का नाश नहीं कर सकता, इसीलिये सिर्फ उसके भरोसे मत रहिये।

भगवान जैसों को तो स्वाध्याय-तत्त्वचिन्तन हमारी अपेक्षा

तो बहुत जबरदस्त चला ! फिर भी बाह्य तप की जरूरत उन्हें भी पड़ी । क्यों ? इसीलिए कि बाह्य-आभ्यन्तर तप से पुराने कर्मों को तो हटाना ही है, परन्तु

नये कर्म आने पाये, इसके लिये भी बाह्य तप के द्वारा मन-वचन-काया के अशुभ योग करे और इन्द्रियों की अविरति को रोकने की जरूरत है ।

बाह्य तप से अशुभ योगरूप आश्रव और इन्द्रिय-अविरति रूप आश्रव रोके जा सकते हैं ।

बाह्य तप के द्वारा आहारादि संज्ञाओं को कुचला जा सकता है । इससे बाद में इन संज्ञाओं से होने वाले दुष्कृत्यों को भी तिलांजलि मिल जाती है ।

आत्मा पर पाप कर्म चिपकने से रोकने के लिये यहां दो कार्य करने हैं,—

(1) पाप-प्रवृत्तियां बन्द करनी हैं इन्द्रियों की अविरति (छूट) का पोषण करने वाली प्रवृत्ति का प्रतिज्ञा पूर्वक त्याग करना है, जिससे नये कर्म आने से रुकेंगे ।

(2) ये पाप प्रवृत्तियां भविष्य में भी न उठे, इसके लिये उनकी मूलरूप आहार संज्ञा विषय संज्ञा आदि संज्ञाओं को कुचल डालना, जिससे भावी पाप रुक जायेंगे ।

भगवान ने बाह्य तप से ये दोनों कार्य सिद्ध किये, इसीलिये वीतराग सर्वज्ञ बने ।

इसलिये यह याद रखिये कि :—

बाह्य तप सिर्फ निर्जरा यानी कर्म के क्षय के लिये ही नहीं है, किन्तु 'संवर' यानी कर्मों को ले आने वाले आश्रव जैसे कि —

इन्द्रिय की आसक्ति, हिंसादी की अविरति, शरीर-ममत्व और आहार-ममत्व रूपी कषाय तथा अशुभ मन-वचन-काययोग इन आश्रवों को रोकने के लिए भी है।

**बाह्य तप से आश्रव कैसे रोके जाते हैं ?**

आश्रव 5 हैं- (1) इन्द्रिय, (2) कषाय, (3) अव्रत (4) योग, (5) क्रियायें।

(1) इन्द्रियों को उनके विषयों में लुब्ध बनने की जितनी छूट दी जाय, वह आश्रव ही है। वृत्ति संक्षेप और रस त्याग से उसमें कटौती आती है। यदि यह तप नहीं किया जाय, तो इसका अर्थ है कि हमें इन्द्रियों को स्वतंत्र रखना है। (2) 'कषाय' अर्थात् राग-द्वेष आदि होना। 'अनशन' यानी उपवास एकाशन आदि तप, रात के लिये चौविहार आदि पचचक्खाण और दिन में भी खान-पान के लिये इतनी ही बार खाय, ऐसा नियम इन सबसे खाने के प्रति जो राग है, वह अंकुश में आता है। यदि यह न हो तो इसका मतलब है कि राग, का बोलबाला है। इसी तरह 'धर्म के लिए काय कष्ट' सहने से काया के प्रति राग-कषाय कुछ कम होता है। यदि इस कायकष्ट से दूर भागते हो, तो इसका अर्थ यह है कि राग कषाय का जोर है। 'संलीनता' से मन-वचन-काया के अशुभ योग दब जाते हैं। यदि संलीनता न हो, तो ये अशुभ योग चलते रहेंगे। इस प्रकार बाह्य तप इन आश्रवों को रोकते हैं, इससे नए कर्म बंधने से विराम पाते हैं और संज्ञायें-वासनायें अवश्य कमजोर होती जाती हैं। जो जीवन में बाह्य तप नहीं करता और स्वाध्याय-ध्यान जाप ही करता है, उसके आश्रव कहाँ से रुकेंगे 2 इन्द्रिय अविरति कैसे छूटेगी ? यहां दो प्रश्न उठते हैं :-

(१) बाह्य तप संवर कैसे ?

(२) स्वाध्याय में भाव आश्रव कैसे रुकता है ?

प्र० यदि बाह्य तप से आश्रव रुकता है, तो उसे निर्जरा तत्त्व में क्यों गिना ? संवर में क्यों नहीं गिना ? आश्रव-निरोध ही तो संवर है ।

उ० तप को संवर तत्त्व में भी गिना ही है । देखिये, संवर में क्षमा आदि 10 प्रकार का यतिधर्म आता है, उसमें तपका भी समावेश है ।

‘खंति मद्द्व अज्जव, मुत्ती तव संजमे अ बोधव्यो ....इसमें ‘तव’ यानी तप लिया गया है । यानी बाह्य तप संवर भी है ही । यहां बाह्य तप को उड़ा देने वाले कहते हैं-

प्र० स्वाध्याय आदि से भाव-आश्रव तो रुकता ही है न 1 तो फिर बाह्य तप न करने से द्रव्य-आश्रव न रोका जाय, तो क्या हर्ज है ?

उ० भाव आश्रव आत्मा का परिणाम रूप है, उसे स्वाध्याय-जाप-ध्यान से रोका जा सकता है, परन्तु वह बाह्य तप के सहारे ही रोका जाता है । यदि बाह्य तप न हो तो इन्द्रियों की अविरति खुली है, आहार ममत्त्व कायमत्व आदि लोभ कषाय खुले हैं और संलीनता के अभाव में प्रमाद खुला है । ये अविरति, कषाय और प्रमाद आत्मा के परिणाम रूप भाव आश्रव ही हैं, इसीलिए तो भाव आश्रव खुले रहे, बन्द कहाँ रहे ? फिर अकेले स्वाध्याय-ध्यान से संतोष कैसे मान लिया जाय ? आता हुआ कर्मप्रवाह कैसे रुकेगा ?



## बाह्य तप न हो, तो किसका जोर चलेगा ?

बाह्य तप की उपेक्षा करने से आप छूट नहीं सकेंगे । सोचना तो यह है कि यदि बाह्य तप की परवाह नहीं हैं, तो स्वाध्याय - ध्यान - जाप कैसे जोरदार हो सकेंगे ? क्योंकि बाह्य तप न हो तो

(1) खानपान की, इष्ट द्रव्यों की और मन पसन्द रसों की वृत्तियाँ जगती रहेंगी ।

(2) काया की सुख शीलता आराम तलवी और कष्ट में से भागने की वृत्ति बनी रहेगी ।

(3) उसके बारे में किए गए विचार मन को को चंचल बनाते रहेंगे । वहाँ पर माना हुआ स्वाध्याय या जाप-ध्यान कैसे अच्छी तरह से चलेगा ?

छहों प्रकार के बाह्य तप के चालु अभ्यास से इन्द्रियों को एवं मन को शान्त किया हो, व आत्मा को नियन्त्रित किया हो, तभी स्वस्थ मन, स्वस्थ आत्मा स्वाध्याय-जाप-ध्यान में निश्चल और तन्मय हो सकता है ।

### बाह्य तप की निन्दा करने वालों से प्रश्न :-

इसीलिये बाह्य तप बहुत ही जरूरी है । इसीलिए बाह्य तप को पशु के जैसा काय कष्ट कह कर जो लोग निन्दा करते हैं और निरूपयोगी कहते हैं उनसे एक सवाल है कि यदि तुम वास्तव में आत्मतत्त्व का चिन्तन और ध्यान की आकांक्षा रखते हो तो आत्मा तो मूल-स्वरूप से रागादि से रहित है । उसे

अच्छे-बुरे, कड़वे-मीठे, कोमल-खुरदरे-किसी विषय की परवाह नहीं होती, तो फिर तुम (1) दूध और पूरी ही क्यों लेते हो, कड़ुवा करियाता और पूरी क्यों नहीं लेते ? (2) गाड़ी में ही क्यों घूमते हो ? पाँवों से चलकर क्यों प्रवास नहीं करते ? (3) आलीशान इमारत में ही क्यों रहते हो ? भोंपड़ी जैसे मकान में क्यों नहीं रहते या शिला पर ही क्यों नहीं बैठे रहते ? तुम्हारे ऐसे ढेर-सारे एक पक्षीय व्यवहार तुम्हारे राग को सूचित करते हैं । यह हटे बिना आत्मा कैसे शुद्ध होगी ? राग को मिटाना हो तो राग कराने वाले इन बाह्य इष्ट व विषयों में कटौती लिए बिना कैसे चलेगा ? और यह तो बाह्य तप से ही संभव है । नहीं तो अनिष्ट विषय छोड़कर मन इष्ट की ओर जाता है, इन्दियाँ इष्ट विषयों की तरफ जाती हैं, काया भी इष्ट लेने के लिए ही जाती है । इष्ट के राग और अनिष्ट के द्वेष के कारण ही ऐसा होता है, यह तो समझ रखना होगा ।

### बाह्य तप के अभाव में आर्तध्यान :-

आर्तध्यान का जन्म स्थान राग-द्वेष है, इस बात पर तो विचार हो चुका है । चाहे निश्चय-नय को पकड़कर रखा हो, एवं आत्मा चिन्तन आत्मलक्ष्य रखने को ही महत्त्व दिया हो, फिर भी यदि बाह्य तप नहीं है, भोजन कितनी बार करना इस का कोई नियम नहीं है, रस त्याग नहीं है, द्रव्य संकोच, वृत्ति संक्षेप नहीं है और धर्म क्रिया के कष्ट नहीं सहने हैं, तो फिर सुखशीलता से इष्ट - अनिष्ट के राग - द्वेष से कैसे बचेंगे ? वे तो होंगे ही और उनसे आर्तध्यान होता ही रहेगा ।

बाह्य तप न होने पर भी कम से कम बाह्य तप को महत्त्व देने से ही आर्तध्यान से बचा जा सकता है ।

जो श्रद्धालु भवी जीव इन बाह्य तपों को कर्तव्य मानता है और इन्हे करना अति आवश्यक समझता है, किन्तु कर नहीं पाता और उनका स्वयं आचरण न कर सकने पर खेद का अनुभव करता है, वह तो देखा करेगा कि “यहाँ पर मेरा राग काम कर रहा है, यहाँ द्वेष खड़ा है, और ये दोनों - राग - द्वेष ही संसार के मूलभूत कारण हैं, भव वर्धक हैं, चारों गतियों में भटकाने वाले हैं। इसीलिये इन राग - द्वेषों का पोषण करने वाले आर्तध्यान मुझे नहीं करने हैं। आर्तध्यान क्यों करूँ ? उनसे कोई फायदा नहीं मनचाही वस्तु आर्तध्यान से मिल नहीं जाती, और चाहे जितनी नापसन्द चीज आर्तध्यान से टल नहीं जाती या आने से रुकती नहीं। यही। यह सब कुछ तो कुछ पुरुषार्थ के अधीन है और मुख्यतया तो भाग्य के अधीन है ! फिर बीच में व्यर्थ ही आर्तध्यान को क्यों डालूँ ? फिर भी यदि आर्तध्यान हो ही जाता है, तो यह मेरी इष्ट की गुलामी के कारण है। इसलिये उसका यथाशक्य त्याग करूँ ! ऐसा लक्ष्य रहने से आर्तध्यान से बचने का प्रयत्न रहेगा।

## ढोंगी अध्यात्मी कहाँ भूल करता है ?

जिसे बाह्य तप उपयोगी ही नहीं लगता है, और सिर्फ निश्चय की व आत्म स्वरूप के लक्ष्य की जिसे बड़ी बात ही करना है, ऐसे ढोंगी अध्यात्मी को इष्ट से बचने का प्रयत्न ही कहाँ से होगा ? अरे ! इसका लक्ष्य भी कहाँ से होगा ? वह तो मानता ही नहीं कि (1) ये उपवासादि तप करने ही चाहिये, (2) ये द्रव्य-संकोच के और (3) शक्य रस-त्याग के नियम रखने ही चाहिये, (5) इतने समय तक मौन, पापकारी वचन बोलने का इतना - त्याग, पाप की कार्यात्मक क्रिया का इतना त्याग,....आदि

से संलीनता करनी हो चाहिये,"- यह सब अगर जरूरी ही नहीं मानता, हो और आचरण भी नहीं करता हो, तो इनसे विरुद्ध वारवार अशन निःसंकोच द्रव्योपभोग, रस पूर्ण आहार, सुख शीलता आदि का यथेच्छ सेवन करने में उसे खेद भी कहाँ से होगा ? वहाँ राग - द्वेष और आर्तध्यान तो लगे ही रहेंगे, उनकी बोलवाला ही होगी ।

### बकरे को कुत्ता मानने की मूढ़ता :-

एकान्त निश्चयवादी को मूढ़ता के कारण रागादि का भान भान भी नहीं रहता ? उन रागादि चोरी का उसे पता ही नहीं चलता ! तीन ठगों से ठगे हुए उस ब्राह्मण की तरह वह ब्राह्म तप रूपी बकरे को नुकसान करने वाला कुत्ता मानकर छोड़ दी देगा ! और जालिम, काट खाने वाले कुत्ते के जैसे यथेच्छ खान-पान-रस मौज आदि से चिपका रहेगा ।

कहने का सारांश यह है कि आर्तध्यान और उसे कराने वाले राग-द्वेष से कुछ बचना हो, तो विविध बाह्य-तप-नियम-कष्ट अत्यन्त आवश्यक हैं । इनके बिना अकेले स्वाध्याय-जाप-ध्यान के भरोसे रहने पर रागादि चोर इसी तरह फलते-फूलते रहेंगे और वे अपना कटु फल दिखायेंगे ।

देखिये, आचार्य मंगु महान प्रभावक आचार्य थे संयमी थे, अनेकों पर भारी उपकार करने वाले थे, लेकिन वृत्ति-संक्षेप और रस-त्याग चूक गये, तो चोर जीम और चोर विषय अपना असर दिखा गये । परिणाम क्या हुआ ? मरकर ऊँचे वैमानिक देवलोक में जाने के योग्य ऐसे महान धर्माचार्य हल्की यक्ष योनि में गये । यहां सवाल उठता है -

प्र० चारित्र्य-धर्म प्रभावना, परोपकार आदि सुकृतों ने उन्हें क्यों नहीं बचाया ?

उ० यहां एक महान तत्त्व ध्यान में लीजिये कि—

**सुकृत से दुष्कृत्य के कटु फल रद्द नहीं होते हैं ।**

जैनशासन बताता है कि बड़े धर्म का आचरण करो, लेकिन यदि उसके साथ छोटे-से दुष्कृत्य का आचरण कर दिया हो तो उस सुकृत से इसका पाप माफ नहीं होता है, दुष्कृत का कटु फल रद्द नहीं होता है ।

**सुकृत से दुष्कृत्य का बचाव नहीं मिलता :—**

आप सुकृत करते हैं, तो उसका इनाम ले लीजियेगा, लेकिन साथ में दुष्कृत्य भी करते हैं, तो उसकी सजा भी लेनी ही होगी । एक व्यक्ति दान बहुत देता हो, लेकिन याचक का तिरस्कार करता हो, तो उस दान से इस तिरस्कार का पाप माफ नहीं होता है । दान के फल के रूप में वैभवादि मिलेंगे, परन्तु साथ में धृत्कारने के फल के रूप में जो अपयश, दुर्भाग्य अनादेय नाम कर्म आदि कर्म बंधेंगे ही, इन बंधे हुए कर्मों से अपकीर्ति दौर्भाग्य-अनादेयता आदि फल भी मिलेंगे ही ।

‘दौर्भाग्य’—यानी ऐसी वदनसीबी कि स्वयं दूसरों की सेवा करता हो फिर भी उसका पास में आना किसी को अच्छा नहीं लगता ।

‘अनादेयता’ अर्थात् स्वयं का युक्ति युक्त वचन भी दूसरों को मान्य नहीं होता । दूसरे उसकी बात जल्दी से स्वीकार नहीं करते ।

यह कैसी बदनसीबी ! एक तरह ऋद्धि-समृद्धि हो लेकिन दूसरी तरफ ऐसी दौर्भाग्य व अनादेयता की स्थिति होती है । ऐसा क्यों ? कारण यही है कि पूर्व में अच्छे सुकृत तो किये जिनके फल स्वरूप यहां ऋद्धि-समृद्धि मिली, किन्तु पूर्व में अभिमान से किसी का तिरस्कार-अपमान या दूसरा दुष्कृत्य किया है, उसके कारण यहां पर दौर्भाग्य अनादेयात भी साथ में आया । अरे ! शायद तिर्यच का अवतार भी मिल जाये !

**जिन प्रतिमा भराने का सुकृत करने पर भी सेठ घोड़ा क्यों बना ?**

भगवान मुनिसुव्रतस्वामी ने जिस घोड़े के लिये दूर से भरूच में पधारकर उसे प्रतिबोधित किया था, वह पूर्व भव में क्या था ? वह पूर्व भव में जैनेतर व्यापारी था, व जैनमित्र के अनुरोध से साधु के प्रवचन सुनते एक बार सुना था कि जिन प्रतिमा भराने से अलग जन्म में भी जैन धर्म अवश्य मिलता है व घर जाकर उसने विधि-पूर्वक जिन प्रतिमा भरायी और ठाठ-पूर्वक उसकी अंजन अलाका प्रतिष्ठा विधि कराने का महान सुकृत किया एक तरफ तो यह सुकृत किया और दूसरी तरफ व्यापार का पापो में डुबा रहा तो क्या सुकृत से उसके पाप रद हो गये ? नहीं । उन पापों ने तो उसे घोड़े का अवतार दिलाया । सुकृत किए थे इसीलिये पुज्य बल से राजा के खास घोड़े के रूप में मान लिया, लेकिन इससे क्या ? अवतार तो पशु का ही था न ? इसीलिये तो जिनप्रतिमा-निर्माण जैसे बड़े सुकृत से भी उसके पाप व्यापार के दुष्कृत के पाप रद नहीं हुए ।

सुकृत-दुष्कृत्य दोनों किये जायें, तो सुकृत से दुष्कृत्य माफ नहीं होते ।



धर्म और पाप दोनों करें, तो धर्म से पाप रद्द नहीं होगा सिवाय कि पाप के प्रायश्चित्त—रूप धर्म किया जाय ।

इसीलिये जिनेश्वर भगवंत ने सर्व पाप के त्याग पूर्व के धर्म को ही मुख्य कर्तव्य कहा है ।

### प्रतिक्रमण से पाप की छूट नहीं :-

प्र० प्रतिक्रमण धर्म से पाप नाश होता है न ?

उ० इसका अर्थ यह नहीं है कि 'तुम', चाहे जितने पाप करो, उनकी छूट है और बाद में प्रतिक्रमण करेंगे, तो पाप नष्ट हो जायेंगे ।

जैन शासन पाप की छूट नहीं देता । 'पाप करने में कोई हर्ज नहीं ऐसा जिन शासन नहीं कहता ! वह तो पाप को त्याज्य कहता है ! नव तत्त्व में पाप तत्त्व, आश्रव (पापजनक) तत्त्व और बंध (पाप कर्म सम्बन्ध) तत्त्व को हेय यानी त्याज्य तत्त्व ही कहा गया है । यानी पाप का तो आचरण ही नहीं करना चाहिये । इसलिए तो कहा गया है —

‘ प्रथम पदे पडिक्कमणुं भाख्युं,

पापतणुं अण-करवुं,

‘ प्रथम पद ’ यानी उत्सर्ग-मार्ग और और ‘ द्वितीय पद ’ यानी अपवाद-मार्ग ।

उत्सर्ग-मार्ग में पाप त्याग, यही प्रतिक्रमण है ।

अपवाद मार्ग में पाप पश्चात्ताप, पाप आलोचन (गुरु को

निवेदन) और पाप का 'मिच्छामि दुक्कड' प्रतिक्रमण हैं ।

आप पूछेंगे —

## प्रतिक्रमण से पाप कहां रद्द हुए ?

प्र० प्रतिक्रमण—धर्म से यदि पाप नाश होता हैं तो धर्म से पाप रद्द तो हुए न ?

उ० उससे तो पूर्व के अमुक पाप ही रद्द होते हैं, परन्तु प्रतिक्रमण धर्म के उपरान्त तप अवधि से नष्ट होने लायक पाप कर्म रद्द नहीं होते । अलवत्त प्रतिक्रमण से सूक्ष्म दोष रद्द होते हैं, परन्तु जो दोष गुरु के आगे कहकर उसका तप आदि प्रायश्चित्त लेने जैसे हों, वे अकेले प्रतिक्रमण से नाश नहीं पाते । पाप छोड़ने की ताकत होने पर भी पाप करते ही चले जायें, तो वे पाप सिर्फ प्रतिक्रमण से या प्रायश्चित्त से नहीं मिटते ।

प्रतिक्रमण—प्रायश्चित्त से सब पाप नष्ट हो जाते हों, तो पापत्याग की आवश्यकता ही क्या है ? विषय सेवन के पाप जीवन-भर करते जायें, और उसका प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त करते जायें, इसमें हर्ज ही क्या है ? अरे ! अकेला यह पाप ही क्यों, गृहवास के सब पापों का सेवन करते जायें, बाद में प्रतिक्रमण—प्रायश्चित्त से वे पाप मिट जाते हों, तो पापत्याग की आवश्यकता ही क्या है ? गृहवास छोड़कर सर्व पाप त्याग पूर्वक साधु दीक्षा लेने का भी क्या काम ऐसे ही घर बंठे-बैठे प्रतिक्रमण करने से पाप मिट जायें ! और मोक्ष मिल जाय ! लेकिन ऐसा होता नहीं, चारित्र्य से सर्व पाप त्याग किए बिना मोक्ष होता ही नहीं । इससे सूचित होता है कि प्रतिक्रमण धर्म करते जायें और साथ में पापों का आचरण भी करते जायें, तो ऐसे धर्म से सब पाप मिटने वाले नहीं है । दिनभर

व रातभर में कई क्रायिक-वाचिक पापों के उपरान्त उतने मानसिक विचार आदि के पाप होते रहे हैं जिन प्रत्येक का हम गुरु समक्ष आलोचना नहीं कर पाएँ, तब ऐसा मत कहियेगा कि,

प्र० तो फिर प्रतिक्रमण-प्रायश्चित्त का क्या उपयोग ?

उ० प्रतिक्रमण का उपयोग यह है कि पापों का सेवन हो गया हो,

उससे बंधे हुए कर्मों में से कुछ का नाश प्रतिक्रमण से होता है। लेकिन वापिस ऐसे मानते रहे कि पाप करने में कोई हर्ज नहीं, प्रतिक्रमण — प्रायश्चित्त से उनका नाश हो जायेगा तो ऐसी धोठाई आ जाने से उतना भी पापानुबन्धों का नाश व पापनाश-कर्मनाश नहीं होगा, इसीलिये सच्चा प्रतिक्रमण ही नहीं होगा, वहाँ तो मिथ्यात्व ही लग जायेगा।

प्रतिक्रमण के बाद पाप सेवन में हर्ष न माने, तो मिथ्यात्व मिथ्यात्व क्या है ? द्वेष (त्याज्य) तत्त्व को उपादेय माने या उपादेय को द्वेष माने, यह मिथ्यात्व ! अर्थात् पाप मात्र छोड़ने जैसे ही हैं, परन्तु यदि 'पाप का आचरण करने में हर्ज नहीं है', ऐसा माना जाय, तो इसका अर्थ तो यह हुआ कि 'पाप खुशी से किये जा सकते हैं। ऐसा माना, यानी पाप को त्याज्य नहीं माना ऐसा मिथ्यात्व जहाँ बैठा हो, वहाँ फिर लाख प्रतिक्रमण करे या प्रायश्चित्त ले, तो भी पाप नाश नहीं पायेगा। मिथ्यात्व की उपस्थिति में अभी के अनन्त बार के चारित्र निष्फल जाते हैं !

प्रतिक्रमण-प्रायश्चित्त से पापनाश होने के लिये सम्यक्त्व तो पहले चाहिये।

‘दानादिक किरिया नवि दीए, समकित विण शिवशर्म’ ।

सम्यक्त्व के बिना सब दानादि धर्मक्रियायें मोक्ष सुख नहीं दे सकती, तो फिर प्रतिक्रमण-प्रायश्चित्त क्रिया भी सम्यक्त्व के बिना कैसे कर्मनाश करके मोक्ष दिला सकती है !

‘सम्यक्त्व’ अर्थात् सर्वभू भगवान ने जिस तत्त्व को जैसे स्वरूप का बताया है, उसे उसी रूप में स्वीकार कर उसकी तरफ उसके स्वरूप के अनुरूप (योग्य, रूख रखना !’ उदाहरण के लिये ज्ञानियों ने पाप को त्याज्य स्वरूप का बताया गया है, तो उसे त्याज्य रूप में स्वीकारना और पाप के प्रति उस स्वरूप के अनुरूप (योग्य) मानसिक रूख रखना, अरुचि-अब व भय का रूख रखना, रूख यानी मन का भुकाव ! उस पाप के प्रति मन में भय का रूख ही, ग्लानि का भाव हो, अब का भाव हो तो फिर उसका बस चले तो पाप को पूरी तरह से छोड़ ही दे, यहां तक-कि सर्वपापत्याग तक चड जाय । न चले वहां यद्यपि पाप करना ही पड़ता हो, फिर भी हृदय में उसका रंज होता है !

उस समय यदि मन ऐसा माने कि ‘पाप करने में कोई हर्ज नहीं, प्रतिक्रमण धर्म से पाप धुल जायेगा, मिट जायेगा,’ तो इसका अर्थ यह हुआ कि पाप के प्रति ग्लानि घृणा अब नहीं है, पाप को मूल से ही त्याज्य नहीं माना, फिर सम्यक्त्व हो कहां से रहा ? या कहां से हो, इसके बिना तो प्रतिक्रमण धर्म ही नहीं बनेगा और इस से पाप नाश नहीं कर सकेगा ।

सारांश में, पाप के साथ-साथ चाहे जितना धर्म क्यों न किया जाय, परन्तु उससे पाप को बचाव नहीं मिल सकता, पाप छोड़ने ही चाहिये । इन्द्रियों की अविरति के पाप यानी विषया-

सक्ति के पाप का त्याग करने के लिये छः प्रकार का बाह्य तप अमूल्य साधन है। इससे आत्मा पर नये पाप नहीं लग पाते। इतना ही नहीं लेकिन निराशंस भाव के प्रखर तप से पुराने ढेर सारे पाप कर्मों का क्षय होता है और उससे लब्धियां भी पैदा होती हैं।

सनत्कुमार चक्रवर्ती महामुनि ने 700 वर्ष तक रोगी अवस्था में भी जोरदार बाह्य तप किया। उससे नये पाप तो रुके ही, इसके साथ ऐसी लब्धि पैदा हुई कि स्वयं का मात्र थूंक लगा कर अपना कोढ़ रोग मिटा सकते थे; परन्तु खूबी इस बात की उन्होंने अपना रोग नहीं मिटाया। उनको ऐसी तत्त्व समझ थी कि—

### रोग पर चक्रवर्ती मुनि की तत्त्व-समझ :—

‘आत्मा के बड़े खजाने में अशातवेदनीय पाप कर्म पड़े हों, तभी वह उदय पाकर रोग-पीड़ा लाता है। रोग की पीड़ा जहां तक चलती है, वह यह सूचित करती है कि अन्दर में पाप कर्म पड़े ही हैं। स्वयं के पूर्वबद्ध पाप के उदय के बिना स्वयं को पीड़ा नहीं आती पाप पड़े हैं तो पीड़ा आयेगी ही। इसलिए रोग को बलात्कार से निकालने की जरूरत नहीं है। अन्दर में से पाप का कचरा साफ हो जाने पर कोई पीड़ा नहीं रहेगी, इसलिए रोग के द्वारा पाप का कचरा खत्म होने देना। जितनी पीड़ा सह ली जाय, उतना पाप कचरा साफ ही होता है। जैसे बांधे हुए कर्म उदय में आकर पीड़ा देते हैं, वैसे ही पीड़ा भोगने से उतने कर्म नष्ट होते जाते हैं।

कर्म के बिना पीड़ा नहीं आती, और पीड़ा देने के बाद कर्म टिके नहीं रहते।

## मूल कर्म रोग की ही चिन्ता रखिये :-

कर्म उदय पा-कर क्षय पा ही जाते हैं । यानी शारीरिक रोग का मूल, आत्मा का कर्म रोग है । यह मूल कर्म रोग मिटाने की ही चिन्ता रखना । बाह्य रोग सहते-सहते उतने कर्म रोग नष्ट होते ही जाते हैं, इसके साथ ही बाह्य तप से दूसरे भी कई कर्म-रोगों का नाश होता जाता है । सनत्कुमार महामुनि की ऐसी तत्त्व समझ थी, जिससे कठोर बाह्य तप करने के साथ रोग भी सहते जाते थे । दवा से रोग मिटाने को उनकी तत्परता नहीं थी, इसी-लिये तो जब वहां देवता धन्वन्तरी वंध्य का रूप लेकर आये और उनका रोग मिटाते को कहा तब उन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया और क्या कहा जानते हैं ।

## बाह्य रोग मित्र कैसे ?

“आप तो मित्र मेरे मित्र को निकालने के लिए आए हैं । रोग तो मेरे मित्र हैं । वे मेरा कर्म रोग मिटाने में यानी कर्म शत्रु को हटाने में सहायक है, उन्हें क्यों मिटने दूँ । यदि रोग ऐसे ही मिटाने होते, तो मैं स्वयं ही मिटा देता । परन्तु बीच में ही बाह्य रोग मिटा दूँ, तो अन्दर मैं कर्म रोग बाकी रह जायेंगे ! उनका क्या ? देखिये ।’ ऐसा कहकर उन्होंने थूँक का एक क्षण अपनी कोढ़ रोग से व्याप्त अंगुली पर लगाया और कोढ़ मिट कर अंगुली कंचन जैसी हो गयी । इस प्रकार सहर्ष रोग सहने के साथ प्रचंड बाह्य तप की साधना थी, इसीलिये तो ऐसी लब्धि उत्पन्न हुई थी।

## विविध बाह्य तप विविध लब्धियां उत्पन्न करते हैं :-

ऋषभदेव प्रभु पूर्व के तीसरे भव में चक्रवर्ती थे । चक्रवर्ती



के वैभव त्यागकर वे मुनि बने । चौदह पूर्वों के महाज्ञान को पाने की भगीरथ मेहनत के साथ साथ बाह्य तप की जोरदार साधना की। जिससे उन्हें ऐसी अचिन्त्य लब्धियां-प्रकट हुई कि उनका वर्णन सुनने से भी हमें आश्चर्य होगा कि 'अहो ! आत्मा में कैसी-कैसी अचिन्त्य लब्धियां शक्तियां भरी हुई हैं।' सिर्फ उसे रोकने वाले कर्मों को हटाने की जरूरत है, और वे बाह्य आभ्यन्तर तप से हट सकते हैं । प्रभु के जीव को एक ऐसी लब्धि पैदा हुई कि उनके शरीर से छई हुई हवा पास में बंटे हुए दूसरे रोगी को स्पर्श भी करे, तो उसका रोग दूर हो जाय ! तप के बिना किसकी ऐसी शक्ति है कि जो ऐसी लब्धि प्रकट कर सके ?

**बाह्य तप से सत्त्व प्रकट होता है, सत्त्व से क्षपकश्रेणी :-**

जिस तारणहार बाह्य तप से लब्धियां उत्पन्न (प्रकट) होती है वैसा हमारा वह बाह्य तप यदि इतना जोरदार न हो, तो वह ऐसी लब्धियां उत्पन्न नहीं करता, फिर भी उनकी मौलिक शक्ति के हिसाब से आत्मा में कुछ न कुछ ताकत तो पैदा करता ही है, सत्त्व को प्रकट करता ही है । किसी भी मुमुक्षु को यह विश्वास और धीरज रखना चाहिए वह रखकर छहों प्रकार के बाह्य तप में आगे-आगे बढ़ना चाहिए । ऐसा अटल विश्वास रखना चाहिए कि "जैसे-जैसे मैं अनशन, अनोदरी द्रव्य संकोच, रस-त्याग, कायकष्ट व संलीनता करता चलूँ, वैसे-वैसे अन्दर में रहे हुए कर्मों के आवरण टूटते रहते और वे टूटकर ऐसी शक्ति और सत्त्व उत्पन्न होते ही जाते हैं संगृहीत होते ही जाते हैं, जिनके महा संग्रह से क्षपक-श्रेणी लाने वाला उच्च कोटि का सत्त्व उत्पन्न होता हो जिससे धर्म-ध्यान और शुक्लध्यान पैदा हो जायेंगे । निराशंस भाव से व उल्लासपूर्वक किए गए छहों प्रकार के बाह्य तप निष्फल जाते ही

नहीं। वे अन्दर में भव्य शक्ति भव्य सत्त्व उत्पन्न करते ही जाते हैं। बाह्य तप से जो पुण्य उत्पन्न होता है उससे अधिक महत्त्व इस शक्ति व सत्त्व के उत्पन्न होने का है।

### सत्त्व का अति महत्त्व :-

सत्त्व के द्वारा ही गुणस्थानकों में ऊपर — ऊपर चढ़ा जा सकता है। यावत् क्षपकश्रेणी के तथा वीतराग बनने के महा सत्त्व तक पहुँचने के लिए ऐसी शक्ति व ऐसे सत्त्व का संचय ही उपयोगी होता है। इसलिए यह करने की खास आवश्यकता है। तो फिर सोचिए छहों प्रकार के बाह्य तप के बिना कैसे चल सकता है ?

छहों में से एक-एक बाह्य तप से आत्मा में इस प्रकार का सत्त्व उत्पन्न होता है कि जो सत्त्व उत्कृष्ट इकट्ठा होने से रागादि का संपूर्ण नाश करने में उपयोगी होता है।

अनशन यानी उपवास, एकाशन, वियाशन, खाने के टंक का नियम आदि उल्लास पूर्वक जहाँ जैसा अवसर मिले, वैसे करते जायें तो अन्दर में आहार संज्ञा को कुचलने वाला सत्त्व पैदा होगा।

### सत्त्व के अभाव में योग भंग-सत्त्व विकास से क्षपक श्रेणी :-

इस सत्त्व को मामुली मत समझियेगा। सत्त्व के अभाव में भजन में भोजन की संज्ञा आकर भजन को भंग कर देती है ! मन प्रभु में से पुद्गल की ओर दौड़ने लगता है। सत्त्व होने से आहार संज्ञा और विषय संज्ञा कितनी भयंकर है कि वे संज्ञाएं स्वाध्यादि दूसरी धर्म-साधनाओं को व तत्त्व विचार को रोक देती है ! वहाँ शुभ योग का भंग होता है। योग भंग मन को निर्बल

बनाकर उच्च साधना के लिए असमर्थ कर देता है। ऐसा बड़ा नुकसान सत्त्व से ही रोका जा सकता है। आहार-संज्ञा को दबाने का सत्त्व प्रकट किया हो, तो वह भजन योग की साधना के बीच में टपकने वाली भोजन-संज्ञा को रोकेगा। इससे योग भंग नहीं होगा, मन कमजोर नहीं बनेगा, व उच्च योग साधना के लिए सशक्त रहेगा। अनशन, द्रव्य संकोच, रसत्याग, कायकष्ट संलीनता आदि बाह्य तप का अच्छा अभ्यास रखकर प्रकट किए हुए सत्त्व के ऐसे योग-अभंग योगसातल्य योगस्थिरता आदि कई सुन्दर लाभ हैं। बाह्य तप से सत्त्व प्रकट होता है;

सत्त्व से योग्यस्थिरता आती है। योग्यस्थिरता से मन की सबलता प्राप्त होती है; और

सबल (बलवान) मन से उच्च-उच्चतर योग पर आरोहण होता है।

ऐसे करते-करते महासत्त्व प्रकट होता है; और अपूर्व, महासत्त्व से क्षपक श्रेणी तक पहुँचा जा सकता है।

इस प्रकार बाह्य तप की सात्त्विक उच्च साधना अलौकिक प्रभाव पैदा करती है।

## ललितांग मुनि और असंमत नास्तिक

ललितांग नाम के राजकुमार मुनि और असंमत नाम के नास्तिक का सुन्दर प्रसंग है, जिसमें इस मुनि को जंगी तप से भारी सत्त्व प्रकट हुआ, व इस सत्त्व के आधार पर की गई साधना का अद्भुत चमत्कारिक प्रभाव हुआ यह देखने को मिलता है। तब

पहले यह देखिये कि ऐसे तप का बल कहाँ से आया और तप की लगन कहाँ से आई ?

ऐसा हुआ कि एक बार ललितांग राजकुमार वसंत उत्सव में नगर के बाहर घूमने निकला है। वहाँ युवान मंत्रीपत्नी भी आयी हैं। ललितांग उसे देखकर उस पर फिदा हो जाता है, मोहित हो जाता है और मित्र को भेजकर पुछवाता है कि 'तेरा समागम कैसे हो ?' देखिये जवानी का उन्माद !

आत्मा में जन्म-जन्म के दृढ़ किये हुए विषय लालसा के जोरदार संस्कार सोये पड़े ही हैं। इसीलिये तो यह लालसा यहाँ सहज रूप से जगती रहती है और नादान जीव को अपनी इन्द्रियाँ विषयों की और मानो स्वभाविक रूप से ही घसीट कर उसे उनमें लीन बनाती हैं। आत्मा का मूल स्वभाव नहीं है कि वह विषयों में लीन हो जाय। यह तो कुसंस्कारों का तूफान है। यह लीनता अब भी कदाचित्, वैसा निमित्त मिलने से पूर्व, मर्यादित विषयों में हो सकती है, परन्तु यदि खतरनाक निमित्त मिले तो फिर वे कुसंस्कार जोर से भड़क उठते हैं और ये जीव में मर्यादा से बाहर के विषय की लालसा खड़ी करके जीव को उसमें लीन बनाते हैं। यहाँ मंत्री पत्नी व राजकुमार को भी यही होता है। उद्यान में रूपवती मंत्री-पत्नी को रूपवान राजकुमार का देखना, और मंत्री-पत्नी को निमंत्रण मिलना, यह सब निमित्त के रूप में खड़ा हुआ, इसी से दोनों परस्पर एक-दूसरों के प्रति आकर्षित हुए। राजकुमार को पर स्त्री का राग से दर्शन, यह निमित्त मिला, और युवती को युवान राजकुमार की प्रार्थना निमित्त के रूप में मिल गई और दोनों ने इस निमित्त को बधाया। दोनों भूले पड़े। अनर्थ की यही से शुरुआत हुई।

इसीलिये समझ लीजिये, आत्मा के खजाने में विषय लालसा के कुसंस्कार सुषुप्त पड़े हुए ही है। उसमें ऐसा कोई असत् निमित्त मिला और उसे बधाया। उदाहरण के लिये थोड़े से पर-पुरुष या परस्त्री के निरीक्षण में पड़े, तो ये विषय-लालसा के संस्कार जगने वाले हैं, और संस्कार के कार्यरूप लालसा पैदा होने ही वाली है। उसमें भी यदि सामने वाले की मांग को मन पर ले लिया तो मरे ही समझो।

**नंदीषेण मुनि मोह को दबाने के लिये पुरुषार्थ करने वाले महा तपस्वी थे।**

वे भिक्षा हेतु अनजान में वेश्या के घर में जा पहुँचे। लेकिन बाद में वेश्या की मांग पर कान और मन धरने गये, तो सुषुप्त संस्कारों ने जोर दिखाया इसने मुनि का घोर पतन कराया। वहाँ चाहे वेश्या ने मांग की, लेकिन यदि खुद ही सुनने या सोचने के लिये खड़े न रहते, और वहाँ से निकल जाते, तो बच जाने के लिये जगह रहती। लेकिन नहीं उन्होंने बुरे निमित्त को बधाया तो पहले शीलभंग से बचने की गजब निष्ठा होने पर भी अब पल भर में गिर गये।

**निमित्त मारता है और निमित्त तारता भी है :-**

जीवन में खराब निमित्तों का सेवन करने वाला मरता है, जबकि सत्संग, सद्वाचन आदि अच्छे निमित्तों का सेवन करने वाला तैर जाता है। पाव-आधे घंटे का अगर समय मिला तो जाईये, भगवान के पास जाकर बैठिये, या संयमी साधु अथवा किसी

धर्मिमा स्नेही के पास जाकर बैठिये, तो उसमें आपने अच्छा निमित्त बछाया, इससे सुन्दर आत्मिक हित का लाभ होगा। इससे विपरीत, किसी बातूनी के पास या निन्दाखोर के पास जाकर बैठे, या किसी सिनेमा में जा घुसे, या बाजार में कुछ ऐसे ही टहलने के लिए निकले, तो यह असत् निमित्त अच्छे संस्कार पर घाव करके विषय-कषाय की एक या दूसरे प्रकार का संवेदना खड़ी करेगा ! इसका अर्थ यही हुआ कि, बुरे निमित्त से मरना पड़ेगा ।

निश्चय मूढ़ एकान्त निश्चयवादी सोनगढ़यती कहते हैं कि 'निमित्त कुछ नहीं करता !' लेकिन ऐसा कहने वाले असत्य बोलते हैं क्योंकि स्वयं ही श्रोता का निमित्त पा करके की भाषण देते हैं किन्तु एकान्त में अकेला हो तब बोलने के लिए नहीं बैठते । श्रोता भी घंटे भर भाषण चले, तब तक इसी निमित्त से बैठते हैं, लेकिन भाषण बन्द होने के बाद वहां पर ऐसे घंटे भर बैठे नहीं रहते । यह क्या है ? निमित्त हो तो कार्य होता है, नहीं तो कार्य नहीं होता है, यह इसी बात का सूचन करता है कि निमित्त कुछ नहीं करता यह बात सही नहीं है बल्कि सही बात यह है कि निमित्त कार्य करता है । अच्छा निमित्त अच्छा कार्य करता है, बुरा निमित्त बुरा कार्य करता है, यह सामान्य नियम है ।

### निमित्त से पतन :-

मंत्री पत्नी को जब तक राजकुमार की प्रार्थना का निमित्त न मिला था, तब तक वह समझदार थी । लेकिन जैसे ही वह निमित्त मिला वह पागल हो गयी । इसी तरह राजकुमार ने रूप-वती मंत्रीपत्नी का दर्शन बधाया तो पहले वह कुमार जो समझदार सदाचारी था, अब वह मूढ़ हो गया, दुराचारकांक्षी बन गया ।



निमित्त की भयानकता और आगे देखिये । मंत्री पत्नी को एक बार की भी प्रार्थना का निमित्त मिला तो उसकी भी वासना जाग पड़ी, और उसके घर राजकुमार की गुप्त मुलाकात चली । परन्तु थोड़े दिन बाद वह राजकुमार से विनती करती है 'आप मुझे बहुत पसन्द हैं' लेकिन मेरे पति मुझे अकेली छोड़ते ही नहीं है । इसीलिये अपना कायमी योग कैसे हो सकेगा ? इसलिए एक काम कीजिये, जिससे सदा के लिये अपना योग हो जाय ।'

अब राजकुमार को दुराचार की हवस जगी है इसमें मंत्री पत्नी की दीनता भरी वाणी का निमित्त मिला फिर ऐसा निमित्त उसे कैसे नहीं गिरायेगा ? वह भी पागल बनकर कहता है 'बोल में क्या करूँ ? तू जो कहे, वह करने के लिये तैयार हूँ । परन्तु देखना हां यहां से भागा नहीं जा सकता । यहां रहकर जो कुछ किया जा सकता है, वह जरूर करूंगा ।'

मंत्री पत्नी कहने लगी—“हां ऐसा ही है, यहां रहकर ही किया जा सके ऐसा उपाय है ।”

दोनों किस ओर चले ? अपकृत्य का सेवन सदा के लिये बना रहे इसके उपाय की ओर चले ! क्यों ? क्योंकि एक बार छोटे-से भी अपकृत्य कायमी पतन का निमित्त बन गया । पहले दोनों समझदार थे, परन्तु एक बार बुरा निमित्त खड़ा करने से बाद में दोनों पागल बन गये । यह इसी बात का सूचन करता है कि,

**भावी अपकृत्य—असहवचन की परंपरा से बचना हो तो जीवन में एक बार भी निमित्त को स्थान मत दो ।**

एक बार के भी अकार्य से हवस जगेगी, हराम-चस्का लगेगा । आज के जो युवक बुरे संसर्ग में आकर एक बार भी सिगरेट की फूँक मारते हैं या काम की बुरी चेष्टा में पड़ते हैं उसके बाद उनका जीवन तहस-नहस हो जाता है ! इसी तरह सामने वाले के अयोग्य प्रलोभन की ओर जो मन देते हैं, वे भी सदा के लिये बुरी आदत के शिकार बनते हैं । दोनों निमित्त बुरे हैं । दोनों में मरना ही है । एक बार भी अपशब्द या झूठ बोले, किसी की निंदा की, तो फिर उसकी परम्परा चलती ही रहेगी । इसी प्रकार अगर बुरी चाह में एक बार ललचाये, तो उसकी परम्परा चलने ही वाली है । अतः

**पतन से बचने के लिये अपकृत्य-असद्वचन को या प्रलोभन को पहले कदम पर ही रोक देना चाहिये ।**

नहीं तो एक बार का पतन असत् निमित्त बन जायेगा और वह पतन की परम्परा का सजन करेगा ।

निमित्त बलवान है । नंदीषेण वेश्या की ललचाहट से गिर पड़े ।

**आषाढ़ाभूति मुनि का क्यों पतन ?**

आषाढ़ाभूति मुनि नाटककार की दो पुत्रियों के हाव भाव और प्रार्थना के निमित्त से गिरे थे । यह निमित्त भी लड्डु की लालसा के निमित्त से पैदा हुआ था ।

अनजान में वे नाटककार के यहाँ गोचरी गये । भिक्षा में

एक लड्डु मिला। भिक्षा लेकर बाहर निकले वह। उसे देखकर आया,—‘यह लड्डु तो आचार्य के हाथ के खड़ेगा। कैसे लड्डु बना वचेगा?’ इसलिये वेग बढ़ाकर एक लड्डु खाकर रखे। दूसरा लड्डु मिला, ले चले। आचार्य के हाथ काया के हाथ में लड्डु-पात्र के पात्र में जा देगा। मुझे क्या देवेगा? एक लड्डु-पात्र ही बदलकर वहाँ गोचरी पड़े। नाटककार के हाथ में ये लड्डु-पात्र मुद्रा के परिवर्तन देखा। उसे लगा कि, यह लड्डु-पात्र काजी कर सके वैसा है।’ इसलिये लड्डु आचार्य मुने से खसती कायत है ‘महाराज! आप यही राज नाम लेखिरेगा। इसका लड्डु-पात्र मुनि को दो-चार लड्डु बहोना पड़े। मुने लड्डु होकर सके रखे।

यहां नाटककार ने अपनी ही पुत्रियों को समझा दिया कि ‘देखो वे तो एक ही मुनि वेग लेखिरेगा व—जैसे काये के। ऐसे छत पर से उन्हें वेग परिवर्तन करने देखा। जो मुने लगा कि यह हमारे नाटक के लिये बहुत काम का कायना है। मुने कायना है। मैंने विनती की है। कल आचार्य का काये रखे। उसे कच्छा-अच्छा बहोराणा और साथ ही साथ लड्डु-पात्र कायना से उसे कायना और अपने वज्र में करते वज्र दिन एक दिन यह साधुना छत कर तुम्हारे यहां आया ही कायना।’ मुने राज करते गये काय पुत्रियों ने कामना मुद्रा कर दिया। मुने कायना काय कि कायना मुनि एकदम डीले पड़ गये। लड्डु कायना मिट गई। लड्डु का वासना जाग्रत हो गई।

बोली, यह सब कैसे? कायना, एक वज्र में लड्डु का लालसा जगी, तो उसे लड्डु-पात्र से दया के लड्डु का। लड्डु बदले वार-वार बहोराणा के लिये कायना मुने ने लालसा का लालसा

किया । एक बार भी लालसा के पोषण के निमित्त का सेवन किया तो चले पतन के मार्ग पर ।

रोज-ब-रोज मेवा-मिट्टाई के लिए एक ही घर में जाना यह पतन का रूतलाभ मार्ग है, पतन का प्रथम निमित्त है ।

युवतियों के हावभाव देखना, यह पतन का बुरा निमित्त है, पतन को आमंत्रण है ।

अरे ! ऐसे भी युवती के निरीक्षण में पतन है, तो फिर उसके हावभाव देखने में तो पूछना ही क्या ? भारत के सामने चीन के मोरचे की तैयारी चल रही है न ? इसी तरह ब्रह्मचारी-सदाचारी के सामने मोह राजा का यह मोर्चा है कि उसके सामने युवतियों को लाकर खड़ी करनी । उसमें भी आज तो स्त्रियों के उदभट वेश, अंगोपांग-प्रदर्शन के खुले बाजार, उन स्त्रियों की भी अखवार-सिनेमा-रेडियो से उत्तेजित वासना, फिर यह शील के सामने मोह का कैसा मोर्चा रूप बनता है ? वहां सदाचारी को तो यह समझ ही रखना पड़ता है कि 'मेरे सामने आज की दुनिया से रहकर, मोह के ये मोर्चे तो चालु ही रहने वाले हैं, लेकिन मुझे मन मजबूत करके उनके सामने भी नहीं देखना है । यदि एक बार भी निरीक्षण किया है तो मौत हो जाएगी, हराम चस्का लगेगा, और निरीक्षण मात्र में भी वीर्य का नाश होता जाएगा ।'

**स्त्रीदर्शन में वीर्य नाश कैसे ?**

आयुर्वेद शास्त्री कहते हैं कि राग से परस्त्री का निरीक्षण करने से अंग में विकार जगता है, खून गरम होता है, और यह उष्णता वीर्य को पतला बनाकर मूल स्थान में से चलित कर देती

है। बाद में यह वीर्य खल-मल में मिल कर शरीर में से एक या दूसरे द्वार से बह जाता है। वीर्य तो अन्तिम धातु है, शरीर का राजा है। राजा बलवान, तो सुरक्षित। यदि वीर्य बल वाला व गाढ़ा हो, तो शरीर — मात्र — इन्द्रियां सुरक्षित व अच्छे रहते हैं। राजा निर्बल हो जाय तो प्रजा लूटी जाती है। आज राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री की निर्बलता में प्रजा लूटी जा रही है न? इसी तरह,

**वीर्य यदि निर्बल बना हो तो,**

- (1) शरीर की शक्तियां लूटी जाती हैं,
- (2) गात्र ढीले पड़ जाते हैं,
- (3) इन्द्रियों के तेज लुप्त होते हैं,
- (4) फिर वहां, थोड़ा कुछ होने पर बुखार, खांसी, सर्दी आदि रोग उठते हैं।
- (5) जवानी में बुढ़ापा आता है।
- (6) बुढ़ापे में एकदम निस्तेज बनना पड़ता है,
- (7) स्मरणशक्ति कुंठित हो जाती है और
- (8) उत्तम सात्त्विक भावनायें महेङ्गी बन जाती है।

अकेले परस्त्री दर्शन के कितने — कितने नुकसान है? सज्जनता-साधुता तो गई ही। दर्शन से अंतर में छबीलियां रमण करने लगे, तो फिर सदाचार, सद्विचार, प्रभु प्रेम, गुरुभक्ति, संयम आदि कैसे खड़े रहें?

**बाहर जैसा-तैसा देखना बन्द किस प्रकार करें?**

इसीलिये, जो समझदार हो, वे परस्त्री के एक बार के निरीक्षण से बचें, दूर रहें, मन को समझाये कि 'इसमें क्या देखना

है ?' मन रोकने से न रहे ऐसा लगता हो, तो आंख मींचकर मन में ही ग्लानि के साथ कल्पना कर मन को कहें, 'ले देख, क्या देखना है ? यही न कि ऐसी रूपवती होगी । कल्पना से इसी से विशेष बड़ी इन्द्राणी देख सकता हूँ, किन्तु इसमें देखने लायक है क्या ?' ऐसा सोचने में परस्त्री दर्शन की आतुरता मिट जाती हैं । अलवृत्ता इसमें साथ ही साथ घृणा, ग्लानि जोरदार रखनी चाहिये, तिससे अन्तर में भी वह की गई कल्पना बिलकुल विकार पैदा न कर पाये। इस तरह बाहर का देखने का रोक लिया, मन पर दबाव ला कर परस्त्री पर आंख नहीं जाने दी, फिर तो ऐसे दो बार, पांच बार आंख परस्त्री को देखने से रोकने पर मन को संतोष होगा कि 'चलो' पांच बार स्त्रियां सामने तो आयी, लेकिन उनके पाप दर्शन से बच गया, ऐसी गिनती में आगे-आगे बचने की उमंग रहेगी ।

**इसके लिये बालपोथी का पाठ यह है कि,**

जहां कुछ भी देखने का कौतुक जोर से उठा हो, वह रोके नहीं रुकता हो तो तुरन्त ही आंख बन्द कर अन्दर मन में इससे भी बड़ी कल्पना कर लेनी चाहिये कि 'ऐसा ऐसा होगा, लेकिन इसमें भला ! वस्तु को देखने लायक है क्या ? क्या देखना था ?' इस तरह बाहर जैसा-तैसा देखने का कई बार टालने के बाद कौतुक-आतुरता घट जाएगी, फिर देखने की भूख ही नहीं रहेगी, यानी मन में भी कल्पना करने की बात बन्द हो जायेगी ।

**मुनि कैसे ढीले पड़े ?**

आषाढाभूति मुनि नाटककार की जवान पुत्रियों के हाव-भाव और लटके देखने लगे, इसी से अन्त में एकदम ढीले पड़ गये।



इसमें एक बार ये लड़कियां कहती हैं 'अब छोड़ दीजिये न यह जोग ? यहां चले आइये ।' मुनि युवतियों के हाव भाव प्रतिदिन देखने का निमित्त पा-पाकर ढीले तो पड़ते ही गये थे । उसमें अब इस कामराम भरी कोमल प्रार्थना का निमित्त मिलने से संयम भावना से पूर्णतः भ्रष्ट हो गये ! कहते हैं, 'अब तुम चिन्ता मत करो । गुरु को कहकर मैं वापिस आया ही समझो ।'

बुरा निमित्त क्या करता है ? भले-भले को भी गिरा देता है ! उसमें भी जवान स्त्रियों के रोज के दर्शन, वह भी उनके रूप-लावण्य मेरे मुख और अंग के हाव भाव के साथ का दर्शन कौन-सा सत्यनाश नहीं करेगा ? दूसरी तरफ साधु की तपस्या, त्याग, शास्त्र स्वाध्याय बहुत हो, परन्तु इन सबको निष्फल करने की ताकत इस युवती-दर्शन में है । सिंह गुफा वासी मुनि चार महिने के उपवास करके सिंह की गुफा के आगे निर्भयता पूर्वक चातुर्मास पूर्ण करने की ताकत वाले होने पर भी उपकोशा वेश्या के घर जाकर उसका दर्शन करने मात्र से भी गिरे न ?

**स्त्रियां प्रभु का दर्शन करती है ? या दूसरों को खुद का दर्शन कराती है ?**

साधुओं व सदाचारियों के लिये आज कसा विकट काल आ गया है ? आप परमात्मा के मन्दिर गये हों, प्रभु के आगे भाव भक्ति-गुणगान कर रहे हों, वहीं बीच में कोई गणिका जैसे वेश-वाली स्त्री आकर खड़ी रहे, यह बहुत संभव है । वहां तो आपको तुरन्त आंखे मींचनी ही पड़ेगी नहीं तो मरे समझो । क्योंकि उस स्त्री को स्वयं प्रभु दर्शन करने की जितनी तमन्ना नहीं होती, उतनी तमन्ना अपने अंगोंपांगों के दर्शन कराने की होती है । दर्शन

कराने के लिये ही तो ढांकने योग्य अंगोपांग खुले रखती है। उसे कोई दया नहीं है कि 'ये बिचारे जीव प्रभु के दर्शन भूलकर मेरे अंगोपांगो के दर्शन करके पाप के पोटले बांधेंगे। इसलिये चलो, मैं स्वयं को ही ठीक से ढांक दूँ ! नहीं ! उसे तो कोई, दया नहीं, विचार नहीं, विवेक नहीं, सिर्फ काम का एक प्रकार का उन्माद है, मूढ़ता है। अब वहाँ प्रभु के आगे भाव भक्ति करने वाला इस पाप दर्शन से बचने के लिये या तो मुँह न फिरा दे, या आंख न मींचे, तो कैसे बचे ?

प्र०—ऐसी आंख मींचने की क्या जरूरत है ? ऐसे रूप पर वैराग्य भावना करे, तो बच सकता है न ?

उ०—हां, बच सकता है। लेकिन कब ? ऐसे उद्भट वेश और रूपवान अंगोपांगो पर नजर रखते हुए नहीं।

**वैराग्यभावना पररूप-दर्शन चालु रखकर नहीं की जाती।**

आंख तो पहले हटानी ही पड़ती है, और बाद में मन में उसका राग न रहे, इसके लिये वैराग्य भावना करे, तो बच सकता है। रूप के दर्शन चालु और वैराग्य भावना करने को जाता है, वहीं ठगा जाता है।

**मन तो चोर है।**

अनंत काल के विषय—दर्शन पर राग लुब्ध होने की मन की तो आदत ही पड़ गई है। वैराग्य तो ऊपरी हो और रागासक्ति अन्दर की उठ जाय ? रूपवान विषयों में इन्द्रियों को डुबोकर रखना है और वैराग्य का ढोंग करना है ? यह कोई खेल नहीं है कि इस तरह से वैराग्य हृदय में प्रकाश करने लगे।

वे भरत चक्रवर्ती तो अलग ही हैं कि जो इस प्रकार वराग्य प्रकाशित कर अन्त में आरिशा भवन में केवलज्ञान पा गये ।

आपको व हमको तो विषय संपर्क से पहले ही पीछे हटना पड़े नहीं तो राग का ही खेल चलता रहेगा ।

इसीलिये तो प्रभु दर्शन-गूण गान के समय बीच में आने वाले विघ्न लफड़े के सामने आखे मीचनी ही पड़ती है और बाद में मानसिक प्रभु दर्शन करने पड़ते हैं । मानो अपनी आंखों पर के पडल पारदर्शी हों, उनके आर पार अकेले प्रभु ही दिखते रहते हैं । नहीं तो परस्त्री देखने पर अति बहु रूढ़ स्त्री दर्शन के संस्कार जाग्रत होंगे और प्रभु दर्शन को एक ओर रखवाकर वे विषयरग का ही पोषण करेंगे ।

आषाढाभूति मुनि रोज के युवतिदर्शन के बुरे निमित्त से गिरे । नट की पुत्रियों को हृदय में धारण कर उपाश्रय की ओर चले ।

गुरु पूछते हैं, 'आज देर कैसे लगी ?'

बस, आषाढाभूति को तो थोड़ा निमित्त चाहिये था, वह मिल गया । तुरन्त गुरु को कहते हैं—'इसमें देर कैसी ?',

'अरे ! इतनी देरी को तू देरी नहीं गिनता ? वैसे भी रोज कुछ ज्यादा वक्त तो लगता ही था न ? आज बहुत ही वक्त लगा । क्यों ?'

**विषय गुलाबी की विडंबना :-**

आषाढ़ाभूति कह देते हैं, लीजिये, आपका दिया हुआ यह ओधा । अब देरी की पंचायत ही नहीं रहेगी ! मैं तो जाता हूँ ।' बस साधु वेश छोड़कर चलने लगते हैं । विषय गुलामी कैसी विडंबना देती है ? मामुली उपालंभ को चारित्र छोड़ देने का निमित्त बना दिया ।

वहां गुरु तो चौंक उठते हैं । समझाते हैं । कि, 'भाग्यशाली ! सही हकीकत क्या है ? बताओ तो सही । ऐसे कोई तेरे जैसा योग्य साधु इतने मामुली उपालंभ पर चारित्र तो नहीं छोड़ सकता । तू मुझे चारित्र छोड़ने का सही कारण बता दे । तुझ पर हमारा उपकार है, तो तू हमको ऐसे हीं बताये बिना चला जायेगा ?'

### गुरु के पास इकरार :-

बोलते-बोलते गुरु का स्वर भर आया । यह देखकर आषाढ़ाभूति का हृदय भी पिघल गया । आँखों में पानी आ गया । रोते हुए कहते हैं -

“गुरुजी ! क्षमा कीजिये मुझे, मैं आपका विश्वास घाती नराधम शिष्य हूँ । आज तक आप से चोरी-छुपे मैंने नट की दो पुत्रियों पर मोह किया है....’ ऐसा कहकर सारी बात बताकर कहते हैं, ‘अब मैं मोह से पराधीन हो गया हूँ । इसलिये उनके साथ रहूँगा ।’

### सांस-मदिरा से बचे तो :-

बाद में गुरु ने न गिरने के लिये वैराग्य का बहुत उपदेश

दिया। परन्तु मुनि ने लाचारी बतायी। तब गुरु ने आखिर में कहा कि, 'यदि तू जा ही रहा है, तो वहाँ मांस और मदिरा से से दूर रहना। तो कभी भी ऊँचा आयेगा।' गुरु का वचन मस्तक पर चढ़ाकर आषाढ़ाभूति गये। जाकर नट की पुत्रियों से साफ कह दिया कि 'देखो, मैं आया तो हूँ। लेकिन तुम कभी भी मांस व मदिरा को न छूने का कबूल करो, तो तुम्हारे साथ रहूँगा, नहीं तो मैं तो यह चला।' दोनों ने कबूल कर लिया और आषाढ़ाभूति वहाँ रह गये।

### मन भावुक : निमित्त पर भावित्र : प्रयोग सतत :-

कैसा पतन ? खराब निमित्त का सेवन करने जाओ, या खराब निमित्त आ पड़े उसे स्वीकार लो पतो हले का शान्त मन भी अशान्त बनने लगता है। मन भावुक है, उसे जैसा निमित्त मिलता है, उसी तरह भावित हो जाता है। महा योगियों की बात न करें। फिर भी वे भी चाह कर बुरे निमित्त का सेवन नहीं करते या उन्हें बधाते नहीं। इसीलिए यह प्रयोग तो खूब चालु रखो कि जहाँ कोई असत् निमित्त आया कि तुरन्त खिसक जाना। वहाँ से खिसका नहीं जा सकता हो, तो आंख, कान और मन को तो उसमें नहीं जाड़ना। उदाहरण के लिये—कोई निन्दा करने लगे तो हमें वह सुनने के लिये कान बन्द ही कर देने चाहिये। और इसके लिये मन को किसी रसमय तत्त्व या चरित्र के विचार में या नवकार गिनने में जाड़ देना चाहिये।

इलाचीपुत्र का प्रसंग तो आपको ज्ञात ही होगा कि उसने वंराग्य कैसे पाया ? अच्छा निमित्त मिलने पर। पहले तो वह रूपवती नटी के सौन्दर्य में लुब्ध बना, उसकी खातिर अपना

जाति-कुल-खानदान का कोई विचार नहीं रखा। भरापूरा घर छोड़ा, मां को छोड़ा, बाप को छोड़ा। पिता ने अच्छे सुखी घर की कन्या से शादी कराने को कहा, वह भी नहीं माना, और नट के परिवार में शामिल हो गया ! नटी से शादी करने के लिये नट के खेल सीखे और शादी के लिये आवश्यक बड़ी रकम दान में मिले, इसके लिये एक बार राजा और सेठ-साहुकारों के आगे खेल करता है, करीब बीस हाथ ऊँचे बांस पर बांस पर बांधी हुई रस्सी पर नाच करता है !

राजा दान नहीं देता है और कहता है —‘मैंने खेल बराबर नहीं देखा, फिर से नाच दिखाओ।’ इलाचीकुमार फिर से नाचा, नाचकर दान मांगता है। पुनः राजा वे ही शब्द दुहराकर फिर से नचाता है। क्यों ? राजा भी रूपवती नटी में लुब्ध बना है, इसलिये विचार करता है कि ‘बिना किसी आधार के नाचता हुआ यह नट थक कर गिर जाय और मर जाय, तो नटी मेरे हाथ में आ जाएगी।’

### देखिये मोह की विडम्बना :—

इलाचीपुत्र हल्की नट जाति में मिला। क्या पहले के काल में ही ऐसा होता था ? नहीं, आज भी ऐसा होता है। इंग्लैण्ड के अमीर कुटुम्ब के राजा एडवर्ड अष्टम ने ब्रिटेन की राजगद्दी छोड़ कर लेडी सीम्पसेन से शादी की। कुछ वर्षों पहले समाज के बम्बई के एक आगेवान की पुत्री ने ईसाई से शादी की। मोह की विडम्बना बड़ी बुरी है। कुत्ते-गधों को यह नचाती ही है, लेकिन मोह मानव जैसे मानव को भी जानवर की तरह नचाता है। उसे भी मालुम नहीं पड़ता कि —



‘यह वासना-विकार मेरा आत्म-स्वभाव नहीं है। यह तो बिना लाभ की एक खुजली है। इसमें तो मुझे बिडम्बना हो रही है। मैं यदि कुछ स्वस्थ बनूँ तो मुझे इस पगली मोह की भावना से बिडम्बना पाने की क्या जरूरत है? इससे तो अच्छा यह है कि मैं परमात्म-प्रीति के रंग-रस का ही अनुभव न करूँ?’

लेकिन उसे यह मालुम ही कहां से हो? मूढ़ जीव को अन्तर में मोह की भारी बिडम्बना होती है। यदि वह न हो, तो वह शादी ही क्यों करे? जब तक शादी न करे, तभी तक स्वतन्त्र है, मन हो वहां घूम-फिर सकता है, काम करे या न करे, तो भी चलता है। शादी करके वह बन्धन में आ जाता है, गुलामी में जकड़ जाता है व्यर्थ ही परायी कन्या की जीवन भर की जवाबदारी खुद के सर पर लेता है। क्यों? मोह की खुजली के कारण, काम राग की पराधीनता के कारण वह बिडम्बनाओं को ही गले लगाता है न?

यहां नटखेल के वक्त राजा जैसा राजा भी मोह की बिडम्बना को गले लगाता है! उसे नटी चाहिये, इसीलिए वह नट इलाचीपुत्र की मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है। इसलिये तीसरी बार उसे कहता है — “तुम्हारे नाच में मेरा ध्यान ही नहीं रहा, फिर एक बार नाच कर दिखाओ। वह देखकर सुन्दर इनाम दूंगा।”

इलाचीपुत्र थक गया है। ऊँची डोरी पर बिना किसी सहारे के नाचना यानी जीवन को खतरे में डालने वाला खेल! थकावट के कारण कहीं पाँव लड़खड़ा जायें तो क्या हो? नटी मिलना तो एक ओर रहा, मौत के घाट ही उतरना पड़े। ऐसा

महान साहस करने के लिए भी इलाचीपुत्र तैयार था। क्यों ?  
पैसे कमाकर रूपवती नटकन्या से शादी करनी है ? इसलिए  
तीसरी बार चढ़कर नाचता है।

कहिये, जिसे नटी के प्रति इतना मोह हो, उसे वहीं पर  
वैराग्य हो सकता है ? लेकिन वहाँ ऐसा आश्चर्य हुआ—,नटी पर  
राजा की पड़ती दृष्टि देखकर वह इलाचीपुत्र सोचने लगा—

“हुं धन वांछुं रे राचनुं राय वंछे मुज घात !”

फिर भी उसे लालच है कि अब तो नाचकर दान पाउंगा।  
इतने लालची और विषय-लंपट का वैराग्य हो सकता है ? फिर  
कैसे हुआ ?

“थाल भरी शुद्ध मोदके, पद्मिनी उभेला बार.,

ल्यो ल्यो कहे छे लेता नथी, धन धन मुनि अवतार ।”

दिन का समय है। मुनि गौचरी के लिए एक घर के द्वार  
पर खड़े है। रूप के अंबार जैसी पद्मिनी स्त्री लड्डू का थाल  
लेकर खड़ी है और मुनि को विनंती कर रही है—‘भगवंत ! मुझे  
लाभ दीजिये।, मुनि नीची दृष्टि करके खड़े है। मुनि को कोई  
अभिग्रह होगा और अभिग्रह यहां पर पूर्ण नहीं होता होगा या  
लड्डू का खप नहीं होगा, इसलिए मुनि लेते नहीं हैं। यह सारा  
दृश्य ऊँची डोरी पर से इलाचीपुत्र देखता है, तब उसके मन में  
लगता है—‘धन्य धन्य मुनि अवतार !’

कैसे आया ऐसा विचार ? मुनि लड्डू नहीं ले रहे हैं,  
इसके लिए धन्यवाद ? नहीं। यदि उसे स्वयं को खाने में दिल-  
चस्पी होती, तो ‘यह मिठाई मुफ्त में मिल रही है फिर भी नहीं

लेते,' यह देखकर धन्यवाद देता । यहाँ तो उसे नटी के प्रति राग है, तो उसने मुनि में ऐसा क्या देखा कि जिससे मुनि को धन्यवाद देता है ? यही कि उसने देखा कि सामने परम रूपवती पद्मिनी स्त्री खड़ी है, उसे मुनि आँख उठाकर देखते तक नहीं उनकी दृष्टि तो नीचे हैं । यह देखकर इलाचीपुत्र मुनि-जीवन को धन्यवाद देता है । नटी से भी अच्छे कुल, शील और सौन्दर्य वाली पद्मिनी स्त्री को देखने की बात भी मुनि में नहीं है, जब कि स्वयं तो पूर्णतः नटी में लुब्ध बना हुआ है ! इतना बड़ा अन्तर देखकर इलाचीकुमार स्वयं को धिक्कार देता है, उसे अपने विषय रस के प्रति ग्लानि होती है और उसका वैराग्य इस प्रकार जगमगा उठता है-

धिक् धिक् विषयी रे जीवने, इम नट पाम्यो वैराग्य ।'

नटडी के खातिर रस्सी पर नृत्य करने वाले इलाचीपुत्र को मुनि की चर्या देखने का निमित्त मिलने से वैराग्य जाग उठा । यदि मुनि पद्मिनी स्त्री के मुख या शरीर पर दृष्टि डालते होते, तो वह मुनि पर मुग्ध नहीं होता । लेकिन मुनि देखे भी क्यों ? स्त्री के मुख या शरीर का दर्शन राग के विकार को जाग्रत करने का निमित्त है, इसलिए मुनि ऐसे निमित्तों से दूर ही रहते हैं, ऐसे निमित्तों का सेवन नहीं करते ! सामान्य मुनि क्या, महासंयमी महायोगी मुनि भी स्त्रीमुखदर्शन या गात्रदर्शन के खराब निमित्त का सेवन नहीं करते । वहाँ पर महायोगी होने का ऐसा गर्व न रखे कि-'मैं तो महायोगी हूँ., ऐसे निमित्त मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं ?'

यदि महायोगी भी ऐसे निमित्तों का सेवन करने जायें,

तो पतन की शुरुआत हुई ही समझो । सिंहगुफासी महायोगी मुनि वेश्यावास का एवं वेश्या मुखदर्शन के बुरा निमित्त का सेवन करने गये, तो पतन की खाई में गिरे न ? महायोगी को भी ऐसे निमित्तों से बचकर रहना चाहिए फिर दूसरों की तो बात ही क्या ?

आषाढाभूति मुनि नाटककार की जवान पुत्रियों के संसर्ग में रोज थोड़े-थोड़े आये, तो वह खराब निमित्त उन्हें पतन के मार्ग की ओर घसीट कर ले गया । और अन्त में मुनि वेश छोड़कर वे उनके साथ रहने लगे । एक बार भी स्त्री-दर्शन में लुब्ध बने, तो गड़बड़ हो गयी । फिर से वह टालकर यदि वैराग्य भावना में रक्त रहे होते, तो बच भी जाते । लेकिन रोज-ब-रोज उनके दर्शन करते ही जाये, तो मन मनाने की वैराग्य भावना हो तो भी वह सुक्की भावना बेचारी पंगु बन जाती है । वह भावना तो नाम की रह जाती है । वास्तव में तो इष्ट संयोग का आर्तध्यान शुरू हो जाता है, वह मन को पकड़ लेता है और राग को पुष्ट बना देता है।

### ललितांग का क्या हुआ ?

ललितांग राजकुमार ने मंत्रीपत्नी के दर्शन का सेवन किया और समागम की मांग की । वहां फिर सामने के मोहक गद्गद शब्दों के प्रति आकर्षित हुआ और अब रोज के सम्बन्ध पर मन लगाता है । मंत्रीपत्नी राजकुमार की प्रार्थना का निमित्त मिलने पर पतन के मार्ग की ओर चलने लगती है ! इसमें एक बार वह राजकुमार की कायमी समागम की प्रार्थना स्वीकार करती है और कुमार को उपाय बताती है ।

**मन्त्रीपत्नी उपाय करती है :-**

मंत्रीपत्नी कहती है-‘देखो, तुम्हारे आवास से तुम एक गुप्त सुरंग खुदवा दो, जो मेरे घर के कुंए के अन्दर की दीवाल तक आये ! वहाँ पर अपने सेवको को मुझे पकड़ने के लिए रखना । इस ओर मैं पति के साथ रोज थोड़े-थोड़े भगड़े का निमित्त बना-ऊँगी और सुरंग तैयार हो जाने पर एक दिन भगड़ा बढ़ाकर कुंए में गिर पड़ुंगी, वहाँ तुम्हारे सेवक मुझे चढ़र में भेलकर पकड़कर तुम्हारे महल में ले आये, ऐसी व्यवस्था कर देना । फिर सब कुछ गुप्त रूप से चलता रहेगा ।”

कितना खतरनाक उपाय ? इसमें सदाचार को टिकने के लिए जगह ही कहाँ रही ? कुमार विषयान्ध बना है, जागी हुई कामवासना के कठोर बनने के बदले विह्वल बना है । अब वह कैसे वचेगा ? उसने गुप्त सुरंग खुदवायी, वहाँ सेवक भी रखे । मंत्रीपत्नी ने बिना काम पति के साथ भगड़ा बढ़ाते-बढ़ाते उसने कहा-‘यह जो, तुम्हें यदि ऐसा ही करना है, तो मैं तो मरती हूँ ।’ ऐसा कह कर वह चली नीचे । कुंए में पहले पत्थर गिरा कर बाद में स्वयं कूद गयी । अन्दर कुमार के सेवकों ने उसे तुरन्त पकड़ लिया और वह कुमार के गुप्त आवास में पहुँच गयी ।

इस ओर मंत्री की दशा देखिये ।

जैसे ही पत्नी कुंए में गिरी, मंत्री ने तुरन्त उसे बाहर निकालने के प्रयत्न किये । नौकरों को बुलाकर कुंए में उतारा । उन्होंने कुंए में बहुत देखा, पर मंत्रीपत्नी तो पहले ही राजकुमार आवास में पहुँच गयी थी, कुंए में कैसे मिलती ? सेवकों ने सोचा कि शायद गहराई में नीचे डूब गयी है ! उन्होंने ये समाचार मंत्री से कहे, उसके खेद का पार न रहा ।

वास्तविकता कुछ है और प्रत्यक्ष में कुछ और ही दिखता है कि बेचारी पत्नी मंत्री के अत्याचार से तंग आकर कुंए में गिरी। आप ही बताईये, सच क्या है ? आप ऐसी कई उड़ी-उड़ायी बातों पर विश्वास करते हैं न ? लेकिन समझ लीजिये कि प्रत्यक्ष दिखने वाला सब कुछ सच्चा नहीं भी होता । जो चमके वह सब सोना नहीं । इसलिए लोगों की बातें सुनकर गलत धारणायें मत बनाईये। मानी गई गलत बातों को फैलाने में लोगों को क्या ?

### मन्त्री की करुण दशा :—

लोगों में बात फैल गयी कि 'मन्त्री के रोज के भगड़ों से परेशान होकर उसकी पत्नी ने कुंए में गिरकर आत्महत्या कर ली । कैसा नालायक मन्त्री ।' यह बात राजा के कानों तक भी पहुँची और राजा गुस्से से भर उठा ! मन्त्री की सारी जायदाद जप्त करके उसे मंत्रीपद पर से हटा दिया । लोगों में मन्त्री पर धिक्कार बरसने लगी ।

कैसा जुल्म है यह ? दुराचारियों के षड़यन्त्र के पासे सीधे पड़ते हैं और सदाचारियों को बिना किसी अपराध के सजा मिलती ! ! यह दुनियां सच्चों की है या भूठों की ? दुनिया को क्या ? वह तो ऊपर ऊपर से देखती है, अन्दर थोड़े ही उतरती है ? अन्दर चाहे पोल चलती हो, ऊपर से दिखावा अच्छा है न ? बस, दुनिया लो इतना दिखा कि झूठ उसमें कूद पड़ती है ! जल्दी से सर्टिफिकेट बना लेती है, चाहे वह सर्टिफिकेट बोगस ही क्यों न हो ?

### मयणासुन्दरी :—

को लोगों ने बोगस सर्टिफिकेट दिया न ? लेकिन उसके



अन्दर तत्त्व दृष्टि थी और उस तत्त्व दृष्टि की रक्षा के लिए, कोढ़ी पति को भी स्वीकार लेने का, सत्त्व था । कैसे अनुपम गुण थे ? लेकिक लोगों को यह सब कहां देखना है ? उसकी कद्र कहां करनी है ? 'बस, पिता के सामने बोली ? लो, उसी का फल इसने पाया है ।' लोगों की ऐसी बातों से भी मणयासुन्दरी घबरायी नहीं ! उसका असर मन पर बिल्कुल नहीं होने दिया !

जीवन में यह एक जबरदस्त बोधपाठ लेने जैसा है कि- 'हम सन्मार्ग पर चलते हों, तत्त्वदृष्टि से वर्तन करते हों, उसे समझे विना अज्ञानी लोग ऊपर-ऊपर से देखकर झूठे अभिप्राय रखें, निन्दा करे, उससे डरकर हम सन्मार्ग व तत्त्वदृष्टि से चलित न बनें । न उनको निन्दे न उनको छोड़ दे ।

देखिये, कहीं सहन करने का आया, तब उसे तत्त्वदृष्टि या सन्मार्ग के खाते में नहीं, किन्तु कर्म के खाते में लिखियेगा । मतलब उस समय ऐसा नहीं मानना कि मैंने तत्त्वदृष्टि रखी या सन्मार्ग पकड़ रखी इसलिए यह सहन करने का आया' किन्तु यही मानना कि—“अपने कर्म के उदय के कारण ही ऐसा सहन करने का प्रसंग आया है । अपने अशुभ का उदय हो, तो लोक में अपकीर्ति होती है, लेकिन उससे तो यह लाभ है कि इस में ऐसे कर्म भोगकर नष्ट हो जाते है, चिन्ता की कोई बात नहीं । अशुभ कर्म के कारण अपकीर्ति होती है, उससे सन्मार्ग बुरा सिद्ध नहीं होता या तत्त्वदृष्टि बुरी नहीं साबित होती । इसलिए मुझे ऐसा बिल्कुल नहीं मानना है कि सन्मार्ग या तत्त्वदृष्टि से चलने के कारण ऐसा कष्ट आया ।”

आपत्ति—संपत्ति को कर्म के खाते में लिखने से मन स्वस्थ

रहता है, प्रशान्त रहता है, और सन्मार्ग व तत्त्वदृष्टि को न्याय दिया जाता है, उन दोनों की कीमत विल्कुल नहीं घटती । मयणासुन्दरी ने लोक-निन्दा को कर्म खाते में लिखा, तत्त्वदृष्टि के खाते में नहीं। उसने ऐसा नहीं माना कि—‘यह तत्त्वदृष्टि रखने से उपाधि हुई ।’ उसने तो यही माना कि ‘कर्म के उदय से मेरी निन्दा हुई ।’ तत्त्व-दृष्टि के कारण निन्दा हुई, ऐसा मानकर तत्त्वदृष्टि का मूल्य क्यों घटाये ?

सन्मार्गस्थ होने पर भी बेचारे मंत्री को लोक-निन्दा मिली राजा की ओर से फटकार व सबकुछ ज्वल होने की सजा मिली । मन्त्री की पत्नी तो गयी सो गयी, ऊपर से इज्जत मिट्टी में मिली व सब कुछ चला गया ! लोगों की बात पर क्या किया जाय ? मंत्रीपत्नी व राजकुमार का यह कैसा भयंकर अपकृत्य !

प्रपंच और अनाचार से खुद तो मर ही रहे हैं, साथ में मंत्री को भी मार रहे हैं ।

**गवान के हक का तुम्हारे यहां हैं ?**

**१) विषयान्धता में आपत्ति के सच्चे कारण की जानकारी नहीं होती :-**

विषय की लंपटता में जीव भयंकर अनर्थों को भी देखने के लिए तैयार नहीं होता, उसे अनर्थों की परवाह नहीं होती । चाहे जैसा नुकसान हो जाय, लेकिन उसकी अति मूढता उसे ऐसा मानने भी नहीं देती कि ‘मेरी विषयलंपटता के कारण ही यह सब हुआ है ।’ शादी करने के बाद कभी ऐसा लगता है कि ‘ये आपदायें मेरी दुष्ट विषय लालसा के कारण आयी है । संसार सुख के मजे लेने

का मन हुआ, एक से दो बना, इसी कारण कितने पाप-स्थानकों का सेवन करना पड़ता है और आपत्ति — संकट व चिन्ता संताप आया करते हैं !' ऐसा मन को लगता ही कहाँ है ? मन तो कहता है —

‘जीना है, इसलिए पापस्थानकों का सेवन तो करना ही पड़ता है न ?’

अरे भाई ! ब्रह्मचारी नहीं जीते ? साधु नहीं जीते ? उन्हें हैं इतने पापस्थानक ? एक तो तेरी वासना के पाप से घरवाली करने गया, फिर उसकी खातिर और उसके बच्चों की खातिर क्या कुछ नहीं करता ? क्या किसी की लड़की पर दया आ गयी थी कि ‘बेचारी को कौन संभालेगा, इसलिये चलो, मैं ही उसका हाथ थाम लूँ, उसे मोज कराऊँ !’ यदि दया ही होती, तो सुन्दर व रूपवती स्त्री खोजने न गये होते ! खैर सुन्दर स्त्री लायी भी सही, लेकिन आंख-नाक आदि इन्द्रियों में लुब्ध न बना होता । मूल में दया-क्या कुछ नहीं है, विषयलंपटता ने ही बेडी स्वीकारी और जोरदार पाप-स्थानकों का सेवन करते गये, आपत्तियां व चिन्ता-सन्ताप भी उसी के कारण पैदा हुए हैं ।

मोह की मोहिनी की यह खूबी है कि आपत्ति या चिन्ता आने पर बेचैनी होती है, लेकिन वह ऐसा नहीं मानने देती ‘कि इसका मूल कारण तो मेरी विषय लंपटता है ।’ यदि ऐसा समझ में आ गया होता तो संतान को बारंबार शिक्षा देते कि ‘देख भाई ! इस संसार की चाहना मत करना । नहीं तो हमारी तरह पार बिना के पाप-स्थानकों का सेवन करना पड़ेगा और पार बिना की आपत्तियां, चिन्तायें और सन्ताप आया करेंगे !’ कहिये, संतान को

बचपन से ही ऐसा सिखाते हैं ? नहीं । क्योंकि मूढ हृदय को यह सगा ही नहीं है कि 'मेरी विषय लंपटता के कारण ही यह पाप-स्थानक व चिन्ता-संताप-आपत्ति भरा जीवन बना है । पापाचरण और दुःखवेदन के मूल में मेरी कामवासना ही जवाबदार है ।' ऐसा खुद को ही न लगा हो, तो फिर संतान को कैसे सिखायेंगे ? आपत्ति के सही कारण की जानकारी ही कहाँ है ?

## (२) पाप कमाई पर झूठा अधिकार :-

विषय लंपटता बुरी है ! वह 'पाप और दुःख उसके ही कारण है !' यह सत्य तो समझने नहीं देती, ऊपर से पाप कमाई पर झूठा अधिकार जमवाती है ।

वह किस प्रकार ?

इस प्रकार कि विषय लंपटता से पत्नी को घर पर ले आया, उसकी खातिर धंधा किया, पैसे कमाकर लाया । उसमें ने अपना व उसका पूरा भी किया, परन्तु बाद में बड़े हुए पैसे शुभ कार्य में खर्च करता है ? नहीं ! वहाँ तो कहेगा 'यह तो मेरे पत्नीने की कमाई है, क्या वह बाहर फेंक देने के लिए है ? पैसे पर कंसा अधिकार स्थापित करता है ?

विषय लंपटता के कारण बाल-बच्चे पैदा हुए । वहाँ भी अधिकार जमाता है कि 'यह तो मेरो संतान है, शासन को सौंप देने के लिए नहीं हैं ।' अपने पुण्य से बच्चों ने यहाँ जन्म लिया, लेकिन यहाँ पर विषयान्ध और स्वार्थी माँ-बाप के कब्जे में आ गये, तो माँ बाप अधिकार जमाते हैं । कैसे अधिकार हैं ? मूल में संसार सुख की लालसा पर पाप किए, अब उसमें पूर्व के पुण्य

से हुई कमाई पर ऐसा अधिकार जमाना है कि वहाँ न तो दान है न हित दृष्टि । पैसे का दान नहीं और सन्तान के हित की दृष्टि नहीं ! परिणाम ? रव-पर का निकन्दन ! कैसा अधिकार जताते हैं ?

**(३) पूज्य भाव — सेवा भाव उपकारी पर से दूसरों के प्रति :—**

विषय लंपटता बुरी है ! वह देव-गुरु-तीर्थ आदि को नीचे रखवा देती है ! जब तक लड़की की शादी न हुई हो, तब तक अपने महा उपकारी माता-पिता के लिये अपार पूज्य भाव, भक्ति भाव व सेवा भाव रखती है—‘मेरी माँ की क्या बात करूँ ? मेरे पिताजी का तो कहना ही क्या ?’ लेकिन शादी होने के बाद ? ‘मेरे पतिदेव की तो क्या बात करूँ ! वे सब कुछ कर लेंगे ।’ सेवा-भक्ति-पूज्यभाव माता-पिता पर से पति की ओर झुक जाता है ! माँ-बाप के उपकार जैसा पति का कोई उपकार है ? नहीं । तो ऐसा क्यों ? विषय लंपटता के कारण ।

**(४) समत्व में भी कैसा परिवर्तन आ जाता है ?**

विषय लंपटता बुरी है । माँ-बाप के प्रति लड़के का व्यवहार कैसे बदल जाता है ? शादी होने के बाद पत्नी को ऊपर चढ़ाता है और माँ को तो किसी गिनती में ही नहीं लेता ! पत्नी की सलाह कीमती गिनता है और माँ-बाप की सलाह की कोई कीमत नहीं । घरवाली की खबर तो बार-बार पूछता है और माता-पिता की खोज-खबर तो शायद दिन में एक बार भी नहीं लेता ! घरवाली की ‘सन्तान’ को ‘अपनी’ मानता है,

लेकिन माता-पिता को 'अपने' नहीं मानता । ममता माँ से पत्नी पर आ जाती है ।

## सोने की कंठी किस के गले में ?

कहिये, माता-पिता तो प्रत्यक्ष उपकारी दिखते हैं, उन्हें भी नीचे की श्रेणी में रखते हैं, तो फिर रोकड़े रुपये या विषय सुख देने का उपकार जिनमें प्रत्यक्ष रूप से नहीं दिखता, ऐसे देव-गुरु को आप किस श्रेणी में रखेंगे ? गुरु कहे वह कुछ नहीं और घर वाली कहे, वह लाख रुपये की बात ! बाजार में पाँच पैसे ज्यादा कमाये और सोने की कंठी खरीदी, तो वह कंठी किसके गले में डालेंगे ? भगवान के गले में ? माँ के गले में ? या घर-वाली के गले में ? माता-पिता, देव-गुरु आदि को नीचा स्थान क्यों ? कहिये, विषय लंपटता बुरी है । यह विषय लंपटता विषय पात्र को तो ऊपर चढ़ाती है और पूज्य उपकारी व गुण संपन्नों को नीचे बिठाती है । अरे ! उन उपकारियों की अवगणना भी कराती है ।

## (५-६) देह में तन्मयता भरपूर आर्तध्यान :-

विषय लंपटता कैसी बुरी व खतरनाक है ! वह आत्मा का भान भुलाकर देह में ही तन्मय रखाती है । इससे जोरदार आर्तध्यान सुलभ बनता है । देखिये, आर्तध्यान किन-किन बातों पर चलता है ? ज्यादातर आर्तध्यान मनपसन्द-नापसन्द शब्दादि विषयों के संयोग-वियोग के बारे में ही चलता है न ? यह क्या है ? इन्द्रियों को विषयों की लंपटता लगी हुई है, इसलिए चित्त उनकी चिन्ता में पड़ा ही रहेगा ? वह बहुत सताने लगे, तो उसमें से अनर्थकारी अपकृत्यों का सर्जन होने लगता है, इसमें



कोई बड़ी बात नहीं है। यह सब विषय लंपटता के कारण ही है।

राजकुमार ने ऐसा कदम उठाया कि बेचारे मंत्री की तो हालत खराब हो गयी ! परन्तु इसी निमित्त से राजकुमार में कैसे बदलाव आता है, यह देखिये !

### राजकुमार में परिवर्तन :

मंत्री की भयंकर दुर्दशा देखकर राजकुमार ललितांग के दिल में एकदम आघात पहुँचा कि 'अरे ! मेरे गलत कदम का ऐसा परिणाम ?' अब तक तो राजकुमार को कल्पना भी नहीं थी कि 'पत्नी के कुँए में गिरने के बाद लोक में मन्त्री की इतनी निन्दा होगी और राजा उसका सब कुछ जव्त करके उसे निर्धन बना देगा।' परन्तु ऐसा ही हुआ ! मंत्री के ओहदे पर बैठा एक व्यक्ति, उस बेचारे का कोई कसूर नहीं, फिर भी इतनी दुर्दशा ! राजकुमार को भारी पछतावा हुआ। 'अरे ! मैं कैसा दुष्ट ? यह मैंने क्या कर डाला ? धिक्कार है मेरी विषय लंपटता को ! हे जीव ! यह घोर पाप करके तू कहाँ जाएगा ? मरना तो है ही। लेकिन मरने के बाद तेरा क्या हाल होगा ? भयंकर दुर्गति-भ्रमण ! वस, अब मैं इस पाप को और नहीं निभा सकता।'।

वस, सच्चे पश्चात्ताप व स्वात्म निन्दा की जरूरत है ! अज्ञानतावश, मोहमूढ़तावश, कषायवश पाप हो गये, लेकिन बाद में वे पाप करने का संताप व पश्चात्ताप हो, उन पापों का सेवन करने वाली अपनी आत्मा अधम-कुटिल-मूढ़ लगे, तो पतित आत्मा के भी उद्धार का अवकाश है। यदि पाप का पश्चात्ताप ही नहीं है, मन में पाप करने का कोई दुःख नहीं लगता, उल्टे

अपनी आत्मा की बड़ाई ही लगती है, आत्मा की अधमता दिखती ही नहीं है, तो उसका उद्धार कैसे होगा ? उत्थान कैसे होगा ? सुवह-शाम प्रतिक्रमण करने में यह खूबी है कि वह उत्थान का प्रथम सोपान खड़ा करता है। सच्चा प्रतिक्रमण हो, तो उसमें छोटे-बड़े कई पापों का पश्चात्ताप होता है और पापी ऐसे स्वयं पर धिक्कार होता है कि—‘मैं कैसा दुष्ट हूँ कि मैंने ऐसे पापों का सेवन किया !’

अब यह समझ में आयेगा कि जो प्रश्न बार-बार उठता है —

प्र० प्रतिदिन पाप का आचरण करना, फिर प्रतिक्रमण का क्या अर्थ ?

उ० इसका अर्थ यह है कि प्रतिक्रमण से रोज के रोज पापों का पश्चात्ताप, पापों के प्रति घृणा व पाप करनेवाली अपनी आत्मा के प्रति दुर्गन्धा हुआ करती है, इस प्रकार उत्थान के प्रथम सोपान की रचना होती है। रोज प्रतिक्रमण नहीं करने वाले को पाप के प्रति इतनी घृणा व संताप कहाँ से होगा ? ‘रोज पाप करें, फिर प्रति मरण का क्या अर्थ ?’ ऐसा कहने वाला तो यही समझ बैठा है कि ‘अगर पाप छूटते नहीं हैं, तो उनका संताप-पश्चात्ताप, घृणा-अफसोस करना भी निरर्थक है। ‘जिसका खप हो, उसका शोष नहीं,’ ऐसी दशा आ खड़ी होती है। यदि पश्चात्ताप ही नहीं है, तो कभी भी पाप छोड़ने की बात ही कहाँ से होगी ?

पापत्याग के लिए पहला जरूरी उपाय पाप पश्चात्ताप है। झूठ बोलना बुरा लगे, तो कभी न कभी वह छुटेगा। लेकिन जिसे झूठ बोलना बुरा ही नहीं लगता, वह क्यों छोड़ेगा ?

प्रतिक्रमण पाप-त्याग की यह पहली भूमिका तैयार करता है कि वह पापों की बुराई महसूस कराता है, पाप का पच्चाताप जगाता है। 'प्रतिक्रमण की क्या जरूरत है, अथवा 'प्रतिक्रमण करें या न करें, सब समान ही है' ऐसा कहने वाले को पाप का पश्चाताप अच्छा नहीं लगता। तो फिर उसे पाप कहाँ बुरे लगे ? और पाप छोड़ने की तो बात ही कहाँ ?

प्र० लेकिन घर लेकर बैठे इसलिये पाप तो करने ही पड़ते हैं न ?

उ० 'पाप करने पड़ते हैं, ऐसा मानने के बाद मन में ऐसा भी रहता होगा न कि 'पाप करने में कोई हर्ज नहीं ?' पाप में हर्ज न लगे, यह कौन-सी दशा है ? उसमें भी 'घर लेकर बैठे हैं', यह सूत्र पकड़कर चले, इसलिये घर को चलाने के लिये मनमाने पाप करना जरूरी गिनते हैं। उदाहरण के लिये :- मन को लगता है कि 'मेरे स्वयं के लिये और मेरा संसार निभाने के लिये मुझे कई खर्च करने पड़ते हैं, भगवान की पूजा में रोज दूध-चन्दन धूप ले जाने के लिये मेरे पास जगह ही कहाँ है ? तरण-तारण परमात्मा की भी उपेक्षा करने का पाप होता है न ? वह पाप करने में कोई हर्ज तो नहीं है न ? भगवान के प्रति कृतज्ञता भूलने का पाप तो नहीं होगा न ? घर लेकर बैठे, इसलिये यह पाप करने में कोई हर्ज नहीं, पाप करना ही पड़ता है,' ऐसा मन में होता है न ?

**भगवान की पूजा क्या मांगती है ?**

कुटुंब के लिए दो-तीन लीटर दूध लायेंगे, लेकिन भगवान के पक्षाल के लिये पाव लीटर दूध भी ले जाते हैं ? कुटुंब के लिये

इतने खर्च करते हैं, लेकिन परम उपकारी भगवान के लिये महीने में एक गज का अंगलूछना देते हैं ? घर के लिये बारह आने की सब्जी लायेंगे, लेकिन भगवान की पूजा के लिये दस पैसे के फूल लाते हो ? अनाज के भारी खर्च चलते हैं, पूजा में एक अगरबत्ती ले जाते हो ? बाहरी साजसज्जा में इतना खर्च करते हैं, पूजा के बरख का एक पत्ता भी कभी उपयोग किया है ? चांदी की एक थोरड़ी कितने में आती है ? 10-11 रुपये में उसके कितने ? 16 उसके चौथाई टुकड़े होंगे 64 । भगवान की पूजा में उसमें से रोज एक चौथाई टुकड़ा लिया जाय, तो चौसठ दिन तक चले । 64 दिन में इतना खर्च तो आपसे हो सकता है न ? एक अगरबत्ती का पेंकेट कितने में आता है ? दो तीन रुपए में । उसमें कितनी सलियां होती हैं ? 25-30 एक के तीन-तीन टुकड़े किए जायें तो 75-80 टुकड़े होंगे । रोज एक टुकड़ा मन्दिर में ले जायें, तो 75 दिन का खर्च कितना हुआ ? इतना तो आप कर सकते हैं न ?

क्या आपको नियम है कि प्रभुकी पूजा में रोज कम से कम अगरबत्ती का एक टुकड़ा और बरख का एक चौथाई पत्ता ले जाऊंगा !

महीने में एक अंगलूछणा ले जाने का नियम है ?

किसी सांसारिक प्रसंग में लाखों का खर्च करते हैं लेकिन भगवान की आंगी के लिये 5-10 रुपए भी आपको मिलते हैं ?

भगवान के हक का तुम्हारे वहां कुछ है ?

घर में दो बच्चे बढ़ जाये, तो उनके लिये खर्च करने के लिये तो आपके पास पैसे हैं, परन्तु भगवान के लिये तुम्हारे वहां क्या है ? भगवान का माल मिल गया, फिर भगवान के लिये आपके पास कुछ नहीं है, ऐसा ही है न ? इसीलिये तो भगवान को

घंट सौंप दिया है न ?

**बूढ़े बाप को घंटो पकड़ा दी :-**

एक सेठ ने भोले बनकर स्वार्थ माया से सेवा-विनय करने वाले पुत्र को दुकान और पैसे सौंप दिये । बस, अब पुत्र को मन-चाहा मिल गया, फिर पिताजी की क्या जरूरत ? सेवा-विनय में कमी आती गयी ।

पुत्र वधु कहती है- 'बापुजी ! आपको पेशाब के लिये व पानी आदि पाने के लिये बार-बार नीचे उतरना पड़ता है, इसलिये अब नीचे ही उठने-बैठने का रखिये । आपके लिये भोजन भी नीचे भेज दिया करूंगी ।' बूढ़े को नीचे उतारा ।

भोचन भेजने में कभी-कभी देर हो जाती, तो बूढ़ा पूछता 'ऐसा क्यों ?' बहू कहती- 'घर के काम काज में ऐसे ही हो जाता है । इसलिये लीजिये, यह घंटो रखिये । समय होने पर घंटो बजा दिया कीजियेगा, तुरन्त खाना पहुँच जायेगा ।'

क्या पकड़ाया बूढ़े को ? घंटो । आपने भी भगवान के आगे घंट इसीलिये रखा है न ? घंट बजने पर सिर्फ भगवान के दर्शन ही करके जायेंगे ? या

आपको मिले हुए भगवान के माल में से भगवान के आगे कुछ धरेंगे ? कितनी रकम रखेंगे ?

आप भगवान के माल का उपयोग करते हैं, यह आप जानते हैं न ? यह सुन्दर मनुष्य अवतार आपको आपके माता-पिता की होशियारी से मिला है ? या तुम्हारी स्वयं की चतुराई

से मिला है ? क्या आप पूर्व भव से यह घर पसन्द करके चलकर यहाँ आये हैं ? नहीं । आपने भगवान की उपासना की, इसलिये भगवान के प्रभाव से ही तुम्हें यहाँ आने की पुण्य की टिकट कटी । इसी तरह अच्छा शरीर, पांचो इन्द्रियों की परिपूर्ण मन भी पागल नहीं, स्वस्थ मिला । यह सब भगवान के ही प्रभाव से मिला ।

## एक मन की कमी से कितनी कमी ?

अरे ! मनुष्य भव, अच्छा शरीर, पांचों इन्द्रिय और आरोग्य — सब कुछ मिलने पर भी यदि मन पागल बने या मिले, तो कैसी दशा हो ? देखिये थाणा की अस्पताल में कितने पागल भरे हुए हैं ? भगवान को भजने में कुछ कमी रही, तभी पागलपन मिला । फिर अपने ही स्वजन—संबन्धी घर से उठाकर पागलों की अस्पताल में रख आयेगे ।

भगवान के प्रभाव से आपने कितना पाया है ? कर्म सत्ता भगवान का पक्ष लेती है । जो भगवान को भजता है, कर्मसत्ता उसीके अनुकूल हो जाती है । इसीलिये अच्छे खानपान, मकान, कपड़े—लते, दुकान, पैसे प्रतिष्ठा आदि कितनी चीजें भगवान के प्रभाव से मिलीं ।

उस पुत्र को पिता ने लाखों की संपत्ति दी, अब पिता धर्मकार्य के लिये थोड़े पैसे मांगता है, तो पुत्र कहता है 'मेरे पास पैसे नहीं है ।' यह पुत्र कैसा ? लायक या हरामखोर ? क्यों ? वह समझता है कि पिता के हक का मेरे पास क्या है ? इसी तरह आपको भी बस भगवान के प्रभाव से माल मिल गया, अब क्या ? तो आप कहेंगे कि भगवान के हक का मेरे पास कुछ नहीं है, ऐसा ही न ?



कहिये, भगवान के हक का तुम्हारे पास कुछ है ? संसार-व्यवहार के अनेक प्रकार के हक आप रखते हैं, वे सब आपके पास से अपना हक मांगते हैं, लेकिन भगवान के मन्दिर-उपाश्रय आदि के साधारण खाते आपके पास से कुछ खर्च मांगते हैं ? उनका आप पर कोई हक है ? मन्दिर-उपाश्रय में देव दर्शनादि धर्मक्रिया करके पुण्य के ढेर चाहिये, जिससे भविष्य में लाखों रुपए ही नहीं, अरबों रुपयों से भी जिसकी कीमत न आंकी जा सके, ऐसी सद्गति मिलती है, परन्तु साधारण के खर्च में बराबर देना नहीं है । क्यों ? 'भगवान के हक का तुम्हारे यहाँ क्या है ?' कौनसी बुद्धि से काम चल रहा है ?

भगवान की भक्ति करने की बात तो दूर रही. लेकिन भगवान के अपार उपकार की कृतज्ञता के रूप में भी कितना देना चाहिये ?

पिता ने सब कुछ दे दिया, उसके बाद दी हुई संपत्ति पर बाप का कोई हक न माने, वह पुत्र सपूत या कपूत ?

इसी तरह परमात्मा के प्रभाव से मानवभव से लेकर कितना माल मिला, अब उस पर भगवान का कोई हक न माने, तो उसे क्या कहा जायेगा ? हक का कुछ भी भगवान के आगे न धरे, काया परमात्मा की क्रिया में नहीं काम में ली, आँख का उपयोग भगवान को स्थिरता पूर्वक देखने में नहीं किया, कान को भगवान की वाणी सुनने में नहीं लगाया, जीभ से भगवान के गुण नहीं गाये और भगवान के शास्त्र कण्ठस्थ नहीं किये । सात क्षेत्रों में खर्च करने के लिये और भगवान को प्यारे जीवों की दया करने में पैसे उपयोग नहीं किया और चार पुत्रों में से

एक को भी भगवान के शासन के लिये समर्पित नहीं किया । वह कृतज्ञता या कृतधनता ?

‘घर लेकर बैठे हैं, इसलिये पाप करने ही पड़ते हैं’ ऐसा मानने के बाद ‘यह कृतधनता का पाप और भगवान की उपेक्षा का पाप भी करना पड़ता है, वह करने में कोई हर्ज नहीं है,’ ऐसा ही न ? यह कैसी दुर्दशा ? इसमें ढेर सारे वह चिकने आर्तध्यान चलते रहेंगे न ? यदि अरिहंत देव के प्रति ऐसी कृतज्ञता नहीं है और वह न होने का संताप नहीं है, फिर तत्त्व की बातें करें या दिखावे के लिये योग, क्रिया या ध्यान लेकर बैठें, तो क्या वह शुभध्यान में है ?

जिसे पाप में कुछ हर्ज नहीं लगता, उसे पाप का पश्चात्ताप कहाँ से होगा ? वह प्रतिक्रमण क्यों करे ? जो पाप करने पड़ते हैं, उनका पश्चात्ताप—प्रतिक्रमण हो, तो वहाँ कम से कम पाप बुरे लगेंगे पाप बुरे लगे, पाप का पश्चात्ताप हो, यह उत्थान पहला सोपान है और पाप का भय न होना यह पतन की पहली सीढ़ी है ।

### ललितांग ने क्या किया :

ललितांग राजकुमार को मंत्री पत्नी को उठाने से और इस कारण से मंत्री पर बरस पड़ी भयंकर आपत्ति का पश्चात्ताप जागा । वह मंत्री पत्नी से मंत्री को बचाने के लिये कहता है— ‘यह बहुत बुरा हुआ । अब तो राजा को सारी बात बताकर मंत्री को बचा लेना चाहिये ।

मंत्री—पत्नी कहती है—‘यह आप क्या कह रहे हैं ? राजा

को सारी बात बताकर अब क्या मुझे मरना है ? आप कुछ मत कहना । यह तो सब चलता ही रहता है ।' कंसानिर्दय, निष्ठुर स्त्री हृदय ?

राजकुमार कहता है— 'हम तो अपराधी हैं, जबकि मंत्री तो एकदम निर्दोष है । मारने के लायक तो हम ही हैं, मंत्री नहीं ।' वस, वह गया अपने पिता राजा के पास और भारी खेद व आँखों में आंसू के साथ जो घटना घटी थी, वह अथ से लेकर इति तक बता दी । राजा को भारी आश्चर्य के साथ दुःख हुआ कि स्वयं ने मंत्री के प्रति घोर अन्याय किया और स्वयं के ही पुत्र ने ऐसा अमम कार्य किया ! राजा को पुत्र पर गुस्सा आया और मंत्री के प्रति आदर हुआ ।

अब क्या किया जायः मंत्री पद पर से हटाये हुए मंत्री को पुनः बुलाया, हाथी पर बिठाकर बड़े स्वागत के साथ नगर प्रवेश कराया उसे उसकी पत्नी सौपी और राजकुमार को देशनिकाला दिया । लोगों में राजाकी न्यायप्रियता व मंत्री की निर्दोषता की प्रशंसा होने लगी । राजकुमार परदेश चला गया । उसे देशनिकाले का दुःख पाने का खेद नहीं है लेकिन उसे पापाचरण का भारी खेद है । इसलिए देखिये, अब वह क्या करता है ।

### पापशल्य भयंकर : तप का प्रभाव

ललितांग का संताप :- राजकुमार ललितांग के दिल में 1. मंत्रीपत्नी में मोहित होने का, 2 उसे पाने के लिये कपट-जाल करने का तथा 3. इस निमित्त से मंत्री को भयंकर विडंबना में डालने का इतना दुःख और संताप चला करता है कि उसको

चैन ही नहीं पड़ता । उसके मन में ऐसा ही होते रहता है कि 'क्या कर डालूँ ?' उसे लगता है कि 'मैं जीने के लायक नहीं हूँ । यह धरती मुझ जैसे घोर पापी के बोझ से भारी हो रही है । हाय ! ऐसा उत्तम मानव जन्म मैंने पाशविक पापाचरण से कलंकित कर डाला ! अब तो यही अच्छा है कि मैं आत्महत्या कर लूँ । पिता ने सजा दी, उसका दुःख नहीं है, पापों का दुःख है ।

### साधुदर्शन : साधु संत का मूल्य :-

ललितांग के मन में संताप व आत्महत्या करने के विचार चलते रहते हैं । ऐसे में उसे त्यागी निर्ग्रन्थ मुनि महाराज मिल गये । चिन्ता से झुलसते हुए कुमार ने मुनिराज को देखकर उनके आगे अपने दिल की उलझन रख दी ! साधु जैसे दयालु और कौन मिलेंगे ? वे तो घोर अपराधी पर भी दया करने वाले होते हैं, इसलिये अपराधी को उनके पास से आश्वासन मिलने की आशा रहती है । फिर उनके आगे दिल खोलने का मन क्यों नहीं होगा ? दुनिया में अपराधी को आश्वासन देने वाला दूसरा कौन है ?

प्र०-सगी माँ, अच्छा मित्र या पत्नी तो, आश्वासन देती है न ?

उ०-वे भी कहाँ तक आश्वासन देंगे ? और उनका मानें तो देंगे ।

दूसरी बात यह भी है कि ऐसे अपराध के बाद सच्चा रस्ता ज्यादातर साधुसंतों के पास से ही मिलता है । अपराधी

व्यक्ति को जो रास्ता साधु-संत बताते हैं, वंसा रास्ता सगे-संवन्धी कहाँ से बतायेंगे ? स्वयं मोह में पड़े हुए और मोहमय जीवन जीने वालों के पास से आत्मा के हित की प्रेरणा कहाँ से मिलेगी ? साधुसंतों ने मोह को हटा दिया है, इसीलिए वे दूसरों को सच्चा मार्ग बता सकते हैं । इसीलिए अपराधी जीव को उनके आगे दिल खोलकर अपने पाप कहने का दिल होता है और इस तरह वे दिल खोलकर बात करते हैं ।

**स्वमान छोड़ने पर ही पाप का इकरार होता है :-**

इतना तो सच है कि पहले तो अपने दिल में पापाचरण की भयंकरता लगनी चाहिये । वह ऐसी लगे कि उसके आगे फिर अपना स्वमान भी दो कौड़ी का लगे । यदि स्वमान ही सताता रहे, तो भयंकर पाप भी साधु के आगे कहने का मन नहीं होगा ।

**कौन भयंकर ? पापशल्य या स्वमान ?**

क्या यह मान की मूर्खता नहीं है कि उसे पाप करना जितना बुरा न लगे, उतना अपना स्वाभिमान नष्ट होना बुरा लगता है ? जीव को भान नहीं है कि 'तेरे मन की क्या बहुत कीमत है ? अपने स्वाभिमान को चाहे जितना संभाला जाय परन्तु यदि दूसरी ओर किसी ऐसे अपयश नाम कर्म का उद जगे, तो लोक में निन्दा होगी । उस समय तेरा मान कहाँ रह वाला है ?' सोता चाहे जितनी अच्छी थी, लेकिन उसके पूर्वोपाजितअशुभ कर्म के उदय से उसकी भी निन्दा हुई और जंगल में जाना पड़ा । कहाँ रहा मान ?

इसलिये स्वमान नष्ट होने के भय में पापाचरण गुरु

को न कहकर उसका शल्य दिल में रखकर परलोक जायेंगे, तो वहाँ कैसी भयानक परिस्थिति का सर्जन होगा, उसका कोई भय नहीं ? समझ रखिये,— यहाँ पर थोड़ा मान चला जाय, उसका दुःख तो बहुत कम होगा, लेकिन परलोक में पाप के फल भयंकर होंगे ।

**पापशल्यों के योग से तो दुहरी विडम्बना होती है ।**

एक बाजु पूर्व के पापाचरण से बंधे घोर अशुभ कर्मों के कारण दुःख-पीड़ा का पार नहीं और दूसरी तरफ हृदय में रखे हुए पापशल्य के प्रताप से पापबुद्धि—दुर्बुद्धि की सीमा नहीं रहती । कैसा करुण जीवन ? दुःख भोगने पर भी पापबुद्धि नहीं छटती । उसमें भी मुसीबत तो यह है कि दूसरे जन्म में पूर्व के पापाचरण याद नहीं आते, इसलिए अब किस तरह अपने पाप गुरु के आगे बताकर दिल में से पाप का शल्य निकाले ? इसीलिये च्छा रास्ता यही है कि इस जीवन के पापाचरण दिल में शल्य बनकर न चुभे और परभव में ये असाध्य रोग जैसे न वनयें, इसीलिए यहाँ ही इस पापाचरण को योग्य गुरु के आगे हारी खेद के साथ कह देना, जिससे दिल में गुप्त शल्य के रूप में वे न रहें । वहाँ स्वमान की परवाह न करना कि 'गुरु मुझे अधम गिनेंगे तो ?' याद रखिये—

**शल्यरहित मनुष्य को ही अन्तकाल तक समाधि रहती है ।**

दिल में शल्य पड़े हों तो वे जीव को चुभते ही रहेंगे, वहाँ चित्त की स्वस्थता कहाँ से रहेगी ? इसमें भी वापस यह



कठिनाई आ खड़ी होती है कि जीवन में किए हुए कई पाप कृत्य, पाप शब्द और पापविचार अन्त काल जाने तक में एकदम भुला दिये जाते हैं। इसलिये यदि उन्हें गुरु के आगे बाद में कहने के लिए बाकी रखा हो, तो याद ही न आने से क्या कह सकेंगे ? और न कह सकें, तो उसके छुपे हुए शल्य दिल में ढेर-सारे पड़ रहेंगे। इसलिये—

**पापशल्य के उद्धार के लिये बुद्धिमानों का काम यह है कि गुरु के आगे उन्हें बता देना।**

‘तुरन्त दान और महापुण्य’ की तरह पाप-सेवन हो जाने के बाद उसे तुरन्त गुरु के आगे कहकर प्रायश्चित्त मांग लेना चाहिये, उसकी उधारी नहीं रखनी चाहिए। जीवन में पहली सावधानी यह रखनी है कि सूक्ष्म भी पाप विचार-वाणी-बतवि का भारी पश्चात्ताप रखकर गुरु के आगे उसका निवेदन-आलोचन कर देना चाहिये।

राजकुमार ललितांग साधु महाराज के आगे अपना दिल खाली करता है। अपने से हुए पापाचरण को विस्तार पूर्वक भारी दुःख के साथ प्रकट करता है और कहता है—‘भगवंत ! मैं महापापी अब जीने के लायक नहीं हूँ। मैं तो आत्महत्या करके मर जाऊँगा, तभी यह पृथ्वी मुझ जैसे पापी का बोझ उतरने से हल्की हो जाएगी।’

साधु महात्मा उसे कहते हैं—‘भाग्यवान ! तू यह तो समझता है न कि तूने घोर पाप किए हैं ? तो क्या तू ऐसा मानता है कि आत्महत्या करने मात्र से तेरे पाप धुल जायेंगे ? इस जन्म

और जन्मान्तरों में जीव ने कितने सारे पापों का सेवन किया है ! क्या यहाँ पर मरने से वे सब पाप नष्ट हो जायेंगे ?

‘आत्महत्या से तू मर जाएगा, लेकिन तेरे यहाँ के और भवोभव के जंगी पाप कैसे मरेंगे ? तो क्या तुझे उन सब पापों को मारे बिना ही मरना है तुझे मालुम है कि

**पापों के नाश के लिये उत्तम जीवन एक मानव भव ही है ।**

‘वह अभी भी तेरे हाथ में है न ? आज तक तू इतने बरस जीया, उसमें पापों के नाश का प्रयत्न नहीं किया, लेकिन अभी भी जीवन का जो शेष भाग तेरे हाथ में है, उसे खो मत । उसमें पापों का नाश करने के लिये पुरुषार्थ क्यों नहीं करता ? ध्यान रख कि

‘पापों को मारकर मरे, तो जीव निहाल हो जाता है और पापों के साथ यहाँ से जाये, तो जीव का बुरा हाल होगा ।’

‘ऐसा सुन्दर जीवन हाथ में है, उसका उत्तम उपयोग कर ले । पापों से परेशान होकर जीवन से अब जाने से पापों का नाश नहीं होगा । सुन्दर जीवन को सुन्दर चर्या में लगा दे, जिससे आत्मा निष्पाप व निर्मल बनती जाय ।’

राजकुमार ललितांग यह तत्त्ववाणी सुनकर उल्लसित बना, उसका मन हल्का हो गया, उसके मन को शान्ति हुई कि ‘अभी भी पापों का नाश करने की बाजी हाथ में है ।’ वह चकित होकर पूछता है—‘हे प्रभु ! तो क्या मेरे घोर पापों का नाश करने का कोई उपाय है ?’

## ललितांग को साधु की दिव्य वाणी :-

घोर पाप भी उपाय से कैसे नाश पाते हैं ?

साधु महात्मा कहते हैं” उपाय का क्या पूछता है ?

(१) सैकड़ों दिनों तक मनमाना कचरा खा-खाकर पेट बिगाड़ा, शरीर बिगाड़ा, फिर भी ४-६ महीने तक अच्छे वैद्य के उपचार से ठीक होता है न ? अरे ! लंघन आदि करने से भी दोष जल जाते हैं न ?

(२) बरसों तक उल्टे-सीधे धंधे करके संपत्ति खो दी हो, एकदम गरीब हो गये हों, फिर भी सीधे धंधे से फिर से कमाई होती है न ?

(३) अभिमान में आकर कितनों के साथ बिगाड़ा हो, फिर भी अपनी भूल समझ में आने पर विनय, नम्रता, परोपकार, सेवाभाव आदि से उनके सहभाव पाये जा सकते हैं न ?

बस, यही समझ कि जीवन में मूढ़ता-अज्ञानतावश चाहे जितने पाप हो गये हों, परन्तु सर्वज्ञ भगवान द्वारा बताये हुए उपायों द्वारा उनका नाश किया जा सकता है । ऐसे प्रभु मिले, फिर मरना या उनके बताये हुए उपायों पर अमल करना ?

## कर्म रोग मिटाने वाले धन्वन्तरी प्रभु :-

“ये वीतराग भगवान अनन्तज्ञानी हैं, महान धन्वन्तरी वैद्य हैं, वे कर्मरोग मिटाने के ठोस उपाय जानते हैं तथा जगत को बताते हैं । वे उपाय प्रभु से स्वयं अपने जीवन में आजमाये हैं और इसी-लिये स्वयं सर्वपापों का नाश करके वीतराग सर्वज्ञ बने हैं और वे

उपाय बताकर कईयों को उस मार्ग पर चढ़ाकर निष्पाप किया है।

**जीव अनादि से पापी हैं, इसलिये पाप नाश के उपाय करने पड़ते हैं :-**

“हे भाग्यशाली ! तू इतना तो देख कि जीव अनादि काल से सीधासादा—सज्ञान और निष्पाप नहीं होता, चाहे वह वीतराग सर्वज्ञ या बड़े महर्षि का ही जीव क्यों न हो ! संसार का जीव मात्र अनादि काल से तो मूढ़, अज्ञानी और टेढ़ी चाल से चलने वाला होता है, फिर वह पाप करने में क्या बाकी रखेगा ? ऐसे सुन्दर मानवजीवन में भी जब तक महात्मा का सत्संग न मिला हो, सज्ञानता न आयी हो, तब तक तो जीव पाप ही पाप करता रहता है। उसमें भी पाप के जैसे निमित्त मिले, वैसे पापाचरण करता है। फिर भी यदि सत्संग से कुछ अच्छा बोध पाये, तो उपाय करके उन पापों को हल्का कर सकता है, उन्हें हटा सकता है और क्रमशः निष्पाप वीतराग बन सकता है।

“कदाचित् किसीने इस जीवन में ऐसे उग्र पाप न भी किए हों, उससे क्या आप ऐसा मान सकते हैं कि उसने पूर्व के जीवनो में भी पाप नहीं किए होंगे ? तो क्या वे सब पाप नष्ट हो गए ? ना, जंगी पाप खड़े ही हैं। फिर भी उपाय पर अमल करके जन्म-जन्मान्तर के पापों का नाश किया जा सकता है। इसीलिये सर्वज्ञ तीर्थंकर परमात्मा ने स्वयं यहाँ महापवित्र होने पर भी स्वयं के पूर्व के पाप नष्ट करने के लिये भारी उपायों का सेवन किया और दूसरे महर्षियों ने भी उनके कहे हुए उपायों का सेवन किया है, उसी से पाप नष्ट किए हैं, तभी तो वे सर्वज्ञ भगवान या महर्षि बने हैं।

“बस, सुबुद्ध जीव ! इस वस्तु पर श्रद्धा रख और उत्साह

ला कि “मैं भी उपायों में भागीरथ पुरुषार्थ करके मेरे पापों को तोड़ दूंगा ? अभी भी जीवन हाथ में है, तब तक यह सब बहुत शक्य है। पापनाश के कठोर उपाय सेवन करने के निश्चय के साथ उनका उत्कृष्ट रूप से सेवन-आचरण करने से अब पार उतरा जा सकता है।”

महात्मा की हृदयस्पर्शी वाणी सुनकर ललितांग कुमार में नवचेतना जाग पड़ी, उल्लास प्रकट हुआ, मन एकदम हल्का हो गया। वह महात्मा के चरणों में गिरकर हाथ जोड़कर कहता है—

“प्रभु ! आपने मुझ पर महा अवर्णनीय उपकार किया है। घोर पापाचरण से मेरा मन भारी हो गया था। अब मेरी समझ में आ गया है कि यहाँ पर जिंदा हूँ, तब तक उपायों द्वारा पापनाश कर सकता हूँ। अब मुझे आत्महत्या की मूर्खता नहीं करनी है। मुझे पापाचरण का जितना उल्लास था, उससे कहीं अधिक उल्लास अब जीवित रहकर पापनाश के उपाय आजमाने का जगा है। ऐसा उल्लास जगाकर आपने मुझ पर कितना महान उपकार किया है ! तो अब विशेष कृपा करके मुझे कौन-कौन से उपाय अपनाने चाहिये, यह बताईये।

### पापनाश के ५ ठोस उपाय :—

साधु महाराज उसे मार्ग का जिज्ञासु जानकर उद्धार का मार्ग बताते हुए कहते हैं :—

#### (१) भवनिर्वेद :—

“देख भाई ! पहले इतना निश्चित कर ले कि ‘यह संसार पापों का घर होने से एकदम असार-निर्गुण-निरूपकारी है, अपनी

आत्मा का अपकारी है, इसलिए रहने योग्य नहीं है।' इस तरह उसके प्रति ग्लानि, अरुचि, अबहुमान रखा कर और 'भव निर्वेद' यानी 'संसार वैराग्य' यही है। फिर संसार में चाहे जितने बड़े, लुभाने वाले दैवी सुख मिलते हों, फिर भी वे नाशवंत होने से व राग-द्वेषादि पापों से कलंकित होने से उनके प्रति भी ग्लानि-अरुचि-अभाव ही होंगे। सच्चा भवनिर्वेद होगा, तभी साधना करते वक्त प्रलोभन या कष्ट का भय नगण्य लगेगा, क्योंकि अब तो स्वयं की काया पर भी निर्वेद है।

## (२) सम्यग दर्शन :-

इसके साथ यह भी निश्चित कर कि 'ऐसे संसार को व अनन्त काल को प्रत्यक्ष रूप से देखकर, जगत को इस संसार का व इसके उच्छेद का यथास्थित स्वरूप कहने वाले कोई है, तो वीतराग सर्वज्ञ ही है। उन्हीं भगवान के वचन एकदम सत्य हैं और आत्मा का एकान्त कल्याण करने वाले है।' ऐसा निश्चित करके सर्वज्ञ वचन पर पूर्णतः श्रद्धा कर कि 'ये ही सच्चे व आत्महितकर हैं।' इसे 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं।

## (३) सम्यक्-चरित्र :-

"ऐसा निश्चित करके सर्वज्ञ भगवान द्वारा बताये हुए छोटे-बड़े समस्त पाप व्यापार यानी मानसिक-वाचिक-कायिक सर्व पाप प्रवृत्तियों का तथा हिंसा-भूँठ-चोरी-मैथुन-परिग्रह का सर्वथा त्याग कर। वे पापप्रवृत्ति करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, और दूसरे करते हों, तो उसमें लेशमात्र भी सम्मति न दुँ, खुशी न मानुँ, उसमें अपनी भागीदारी न रखुँ।' ऐसी प्रतिज्ञा जीवन भर के लिये ले ले, इसे 'सम्यक् चरित्र' कहते हैं।



बाद में जीवन भी ऐसा जीना कि उसमें लेशमात्र भी त्याग किए हुए पाप का मन-वचन या काया से आचरण न हो ।

### (४) सम्यग् ज्ञान :--

उस चारित्र धर्म में कोई न कोई काम तो करना ही पड़ेगा नहीं तो खाली मन शैतान का घर होता है। तो यह काम करना है कि सर्वज्ञ भगवान द्वारा उपदिष्ट शास्त्रों का स्वाध्याय करना, उनका पठन, अध्ययन, चिन्तन-मनन करते रहना, इसे 'सम्यग् ज्ञान' की आराधना कहते हैं ।

### (५) सम्यक् तप :--

“उसके साथ ६ बाह्य और ६ आभ्यन्तर तप की आराधना करना, इसे 'सम्यक् तप' कहते हैं । बाह्य तप में अनशन-उनोद-रिका आदि आते हैं और आभ्यन्तर तप में प्रायश्चित्त, विनय, वैया-वच्च आदि आते हैं । तेरी जितनी शक्ति हो, उसके अनुसार तप करना, अपनी शक्ति बिल्कुल मत छुपाना ।

इस प्रकार वैराग्य-सम्यग दर्शन-सम्यग् ज्ञान-सम्यक् चारित्र-सम्यक् तप, यह पंचविध मोक्षमार्ग है । इसकी आराधना से नए कर्मबन्ध रुक जाते हैं और जन्म-जन्मान्तर के बन्ध हुए पुराने कर्मों का विध्वंस हो जाता है इस प्रकार कर्मों का विध्वंस होते-होते आत्मा सकल कर्म से रहित बनकर युक्त होती है । आत्मा का शाश्वत मोक्ष होता है । ऐसे उच्च मानव भव में यह नहीं होगा तो दूसरे कौन-से भव में हो सकेगा ?

“हे महानुभाव ! तू यह देख कि आत्मा ने संसार राग,

मिथ्यात्व, अज्ञान, पापप्रवृत्तियों, आहारादि संज्ञाओं व क्रोधादि संज्ञाओं के द्वारा ही कर्म उपाजित किए हैं। इसलिए अब इनसे विपरित मार्ग पर चलने से कर्मों का उच्छेद होगा, यह सहज है। यह तो न्याय युक्त बात है कि 'जिस कारण से संसार है, उससे विपरित कारणों से मोक्ष होता है।' वह विपरित मार्ग है—वैराग्य, सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान-चारित्र्य-तप। अभी भी जीवन हाथ में है। तब तक इस मार्ग की उच्च कोटि की आराधना कर और इससे सर्व पाप, समस्त कर्म और संसार का उच्छेद करके मोक्ष की मंगल माला का वरण कर।”

### ललितांग को उत्साह :-

साधु महात्मा की हृदयस्पर्शी दिव्य वाणी सुनकर ललितांग राजकुमार बहुत ही प्रभावित हुआ। उसे आश्वासन मिला कि 'चिन्ता की कोई बात नहीं, मुझसे भारी पाप का आचरण हो गया है, फिर भी इस मार्ग पर चलकर मेरे सर्व पाप-कर्मों का नाश हो सकेगा।' उसे यह पंचविध मार्ग लेने का व उसे पूर्ण विशुद्धि से ग्रहण करने का भारी उत्साह आ गया। साधु महात्मा के पाँवों में गिरकर आंखों में आंसू के साथ दो हाथ जोड़कर कहता है —

‘प्रभु ! आज तो आपने मुझे भव्यातिभव्य तत्त्व प्रकाश दिया हैं ! आपने मेरे अन्तर के द्वार खोल दिये हैं। आपने मुझ पर जो असीम उपकार किया है, उसका बदला नहीं चुकाया जा सकता अब यदि आपको योग्य लगे, तो मुझे यह तारणहार मोक्ष-मार्ग देने की कृपा कीजिये। इस पाप भरे संसारवास पर से मेरा मन पूरी तरह से उठ गया है। आत्महत्या करने की मिथ्या बुद्धि तो गयी, लेकिन अब तो

‘कर्म मुझे क्या कुचल रहे थे, मैं ही कर्मों को कुचल डालु’,  
ऐसी तमन्ना जग पड़ी है। इसलिये मुझे मोक्ष मार्ग की शक्य ऐसी  
ऊँची आराधना करनी है। अतः मुझे इस मार्ग पर चढ़ाने की कृपा  
कीजिये।’

**ललितांग दीक्षा लेता है :-**

साधु महात्मा ने उसे योग्य जानकर सम्यक्त्व के साथ  
चारित्र्य की दीक्षा दी। अब ललितांग राजकुमार मिटकर ललितांग  
मुनि बने।

**गुरु की कद्र सबसे पहले जरूरी :-**

सच्चा मार्ग बताने वाले की बलिहारी है। कुशल शिल्पी  
पाषाण में से परमात्मा की प्रतिमा बनाता है, इसी तरह चारित्र्य-  
संपन्न गुरु पत्थर जैसी आत्मा को परमात्मा बनाने के मार्ग पर  
जोड़ देते हैं। 84 लाख जीवयोनियों में निराधार भटकते हुए  
जीव को बड़ी मुश्किल से मानव भव मिलता है उसमें भी किसी  
विशिष्ट पुण्योदय से दुर्लभ ऐसा सद्गुरु का योग मिलता है, परन्तु  
गुरु के मिलने की कद्र होनी चाहिए। वैसे तो मनुष्य भव व  
सद्गुरु योग अनन्त बार मिले, परन्तु उनकी कद्र ही नहीं की,  
ऐसे सद्गुरुओं की कीमत ही नहीं समझी, फिर उनके चरणों में  
समर्पित होकर महामूल्यवान् मोक्षमार्ग की आराधना करने की  
तो बात ही कहाँ से? इसलिये तो जीव अभी तक वासनाओं,  
पापबुद्धि व पाप प्रवृत्तियों में सड़ते हुए संसार में भटकता  
रहता है।

**गुरुयोग की कद्र नहीं, उसकी विडंबना :-**

आपको सद्गुरु योग मिला है तो उसकी कद्र करते

हैं ? मन में कभी ऐसा होता है कि संसार में दूसरा सबकुछ मिलता है, लेकिन ऐसा गुर्योग और मोक्षमार्ग भट नहीं मिलता। अपने जीवन का निरीक्षण तो कीजिए कि वह कैसे चल रहा है ? कितनी विडंबनायें आप भोग रहे हैं ? गुरु और मोक्ष मार्ग की कोई जानकारी नहीं, कोई कद नहीं, इसलिये संसार के इष्ट-अनिष्ट में कितने पिटे जा रहे हो ? कितने पापों का सेवन होता है ? कितना आर्तध्यान चला करता है ?

### इष्ट-अनिष्ट के आर्तध्यान कैसे रुकें ?

संसार तत्त्व और मोक्ष तत्त्व समझ में आने पर कई आर्तध्यान रुक जाते हैं और रोक दिए जाते हैं ।

इष्ट वस्तु के आर्तध्यान टालने के लिए यह विचार चाहिये कि 'ये इष्ट-अनिष्ट तो संसार के नश्वर तत्त्व हैं, इसमें किसका-किसका आर्तध्यान करने बैठूँगा ? यह तो कर्म के हाथ की वस्तु है, इसमें तू व्यर्थ ही आर्तध्यान कर-करके क्यों दुःख पाता है ? इससे कुछ मिलने वाला नहीं है । चलने दो । कर्म अपना चलाता है, तू तेरा तत्त्वचिन्तन चला ।'

अनिष्ट का आर्तध्यान टालने के लिये यह विचार करना कि 'अनिष्ट मेरे पूर्व कर्म के हाथ की वस्तु है, उसका आर्तध्यान भी क्यों करना ? तू यदि सावधान हो, तत्त्व-चिन्तन में रमण करता हो, और बाहर के प्रति उदासीन हो तो अनिष्ट से तेरी आत्मा का क्या बिगड़ता है ? अनिष्ट आने से बाहर का तो बिगड़ा सो बिगड़ा, लेकिन तू आर्तध्यान करके हाथों से ही अन्दर का-तेरी आत्मा का क्यों बिगाड़ रहा है ? इस प्रकार बिगाड़ते रहने से

तेरा कभी मोक्ष नहीं होगा। मोक्ष तो अनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य स्वरूप है। वह पाना हो तो यहाँ थोड़े भी ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य तप की चिन्ता रख।' संसार तत्त्व व मोक्ष तत्त्व को समझा हो, और समझने की कद्र हो तो हमेशा प्रति पल यह सावधानी रहती है।

### ललितांग मुनि एकाकी :-

ललितांग मुनि चारित्र्य लेकर आराधना में एक जूट हो गये। नित्य गुरु सेवा में रहकर ज्ञान योग में शास्त्राध्ययन-चिन्तन करने के साथ, महाव्रतों का पूर्ण विशुद्धि पूर्वक पालन और बारह प्रकार के तप की भव्य आराधना करते हैं। बाद में योग्य जानकर गुरु उन्हें ऊँचे अभिग्रहों से युक्त कठोर चारित्र्य-तप की आराधना के साथ एकाकी विचरने की अनुज्ञा देते हैं।

### पाप से अधिक धर्म की उमंग :-

ललितांग मुनि को भारी उल्लास है कि, 'यदि पाप करने में कुछ बाकी नहीं रखा, तो अब चारित्र्य व तप का जो अवसर मिला है, तो उसकी आराधना में क्या बाकी रखूँ? जितने उल्लास व जोश से पाप किए हैं, उससे भी अधिक उल्लास व जोश से चारित्र्य व तप की साधना किए बिना वे पाप कैसे जायेंगे? इसलिए यदि पाप करने आये तो अब ऐसी साधना करनी भी है। सुन्दर आराधना करूँ और तन-मन व कर्मों को तोड़ डालूँ।' ऐसे भाव से ललितांग मुनि उग्र चारित्र्य-तप की साधना में लग गये।

### असम्मत नास्तिक :-

ललितांग महर्षि देश - विदेश विचरते हुए एक ऐसे नगर

में आये, जहां 'असम्मत' नामक एक नास्तिक रहता है। वह एक अमीर व्यक्ति का पुत्र था। लेकिन बेचारा तीव्र मिथ्यात्व कर्म और मान कषाय के उदय से अभिमानी बन गया था। अभिमान से वह सगे बाप और सगी मां को भी नहीं गिनता। इसके अलावा कुटुंब या समाज के किसी भी वृद्ध पूज्य पुरुष को भी नहीं गिनता। वह आत्मा-धर्म-कर्म-पुण्य-पाप-परलोक, कुछ नहीं मानता। वह थोड़ा बुद्धिमान भी था, उसे कुतर्क भी बहुत आते हैं, वह लोगों को भी अपने नास्तिकवाद से भरमाता है। कई भोले लोगों को नास्तिक-वाद में जोड़ देता है। वह नगर में बादशाह की तरह घूमता है। उसे आत्मा-पुण्य-पाप आदि कुछ भी मान्य नहीं है, सम्मत नहीं हैं, इसलिए उसका नाम 'असम्मत' पड़ गया है।

### नास्तिक की शिरजोरी :-

यह असम्मत नास्तिक अभिमान के नशे में बह गया। बाहर से कोई साधु-सन्यासी-जोगी-बाबा आते, तो उनसे भी पूछता है-‘तुम कितने पढ़े हो? लाओ, साबित करो तुम्हारे आत्मा, पुण्य-पाप, परलोक....’ ऐसी चुनौती देता है। वे जब अपनी बातें साबित करने लगते हैं, तो यह असम्मत नास्तिक उनके सामने कुतर्कों की झड़ी बरसाने लगता है। वे बेचारे इस पत्थर को समझना अशक्य जानकर मौन हो जाते हैं। इस प्रकार वह असम्मत नास्तिक बेताज बादशाह जैसा होकर घूमता है। कईयों को गलत राह पर ले जाता है। उसे कौन रोके? वह श्रीमंत है, उसे किसी की परवाह नहीं है। जीभ के जोर से मन आये, वैसे बड़बड़ करता हुआ घूमता है।

### नास्तिक में कम बुद्धि आदि की गुलामी है :-

पुण्य के योग से धन मिला, जीभ का जोर मिला, बुद्धि-



शक्ति मिली, उससे क्या करना ? अभिमान व स्व-पर का नाश ? जीव मानता है कि 'मैं स्वतंत्र हूँ, परन्तु वास्तव में तो तीव्र विषय-लालसा, अहंकार व मनमानी कराने वाले मोहनीय कर्म की अधो-नता में मोह की भारी परतंत्रता को पराधीनता को अपनाता है, इसे वह नहीं जानता, विवेक से काम नहीं लेना है, अनुभवों के अनुभव नहीं लेने हैं, स्वयं को वस्तु की गहराई में नहीं उतरना है, आँखों-देखा ही मानना है, यह छोटी बुद्धि की परतंत्रता-गुलामी नहीं तो और क्या है ? जगत में जीव अनेक बातों से परतंत्र होता है ।

### ललितांग मुनि का विवेक :-

ललितांग मुनि यहाँ आए हैं । उन्हें किसी ने कहा 'महाराज ! यहाँ पर एक असम्मत नास्तिक रहता है, वह आपकी खोज खबर लेने आएगा, इसलिए उसके साथ चर्चा करने के लिए तैयार रहना ।'

मुनि ने यह सुनकर मन में विचार किया कि 'वह नास्तिक तो समझे ऐसा है नहीं, फिर व्यर्थ ही उसके मुँह लगने से क्या फायदा ? पत्थर के साथ सर क्यों टकराना ? उससे सर फूटेगा, पत्थर नहीं टूटेगा । व्यर्थ ही मेरी आत्मसाधना क्यों चूकुँ ?'

यह बात भी सच है कि—

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यो विशेषज्ञः ।

ज्ञानलव-दुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रन्जयति ॥

अज्ञानी-अनपढ़ को फिर भी सरलता से समझाया जा सकता है, विवेकी को विशेष आसानी से समझाया जा सकता है, परन्तु ज्ञान के लेश से डेढ़ होशियार व घमंडी अभिनिवेशी (दुग-

ग्रही) बने हुए को ब्रह्मा भी नहीं समझा सकते ।

### मुनि तप के मार्ग पर :--

ललितान्ग महर्षि विचार करते हैं कि “ऐसे नास्तिक को वाद करके समझाने से यह सुधरने वाला नहीं है । मेरी आराधना भी रह जाएगी । इससे तो है अपना ही सुनु ।”

ऐसा विचारकर वे नगर के बाहर उद्यान में चले गये । वहाँ जाकर उन्होंने उपवास प्रारंभ किए और कायोत्सर्ग-ध्यान में रहने लगे ।

### कायोत्सर्ग ध्यान :--

याने खड़े-खड़े रहकर वचन व काया को बोलना देना काया को स्थिर रखना, बिल्कुल हिलाना नहीं और बोलना बन्द करके मौन रखना । काया की स्थिरता में आँख भी आधी बन्द रखना । दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर स्थिर करके बाहर का देखने का बन्द करना, हाथ सहज भाव से लटकते हुए छोड़ देना । बस, अब रहा मन को एक प्रकार का कोई ध्यान पकड़ा देना । कोई दूसरा-तीसरा विचार या विकल्प न हो कि ‘ठण्ड लगती है’ या ‘गर्मी लगती है’ ‘मच्छर काटा’ । ऐसा कोई विकल्प न हो, सिर्फ सूत्र चिन्तन, अर्थ चिन्तन या तत्त्व-पदार्थ का चिन्तन हो ।

### उपवास सहित कायोत्सर्ग में ६ तप :--

यह सूत्रार्थ-तत्त्वचिन्तन आध्यन्तर तप है । इसका विचार हमें करना है । लेकिन अब हम बाह्य तप का महत्त्व देखते हैं । मुनि ने उपवास प्रारंभ किए हैं, इसलिए उसमें खाना तो बिल्कुल है ही

नहीं, तो अनोदरिका, वृत्तिसंक्षेप व रसत्याग तो आ ही गये । कायोत्सर्ग ध्यान में हैं इसलिए बाह्यतप का चौथा व पांचवा प्रकार 'कायकण्ठ' तथा 'संलीनता' याने सगोपन तप भी चालु हो गया है। घंटों के घंटे कायोत्सर्ग में खड़े रहने से काया को कण्ठ तो पड़ता ही है न ? उसमें भी काया को बिल्कुल हिलाना नहीं, हाथ-पांव कुछ नहीं हिलाना आंखें भी नहीं घुमाना.... इस प्रकार सब अंगों का संगोपन करना । इस प्रकार काया व वचन की संलीनता हुई। साथ ही साथ मन का भी ऐसा गोपन करके रखना कि निश्चित किए हुए चिन्तन के सिवाय दूसरे एक भी विचार में मन जाने न पाये । इस प्रकार मन की संलीनता भी आयी ।

### नदी में बाढ़ :-

इस प्रकार महर्षि ललितांग कई दिनों तक छहों प्रकार के बाह्य तप में लीन बने रहे, उसका कितना जबरदस्त प्रभाव पड़ा ! एक बार पास की नदी में जोरदार बाढ़ आयी । नगर कुछ ऊँचाई पर होने से उसमें पानी नहीं आया, परन्तु नगर के द्वार तक पानी का प्रवाह पहुँच गया । अब उद्यान का तो पूछना ही क्या ? उद्यान में तो इतना पानी आया कि चारों ओर बस पानी ही पानी नजर आता । पानी खर तक चढ़ने लगा, वृक्ष भी डूब गये ।

### मुनि के तप का प्रभाव :-

मुनि तो वहां ध्यान में ही खड़े है । उन्हें तो सरकना नहीं है उन्हें बस एक ही धुन है कि 'जो होना हो, हो जाय, शुरू की गयी साधना छोड़नी नहीं हैं ।' इस तप के प्रभाव से एक विशिष्ट शक्ति पैदा हुई कहो या समोप का कोई व्यन्तर देव आकर्षित होकर सेवा में लग गया कहो, पानी का प्रवाह मुनि को छू भी नहीं सका ।

लोग नगर के किले पर से देखते हैं महर्षि पानी के प्रवाह पर शुभ ध्यान में खड़े हैं, पानी का प्रवाह उनके आसपास से जा रहा है। लोगों के आश्चर्य का पार न रहा। लोग प्रशंसा करने लगे—‘अहो! देखो तो सही कि मुनि के तप का प्रभाव कैसा जबरदस्त है कि प्रवाह मुनि पर आने के बदले प्रवाह के ऊपर मुनि खड़े है! वाह! धर्म की कैसी बलिहारी है।

### नास्तिक की निन्दा :--

मुनि की प्रशंसा होने के साथ असम्मत नास्तिक की भारी निन्दा होने लगी। लोग कहने लगे—‘देखो, वह नास्तिक कह रहा था न कि आत्मा नहीं है, धर्म नहीं है, पुण्य-पाप नहीं है। वह कैसे झूठा निकला? धर्म का यह प्रत्यक्ष प्रभाव दिखता है। महर्षि के चारित्र्य बल और तपोबल का कैसा गजब का प्रभाव कि पानी के प्रवाह से वृक्ष ढंक गये, पर मुनि नहीं!’ लोगों में मुनि की प्रशंसा व नास्तिक की निन्दा चल पड़ी। असम्मत नास्तिक यह सहन कर सकता? मुनि के प्रति उसे भारी ईर्ष्या होने लगी वह आकुल-व्याकुल हो गया, लेकिन बोलने का कोई अवकाश ही नहीं रहा।

कहिये, मुनि के बाह्य तप का प्रभाव कैसा? नास्तिक के साथ वाद करने गये होते, तो क्या वे नास्ति को चुप कर सकते? कुतर्क पर तो कुतर्क ही करना, पत्थर ही फेंकना, इस नीति वाला भला क्यों चुप रहे? अपने कथन का सामने वाले के द्वारा मजबूत दलीलों से विरोध होने पर भी वह हार कबूल कैसे करे? वह चुप कैसे होगा? वह तो दूसरा पत्थर फेंकेगा, नय कुतर्क लड़ायेगा वह कोई ऐसे नहीं हो जाता! वह बोलना बन्द होगा, तो भी ऐसे तप के प्रभाव से ही!

**दीक्षार्थी को स्वजनों की 'ना' पर तप :-**

**दीक्षा के सामने कुतर्क :-**

यह भी समझने जैसा है कि दीक्षा के सामने कुतर्क आने पर भी तप करने जैसा है। कुछ स्वजन अपने मुमुक्षु बैरागी स्वजन को मोहवश होकर दीक्षा लेने से रोकते हैं, उसे कई बातें सुनाते हैं, कुतर्क करते हैं। पुत्र को कहते हैं 'क्या माँ-बाप की सेवा नहीं करनी ? माँ-बाप ने कितने उपकार करके बड़ा किया, उसका ऐसा बदला देना ?' पुत्री से कहते हैं 'क्या दीक्षा-दीक्षा करती है ? जानती है साध्वियों में कितने भगड़े चलते हैं ?' बेटा दीक्षार्थी पिता से कहता है 'आपकी तो उम्र हो गयी है। अब आपको कौन संभालेगा ? आपके पास घड़े उठवायेंगे घड़े।'।

**दीक्षा के लिये किए गये कुतर्कों के जवाब माँ-बाप की बड़ी सेवा कौन सी ? उन्हें धर्म प्राप्त कराने की !**

ऐसे कुतर्कों का जवाब इस प्रकार दिया जा सकता है कि 'संसार में रहना हो, वहाँ तक माँ - बाप को बाह्य सेवा अवश्य करनी। परन्तु संसार त्याग ही करना हो, तो फिर वह करके माँ-बाप को धर्म प्राप्त कराके बड़ी आभ्यन्तर सेवा करना। माँ-बाप के उपकार का सच्चा बदला तो ऐसे ही चुकाया जा सकता है। 'धर्म बिन्दू' 'पंचसूत्र' आदि भी यही कहते हैं लेकिन यह कौन सुने?

“साधु-साध्वी में भगड़े की बात भी सिर्फ चित्त में भय पैदा करने तक ही है। स्वभाव दोष से कहीं कहीं ऐसा होता भी होगा, तो क्या सब जगह ही ऐसा ही होता है ? ऐसे संसार में देखें तो भी भगड़े कहाँ नहीं हैं ? संसार तो ऐसा ही है कि उसमें तो

सहज रूप से ही भगड़े होते हैं। क्योंकि संसार की आवश्यकतायें कितनी हैं। उनके लिए कितनों के साथ संबन्ध बिगड़ते हैं! वास्तव में देखा जाय, तो वहाँ भी आप भला तो जग भला यही बात लागू होती है। संसार में भी 'उपशम' और 'सहन करने का' आदर्श रखकर चला जाय, तो लीला-लहर ही है। फिर साधु जीवन में तो पूछना ही क्या?" ये सब जवाब मोहान्ध लोग सुनना पसन्द नहीं करेंगे।

**संसार में वृद्ध को गुलामी नहीं करनी पड़ती ?**

'आपकी उम्र हो गयी है, अब आपको कौन संभालेगा?' आदि कुतर्क भी सिर्फ बंडल ठोकने जैसे हैं। आज कई वयोवृद्ध साधु भी कितनी सुन्दर आराधना करते हैं। पानी के घड़े उठवाने की बात भी गलत है। क्या पड़े हुए साधु सेठाई बताते हैं? दूसरों को नौकर बनाते हैं? यह बात गलत है हर साधु अपना-अपना कर्तव्य निभाते ही हैं। बूढ़ों को संसार में तो कितनी गुलामी सहनी पड़ती है। आज के बेटे व बहूयें कहाँ देव के अवतार हैं या राम-सीता जैसे हैं कि बेटा मां-बाप को और बहू सास ससुर को फूल की तरह रखे और अखंड विनय से वर्तन करे? संसार का नाटक तो खोलने जैसा नहीं है। 'घर-घर मिट्टी के चूल्हे, यह ऐसे ही तो नहीं कहा जाता? इससे तो चारित्र्य-जीवन लाख गुना अच्छा है। पानी का घड़ा उठाकर लाने से तो संयमी साधु की भक्ति करने का अहोभाग्य मिलता है।

दीक्षा के विरोध में किए जाने वाले कुतर्कों पर यदि ध्यान देना हो, तो किसी भव में दीक्षा लेने का मौका ही नहीं मिलेगा। छोटी उम्र में मां-बाप किस भव में नहीं हाते? बड़ी उम्र में दूसरे



लड़के कहाँ नहीं होते ? बड़ी उम्र होने पर उम्र का बहाना कहाँ नहीं हैं ? इन सबके सामने देखकर बैठे रहें तो इसका अर्थ यह हुआ कि 'किसी भी जीवन में, किसी भी अवस्था में सर्व पाप त्याग कर के निष्पाप पवित्र चारित्र्य लेना ही नहीं ? संसार में बैठे-बैठे पाप-सेवन करते रहकर उन पापों के फल स्वरूप भवभव में भटकता ही रहना ?'

### कुतर्क के सामने रास्ता :-

वैरागी बने हुएों को यह तो समझ ही रखना चाहिये कि दीक्षा लेने के लिये रोकने वाले कुतर्क सामने आने वाले ही है। उन कुतर्कों का खंडन किया जाय, तो भी कुतर्क वाजे कुछ मानेंगे नहीं। तब कौन-सा रास्ता लेना ? यही तप की साधना भी जोरदार तप की करनी। चारित्र्य लेकर भी साधना ही करनी है, तो उससे पहले यह तप की साधना करने की ताकत नहीं ?

### तप से बड़े-बड़े अन्तराय भी टूटते हैं

जो कार्य और किसी उपाय से नहीं होता, वह कार्य जो दार तप की साधना से होता है।

देखिये, इसी अटल विश्वास पर ललितांग महर्षि ने असम्मत नास्तिक को वाद से चुप करने का मार्ग अपनाने के बदले तप की साधना का मार्ग लिया। अलबत्ता, तप किसी को चुप करने के लिए नहीं करते थे, वे तो अपने भूतकाल के पापों को लक्ष्य में रख कर जन्म-जन्मान्तर के ढेर सारे पाप कर्मों को तोड़ने के लिये तप करते थे। परन्तु इस तप से ऐसा सामर्थ्य, ऐसा प्रभाव पैदा हुआ कि पानी का जोरदार प्रवाह भी उन्हें डुबा नहीं सका, अरे ! पानी

उन्हें छू तक नहीं सका ।

तप का प्रभाव अद्भुत है । इस पंचम काल में भी ऐसे तपस्वी हो गये हैं कि जिनके तप ने चमत्कारों का सर्जन किया है । कृष्णर्षि नामक एक मुनि हो गये हैं, जो घोर तप के पारणे में भी रस-विगईयों का सर्वथा त्याग रखते और साथ ही साथ काय कष्ट, संलीनता आदि तप की भी जबरदस्त साधना करते । परिणाम स्वरूप उनकी चरण रज भी औषधि का काम करती, पाँव धोया हुआ पानी भी रोग मिटा देता है ।

**आन्तर शत्रु का अन्याय खटकता है ?**

**नास्तिक कैसे सहन करे ?**

ललितांग महर्षि के तप का प्रभाव लोगों ने देखा, जिससे लोग सहज रूप से उनकी प्रशंसा, तप धर्म की प्रशंसा और असम्मत नास्तिक की निन्दा करने लगे । अब असम्मत को यह कैसे सहन होता ?

**अन्याय को सह लेना, यह धर्म है :-**

नास्तिकवाद मानने वालों में सहिष्णुता थोड़े ही होगी ? सहिष्णुता तो धर्म है । 'अन्याय के विरुद्ध न लड़ते हुए, स्वयं के प्रति होने वाले अन्याय को शान्ति से सह लेना,'—यह कौन सिखाता है ? जैन धर्म ।

ऋषभदेव प्रभु के ६८ पुत्रों के आगे बड़े भाई भरत ने अपनी आज्ञा स्वीकार लेने की अन्याय भरी मांग की । ६८ पुत्र पिता - प्रभु के पास गये । प्रभु ने क्या सिखाया ? अन्याय के

विरुद्ध लड़ना नहीं सिखाया ।

प्र०—अन्याय का सामना तो करना चाहिये न ?

उ०—प्रभु ने ६८ पुत्रों को क्या बताया, यह देखेंगे तो आपकी समझ में आयेगा कि अन्याय का सामना करना चाहिए या नहीं ?

**प्रभु का भव्य उपदेश :- आन्तर शत्रु का अन्याय :-**

ऋषभदेव प्रभु ने ६८ पुत्रों से कहा—‘भरत को अन्यायकारी शत्रु मानकर तुम उसके साथ लड़ने के लिये तैयार हुए हो, परन्तु तुम्हारे वास्तविक दुश्मन को पहचानते नहीं हो, इसीलिये भरत का नाश करने का विचार करते हो., इसी से तुम्हारे सच्चे दुश्मनों के तो मजे हो गये हैं ! तुम्हारे अन्तर में रहे हुए राग—द्वेष—काम—क्रोध—लोभ, मद, मत्सर, ममता-माया आदि हैं । जन्म—जन्म तुम उन्हीं का पोषण करते हुए उन्हें बढ़ करते आये हो । इसीलिए ये आन्तर शत्रु तुम्हें इस दुःखद भवचक्र में निराधार रूप में भटकाने का भारी उपाय कर रहे हैं । उन्होंने ही तुम्हारी स्वयं की अनन्त ज्ञानसुखमय-आत्म समृद्धि को प्रकट न होने देने का भारी अन्याय तुम पर किया है । वह अन्याय तुम्हें चुभता है ? अरे ! उस पर दृष्टि भी है ? उसका पोषण करके कैसी दुर्दशा बना रहे हो ?

यदि जीव इन रागादि आन्तर शत्रुओं का पोषण न करे, उन्हें रहने ही न दे, तो फिर उसे संसार की चारों गतियों और 84 लाख योनियों में निराधार व बेहाल बनाकर भटकाने वाला दूसरा क्या कारण है ?

## बाहर वाले को मारना शकाशील :

हे भाग्यवानों ! इतना समझना कि बाहर के दुश्मन को मारना तुम्हारे हाथ से निश्चित नहीं है, उसका पुण्य प्रबल हो और तुम्हारे पाप का उदय हो, तो उसे मारने जाते हुए शायद तुम ही मर जाओ। शायद तुम्हारा प्रबल हो, तो तुम उसे मार सकते हो, उसे मारकर तुम पर उसके द्वारा हुए अन्याय को मिटा सकते हो, परन्तु इससे क्या फायदा ? तुम थोड़े ही अमर रहने वाले हो ? समझ रखो, तुम पर यम शत्रु की बड़ी सत्ता है, इसलिये तुम्हें भी आगे चलकर मरना तो पड़ेगा ही। उस समय तुमने बाहर वाले का अन्याय मिटाकर सुरक्षित रखे हुए तुम्हारे राजपाट, लक्ष्मी, बंगला-गाड़ी आदि तुम्हें बचा नहीं सकेंगे या वे विषय तुम्हारे पीछे नहीं आयेंगे।

तो अन्याय का सामना करने से अन्त में जाकर कहाँ बचे ? आगे चलकर कर्म के अन्याय पीछे लगेंगे, उनका क्या ?

फिर तो तुम्हें अकेले को यहाँ पर अच्छी तरह से पोषण दिए हुए राग-द्वेष आदि आन्तर शत्रुओं और हिंसादि पापों से खड़े किए हुए जंगी पाप-कर्मों के ढेर से दुर्गतियों में भटकना पड़ेगा, दुःख-त्रास-विडम्बनाओं में कुचला जाना पड़ेगा। इस अन्याय से कैसे बचा जाय ?

तो बोलो, यहाँ तुमने माने हुए बाहर के दुश्मन को ढाला और माना हुआ अन्याय मिटाया, इससे क्या मिला ? मृत्यु के सामने तुम्हारा मद कहाँ रहने वाला है ? पुण्य से बाहर के अन्याय का बराबर जवाब भी दे दोगे, लेकिन इसमें तुम्हारा अभिमान, दुर्गति गमन की लापरवाही, लक्ष्मी आदि की तृष्णा,

ममता—ये सब आन्तर शत्रु ही तुम्हें इस भव अटवी में अशरण व निराधार रूप से भटकाने वाले हैं ।

तुम्हारे द्वारा पोषित किए हुए ये रागादि तुम्हें ही दीर्घातिदीर्घ काल तक अन्याय करनेवाले हैं ।

हे भाग्यशालियों ! तुमने कैसा ऊँचा व अद्भुत मानव जन्म पाया है, जिसके सहारे तुम तुम्हारे इन आन्तर दुश्मनों के साथ लड़ सकते हो, तत्त्वबुद्धि-त्याग-वैराग्य-क्षमा-अहिंसादि के द्वारा उनका मूल से नाश कर सकते हो; और इससे सदा के लिए तुम्हारे प्रति उनके अनन्तानन्त काल से चले आने वाले अन्याय का अन्त ला सकते हो । इस तत्त्वबुद्धि से यहां भी तुम्हें कोई दुश्मन नहीं लगेगा ।

उच्च मानव भव के सहारे ही यह आन्तर विजय हो सकती है ।

ऐसा मानव भव खोने के बाद इसमें से कुछ नहीं हो सकता । इतना समझ रखिये कि—

बाहर के किसी शत्रु को और उसका अन्याय टाल सकना निश्चित भी नहीं है । और कायमी भी नहीं है ।

पुण्य प्रबल हो, तभी बाहर के दुश्मन के सामने तुम टिक सकते हो, नहीं तो उनसे मात खानी पड़ेगी । मानो कि शायद यहां तुम टिक भी सको, फिर भी बाद के जन्म में संभव है कि वापिस बाहर के दूसरे दुश्मन आयें और उनके अन्याय सहने पड़ें । इसलिए इन दुश्मनों को सदा के लिए तो टाल नहीं सकोगे, जब कि

आन्तर दुश्मनों पर जय और अन्याय-निवारण निश्चित व कायमी होती है। इसमें दुश्मन भी रहते नहीं, उनका भय चला जाता है।

यहाँ तुम राग-द्वेष, काम-क्रोध मद आदि पर तत्त्वदृष्टि-वैराग्य-उपशम आदि से जितने प्रमाण में प्रहार करोगे, उन्हें जितना दबाओगे, उतने ही वे दबेंगे, यह निश्चित ही है और उनके दबने के बाद यहां और भवान्तर में भी उनका जोर नहीं चलता, क्रमशः कायमी अन्त आता है। इसी तरह यह बात भी सच है कि अन्तर के रागादि को दबाने के बाद बाहर के दुश्मन दुश्मन ही नहीं लगते। वे तो बेचारे दयापात्र लगते हैं। इसलिए ऐसा कहा जाता है कि आन्तर दुश्मनों को हटाने पर बाह्य शत्रु तो सहज में ही निकल जाते हैं।

ऋषभदेव भगवान् 98 पुत्रों को कहते हैं—“इस अन्दर वाले शत्रु को दबाने के लिये मानव भव ही भारी उपयोगी है, सहायक है।

तो हे नररत्नों ! अभी भी जब तक तुम्हारे हाथ में सहायक के रूप में मानव भव ही तब तक तुम्हारे सच्चे शत्रुभूत आन्तर दुश्मनों के साथ लड़कर उनका निश्चित नाश करना तुम्हारे स्वाधीन है। उन्हें छोड़कर बाहर के माने हुए दुश्मनों के साथ लड़कर उनको नाश करने की बात, जो कि शंकास्पद है, उसकी उलझन में क्यों पड़ते हो ? कायम का अन्याय टालने का छोड़कर काम चलाऊ अन्याय का सामना करने के लिए इतनी मेहनत क्यों कर रहे हो ? उसमें सही कार्य तो बाकी ही रह जाता है।”



## ६८ पुत्रों को जिनवाणी पर विचार और वैराग्य :-

भगवान के इस उपदेश ने 98 पुत्रों पर रामवाण असर किया ।

वे ससम्भ गए कि “भरत का अन्याय तो काम चलाऊ है और वह टाल सकना भी निश्चित नहीं है । जबकि

“आन्तर दुश्मनों का अन्याय अनन्त काल से चला आ रहा है । हम तो उन्हीं का पोषण करने आए हैं, जब कि वे तो हमारा निकन्दन निकाल रहे हैं, संसार चक्र में भटकाते हैं ! इन रागादि दुश्मनों के कारण ही भरत हमें दुश्मन जैसा लगता है । यदि हमें अपने एक जमीन के टुकड़े पर राग और मद न होता, उससे मिलने वाले कंचन-कामिनी आदि के क्षणिक भोगों पर तृष्णा न होती, तो हमें भरत अन्यायकारी दुश्मन क्यों लगता ? देखो, प्रभु ने यह सब छोड़ा, तो अब प्रभु का कोई दुश्मन ही कहाँ है ? इसलिए हम भी यह छोड़ें और आन्तर के रागादि दुश्मनों का नाश करने में सहायक इस मानव जीवन को सार्थक करें ।”

भगवान के 98 पुत्र बड़े राजा बनकर राज्य-समृद्ध रानियाँ और शाही सुखों के मजे लेने वाले होने पर भी, उन्होंने इस प्रकार प्रभु की तत्त्व वाणी ग्रहण कर वैराग्य पाया और मानवभव को उत्तम सहायक के रूप में मानकर उसके सहारे आन्तर दुश्मनों का नाश करने का निश्चय कर लिया; क्योंकि अब उन आन्तर शत्रुओं का ही अन्याय उन्हें चुमने लगा । भरत का कोई अन्याय ही न लगा । स्वयं के राज्य और विषय सुखों पर राग हो, तो ही उन पर आक्रमण करने वाला भरत अन्यायकारी लगे न ! अब तो राग हो उठा लिया, इसलिए ‘मेरा राज्य, मेरे सुख, यह भावना ही उठ गयी । ‘जो मेरा नहीं है, उसे बिगा-

इने वाला मेरा क्या बिगाड़ता है ? वह मुझे क्या अन्याय करता है ? कुछ नहीं ।' यह बात मन में निश्चत हो गयी । पराये राज्य या पराये घर पर आफत लाने वाला कहां हमारा दुश्मन लगता है ?

राज्य पर आक्रमण द्वेष का कारण नहीं है, किन्तु अपने राज्य पर आक्रमण द्वेष होता है । इसीलिए द्वेष का कारण ममता है ।

तुम्हारे जीवन में तुम्हें कोई-कोई अन्याय करने वाले लगते हैं न ? तुम्हारे बहुत निकट में गिने जाने वाले सगे माता-पिता, पत्नी पुत्र आदि भी अक्सर तुम पर अन्याय करते हों, ऐसा लगता है न ? 'हाँ' क्यों नहीं बोलते ? कहो 'हाँ' लगता है ।' तुम अपने-आपको लायक पुत्र मानते हो, इसलिए माता-पिता तुम्हारे बारे में कुछ भी अप्रिय बचन बोले, तो वह तुम्हें अधिक लगता है, बुरा लगता है, यही अन्याय लगना कहलाता है । इसी तरह तुम अपने आपको योग्य पति या पत्नी समझते हों, फिर सामने से कुछ अप्रिय हो जाय, तो अन्याय लगता है । जिंदगी में ऐसी छोटी-मोटी बातें तो होती ही रहती हैं । तो क्या जिंदगी भर इसे अन्याय ही मानते रहना ? इससे अन्तर में जला ही करना ? यथाशक्य कठोर वाणी-वर्ताव से उसका सामन ही करते रहना न ? सारी जिंदगी ऐसे ही बीतेगी ?

तो फिर जिन अन्दर के अभिमान, राग, ममता, मिथ्या-ज्ञान... आदि आन्तर शत्रुओं के कारण यह होता है, उन आन्तर शत्रुओं व उनके अन्याय के सामने कब लड़ना ? उनका अन्याय तुम्हारे दिल में चुभता है ? यहां आर्य मानव भव में आये, इसीलिए तो सर्वविरति तक की ऊँची चीजों के हकदार बने, फिर भी अहंत्व

और रागादि उसके बीच में आता है, उसकी प्राप्ति होने नहीं देते, प्राप्ति हुई हो, तो नष्ट कर देते हैं। यह आन्तर दुश्मन की अन्याय-कारिता तुम्हारे कलेजे में खटकती है ?

**बाहर अन्याय पुण्य की कमी से नहीं :-**

भूलिए मत कि जिसके अन्तर में अभिमान ज्यादा है, स्वयं को बहुत ही समझदार, लायक और योग्य समझता है, जिसे बाह्य अच्छी सुविधा-शोभा-सन्मान की बहुत लालसा है, उसे बार-बार बाहर वाले कुछ-न-कुछ अन्याय करते हों, ऐसा लगता है। ऐसा मत समझिये कि 'पुण्य कम है, इसीलिए बाहर वाले टेढ़ा वर्तन करते हैं'। पुण्य की अधिकता या कभी तो सब जगह रहने ही वाली है। बहुत पुण्य वाले को भी एक न एक बात की कमी तो रहने ही वाली है। उससे अधिक पुण्य की अपेक्षा से अपना तो न्यून ही लगेगा। तो फिर पुण्य की कमी से होने वाले बाह्य की कमी या न्यूनता में सहज में ही सामने से असुविधा मिलती दिखती हो, कम मान मिलता दिखता हो, वहाँ क्या अन्याय ही होने का मानते रहना ? नहीं।

अन्याय होने की विचारणा तो बाह्य पर अधिकार, अभिमान तथा विषयराग व सुखलालसा पर होती है। (१) मैं इतनी-इतनी सुविधा का सन्मान का अधिकारी हूँ। यह सामने से ऐसे टेढ़ा क्यों चल रहा है ? यदि यह अधिकार ही न माने, स्वाभिमान ही न रखे, तो 'सामने वाले ने अन्याय किया'.... 'सामने वाला मेरा विरोधी है'.... ऐसा मानते नहीं रहेगा। भारी अन्याय तो अपने अनन्त दोषों और कर्मों का है। इसलिए स्वयं को ऐसा ही लगे कि 'मैं अनन्त कर्मों से दवा हुआ-कुचला

हुआ हूँ । मुझे भला स्वाभिमान कैसा ? मैं अनन्त दोषों से भरा हुआ हूँ । मुझे भला गुमान कैसा ?' इस तरह बाह्य पर अपना अधिकार न माने, तो बाह्य पर आक्रमक अन्यायकारी नहीं लगेगा ।

(२) इस प्रकार सुख की बहुत लालसा है, विषयों का राग आड़े आता है, जिससे सगे माता-पिता या सगी पत्नी भी इन सुखों व विषयों के प्रति टेढ़े वर्तन करें, तो अन्याय करने वाले लगते हैं । वास्तव में तो अपनी सुखेष्टता और रागान्धता यह अन्याय मनवाती है । कपड़ा उजला ही चाहिए, ऐसा आग्रह है, इसीलिए वह मैला रखने वाली या मैला करने वाली पत्नी या नौकर पर गुस्सा करता है, उसे अन्यायकारी मानता है । ऐसा राग और ऐसी एष्टता को ही दबाया जाय और 'जैसा हो, वैसा चलेगा,' ऐसा सिद्धान्त पकड़कर रखा जाय तो फिर सामने वाले पर गुस्सा क्यों आएगा ? उसकी तरफ से अन्याय हुआ, ऐसा क्यों दिखेगा ?

### जीवन में दुःख-उद्वेग किससे ?

जीवन में जो बार-बार अन्याय होता दिखता है, दुःख होता है, उद्वेग होता है, उसके मूल में निरीक्षण करेंगे, तो आप देखेंगे कि कोई स्वाभिमान, हक-अधिकार की मान्यता, कोई विषयरोग या कोई सुख लालसा काम कर रही होती है । इसीलिए वापस उसमें कोई कठिनाई आने पर, सामने वाला अन्यायकारी लगता है । यह मान, यह हक, यह रोग या यह लालसा न हो, तो दुःख ही क्यों होगा ? यदि दुःख ही न लगे, तो फिर सामने वाले अन्याय करने वाले नहीं लगेंगे, इससे, मन में समता

भाव रहेगा। सीताजी जैसी महान आत्माय विकट प्रसंगों में भी इस प्रकार समता रख सकीं।

### संसार में अधिक धर्म कौन-सा हो सकता है ?

देवदर्शन—पूजा सामायिकादि करके आप कहते हैं न कि 'अब संसार में बैठकर इससे अधिक धर्म क्या हो सकता है ?' तो समझ लीजिए कि —

अन्तर शत्रु को ही अन्यायकारी मानने का और उसे दबाया करने का विस्तृत धर्म संसार में बैठकर भी बहुत हो सकता है।

आपने संसार—त्याग नहीं किया है और गृहवास में बैठे हैं, फिर भी कदम—कदम पर इस महान धर्म की आराधना कर सकते हैं। अन्तर के मद—राग—लालसा को निरभिमान, वैराग्य, अनासक्ति, तृप्ति आदि के द्वारा दबाते रहना, यह महान धर्म है। इसकी आराधना करते रहना चाहिये। इसमें भी खास करके जब - जब 'सामने से असुविधा या तकलीफ आयी, बाहर में नुकसान हुआ' ऐसा लगे, तब—तब तुरन्त यही प्रयोग चलाना चाहिये।

देखना यह है कि 'स्वयं' को सुयोग्य मानता है, स्वयं को अच्छा करने वाला ही मानता है, इसीलिए तो सामने वाले अपमान करने वाले लगते हैं। सुख की लालसा कष्ट देती है, विषयों का राग सताता है, इसीलिए तो उसमें बाधा पैदा करने वाले को दुश्मन के रूप में देखता है। इसलिए वास्तव में तो इस तरह की बड़ाई, लालसा और राग ही खतरनाक हैं। इन्हें ही मुझे दबाना चाहिये।

**आन्तर शत्रु दबाने के लिए तीन उपाय :**

(१) स्वयं की कर्मपीड़ित अधमता का भान और निरभिमान ।।

(२) सुख की लापरवाही और

(३) विषयों की निर्माल्यता का ख्याल करते रहना ।

बस, स्वयं पर और स्वयं के दोषों पर यह प्रबल अंकुश रखना शुरू हो जाय, तो फिर स्वयं के दोषों के कारण सामने वाले शत्रु दिखते होंगे, उन्हें, अब दुश्मन के रूप में देखना या अन्यायकारी मानना कम होता जाएगा । भगवान के ६८ पुत्रों को यह समझ में आ गया और उनका राज्यादि का राग ही मिट गया । उन्होंने दिल की ममता ही छोड़ दी, इसलिए अब बड़ा भाई भरत दुश्मन या अन्यायकारी नहीं लगता, अब तो अन्यायकारी आन्तर शत्रु मद-लालसा-राग आदि को तोड़ने के लिए जो महा सहायभूत मनुष्य भव मिला है, उसे उसके काम में लगा देने का निश्चित कर डाला, प्रभु के पास वहीं के वहीं वे दीक्षित हो गए ।

यह सुनकर भरत शरमा गया और आकर क्षमा मांगते हुए कहता है—‘माफ करो, मुझे माफ करो । मेरी भुल हो गयी । घर पधारो और सुख-पूर्वक राज्य का उपभोग करो । मुझे तुम पर कोई आज्ञा या हकूमता नहीं चलानी है, परन्तु मुनि बने हुए इन ६८ भाइयों को तो अब सच्चे शत्रुभूत रागादि का और उनके अनन्त काल के अन्याय का सदा के लिए अन्त करना है, इसलिए भरत की विनंती पर वे कैसे लुभाते ?

अब बोलिए, अन्याय का सामना करने जैसा है ? और



करना ही हो, तो किसके अन्याय का सामना करने योग्य हैं ?  
कहना ही पड़ेगा कि -

बाहर के अन्याय का सामना करने के बदले अन्तर के काम या क्रोध-लोभ, राग-द्वेष, मान-मद-माया के घोर अन्याय का सामना करने योग्य है और इसके लिये इन आन्तर शत्रुओं के सामने लड़ने जैसा है ।

इसीलिए तो बाहरी शत्रु के सामने तो सहिष्णुता ही रखनी चाहिए, क्षमा ही रखनी चाहिए, जिससे आन्तर शत्रु क्रोध को कोई मौका ही न मिले, परन्तु यह सहिष्णुता आदि रखना कौन सिखाये ? धर्म ही यह सिखाता है । धर्म ही यह सिखाता है कि वह क्षमा-सहिष्णुता-समता सिखाकर महाशान्ति महा सुख का अनुभव कराता है ।

**ईर्ष्या : आत्महित की जरूरतें हैं ?**

असम्मत नास्तिक को धर्म मानना ही नहीं है, फिर उसे आन्तर शत्रु के सामने लड़ने की और बाहर वाले के सामने सहिष्णुता रखने की समझ और शिक्षण कहाँ से हो ? तो फिर ललितांग मुनि की प्रसंसा वह कैसे सहन कर सकता ? आन्तर शत्रु ईर्ष्या को वह कैसे रोक सकता ? उसे मुनि के प्रति जोरदार ईर्ष्या हुई, उसका द्वेष बढ़ गया और अब 'मुनि को कैसे खत्म करूँ', इन्हीं विचारों में चढ़ गया । इससे सूचित होता है कि-

धर्म मानने वाले को सहिष्णुता - धर्म का अभ्यास जीवन में रखना ही चाहिए; उसे ईर्ष्या करनी ही नहीं चाहिए ।

ईर्ष्या कैसी भयंकर है ? 'मुनि ने नास्तिक का कुछ भी बिगाड़ा है ? प्रशंसा और निन्दा करते हैं, तो लोग करते हैं, इसमें मुनि का क्या दोष ? परन्तु ईर्ष्या का दुर्गुण ही ऐसा अन्धा है कि वह कुछ नहीं देखने देता । ईर्ष्यालु को तो एक ही धून सवार रहती है कि 'मैं किससे हल्का दिखायी देता हूँ ? या मेरी तरह किसको प्रशंसा होती है ? बस, मैं उसे ही नीचा दिखाऊँ, या उसे ही उड़ा दूँ ।' दूसरे का अच्छा सहन कर सकने की ताकत ही नहीं है, इसीलिए बस उसे उड़ाने की ही धून सवार रहती है ।

आप ही कहिये, एक ईर्ष्या बाद में कितने आर्तध्यान और आगे बढ़ते-बढ़ते कितने रौद्रध्यान कराती है ? जब तक सामने वाला हल्का न पड़े या खत्म न हो, वहां तक कितने आर्तध्यान और रौद्रध्यान चला करेंगे ?

**अच्छा ध्यान कब लगता है ?**

इसीलिये यह सावधानी रखनी चाहिये कि 'ॐ' या 'अर्ह' आदि का ध्यान लेकर बैठने की बात बाद में, परन्तु पहले आर्तध्यान को लाने वाली ईर्ष्या आदि आन्तर मलीनता को हटाईये और आर्तध्यान रोकिये । चित्त में आर्तध्यान रमण करते होंगे, तो शुभ ध्यान को अवकाश ही नहीं मिलेगा और ईर्ष्या आदि को छोड़ना न हो तो आर्तध्यान पीछा नहीं छोड़ेंगे ।

**भूठी पकड़ दुर्ध्यान को खींच लाती है :-**

मुनि के प्रति जोरदार ईर्ष्या का मारा असम्मत नास्तिक आर्तध्यान और रौद्रध्यान में रमण करता है और बस एक ही

विचार में चढ़ा है कि 'मुनि को कैसे खत्म करूं ?' जोव के ऊपर लगा हुआ संसार-वास कितना भयंकर है ! वह एक या दूसरे प्रकार की किसी पकड़ में फँसा जाता है, जो बाद में दुध्यान को खींच लाती है । क्योंकि झूठी पकड़ के पीछे मन बुरे विचारों में पड़ जाता है, फिर उसमें दुध्यान कैसे नहीं आयेगा ? बुरा काम तो होता है तभी होता है, परन्तु बुरी विचार धारा तो घंटों के घंटे या कई-कई दिनों तक चला करती है । दुध्यान में यह बुराई है कि वह खराबी या बुरी करनी न होने पर भी मारता है !

विल्ली दिन में कितने चूहों को मारने का नृशंस कृत्य करती है ? बहुत अल्प । परन्तु वह उसकी विचारधारा और रौद्रध्यान कैसे दिन-रात चलाती है ? इसी तरह गिलहरी, बाघ-चीता, भेड़िया आदि शिकारी प्राणियों की दशा कैसी होती है ? यह सब क्यों होता है ? 'शिकार को खत्म करना,' इसी पकड़ रखने से ऐसा होता है । जोव यहां जाये, वहां जाये, लेकिन मन तो वस उसी में रमता रहता है । यह रौद्रध्यान की विचारधारा है, यह बड़ी भयंकर है । इसी तरह आर्तध्यान की विचारधारा भी किसी पकड़ के कारण ही चलती है । इसमें मनकी महा-खराबी है ।

### झूठी पकड़ पर आर्तध्यान का दृष्टान्त :-

उदाहरण के लिए-मन को लग गया कि 'पैसे चाहिये' वस इसी पकड़ के कारण मन उसके आर्तध्यान में रमा करता है और सोचता है कि 'पैसे कैसे मिलेंगे ? कब मिलेंगे इसके लिए मैं क्या करूं ?' आजीविका के लिए पर्याप्त पैसों के बिना संसारी को नहीं चलता, यह बात सच है, परन्तु यह जरूरत अधिक

क्या मांगती है ? उसका उपाय व उद्यम मांगती है, इतना ही न ? परन्तु मन में उसके लिए तड़प होना भी जरूरी है ? क्या बारंबार उसकी चिन्ता भी करना ही चाहिए कि 'कब मिले ? कैसे मिले ? कैसे ज्यादा मिले ?' इस चिन्ता से कुछ हाथ में आता है ? धंधा-नौकरी-मजूरी तो चालु ही है । जीवन का अनुभव है कि नौकरी या धंधे से अमुक धन राशि तो मिलती ही है । चिन्ता करने से कुछ विशेष मिलता है ? भाग्य में जितना होगा, उतना ही मिलेगा । भाग्य कमजोर होगा, तो कम ही मिलेगा । चिन्ता उसमें कुछ भी बढ़ावा नहीं कर सकती । फिर भी जीव को भाग्याधीन पसों की लत लग जाने से वह भाग्य से ऊपर होकर मन से पारावर चिन्ता और आर्तध्यान किया ही करता है ! कैसा मूढ़ ?

### तुच्छ वस्तु की लत से मानव भव की हँसी :-

अरे ! पैसे तो फिर भी बड़ी चीज है, लेकिन जोव को सारी कई तुच्छ वस्तुओं की भी लत लगती है । उदाहरण के लिए-घर के किसी कोने में कचरा देखा, वह अभी के अभी ढककर दूर कर नहीं सकते हों, या दूसरे के पास से तुरन्त निकल-  
 लाया नहीं जा सकता हो, फिर भी मन में उसी के बारे में सोचा करता है कि 'यह कितना खराब लगता है ! यह कचरा क्यों पड़ा है ?....' अथवा अपना वस्त्र कहीं पर फँसने से थोड़ा फट गया, अब वह सुविधा मिलने पर ही सीया जा सकेगा, परन्तु अब भी जब वह फटा हुआ नजर आता है, तब उसकी व्यर्थ ही चिन्ता होती है कि 'यह कपड़ा फटा ? अब कब सीया जा सकेगा ?....ये बेकार कील किसने यहां रखी थी, जिससे कपड़े फट जाते हैं ? अब जब तक कपड़ा सीया नहीं जाएगा, तब तक

कितना बुरा लगेगा ? न सीने से कपड़ा ज्यादा फटा, तो ?....' तुच्छ वस्तु की पकड़ पर भी कितना आर्तध्यान ? कितने पाप-विकल्पों की हारमाला ? उत्तम मानव भव की यह कैसी हँसी ? कैसी विडंबना ? करोड़पति की कन्या मिली हो, साथ में बड़ी संपत्ति मिली हो, लेकिन उसे रसोई घर में गंदे बने हुए कपड़े पहनाये जायें, तो यह उसकी कैसी हँसी होगी ? इसी तरह पुण्य से मिले हुए मानव-जीवन को तुच्छ वस्तु की लत-चिन्ता लगायी जाय, तो यह उसकी कैसी हँसी होगी ?

क्या मानव जन्म ऐसे आर्तध्यान करने के लिए ही है ? क्या आर्तध्यान से जीवन आवाद बनता है ? या वरवाद ? ऐसे-ऐसे आर्तध्यान चला करते हों, वहाँ शुभ ध्यान को अवकाश रहेगा ? चित्त देवदर्शन-वन्दन या जाप आदि में जुड़े, तब उसमें स्थिर रह सकेगा ? आपको शिकायत है न कि शुभ क्रिया में चित्त स्थिर नहीं रहता ? लेकिन

जहाँ आर्तध्यान की लत लगी हो, वहाँ स्थिर शुभ ध्यान कैसे लगेगा ? जीव को तुच्छ लतें लगी हों, वहाँ आर्तध्यान आए बिना रहेगा ही नहीं । फिर चाहे वह परमात्मा के मन्दिर में क्यों न हो ? मन्दिर में वह मन में से बाहर की लत तो बाहर छोड़कर आया नहीं, इतना ही नहीं मन्दिर में भी उसके मन में कई लतें लगी रहती हैं, जैसे-‘यह बाजोठ बीच में क्यों पड़ा है ? ये भाई ऐसे खड़े हैं कि जिससे दूसरों को दर्शन नहीं हो पाते । ये कब तक खड़े रहेंगे ?....वह भाई स्तवन इतने जोर से क्यों गा रहा है ? ऐसा नहीं चलेगा ।’....बस मन में ऐसे आर्तध्यान चला ही करते हैं ।

ऐसी लत, ऐसी पकड़, मानी हुई ऐसी आवश्यकतायें

बुरी हैं। चित्त उनके पीछे पागल बनेगा, अंध बनेगा। फिर अच्छी प्रवृत्ति हाथ में लेने पर भी उसे उसका ऊँचा मूल्यांकन नहीं होता, कोई कद्र नहीं होती। वह बीच-बीच में बुरे चिन्तन किया ही करेगा।

**बुरी लतों के पीछे कैसी महान आत्म संपत्ति की कमाई गँवाना :**

बुरी लतों और मानी हुई व्यर्थ की जहरतों से जीवन ऐसा कलुषित बनता है कि फिर उसके पीछे धाराबद्ध पवित्र विचारधारा, उपशान्त भाव, उदार आशय, मैत्री-करुणा की बहती भावनायें, अरिहंत का शुभ चिन्तन आदि महान् आत्म संपत्तियाँ कमाना हाथ में होने पर भी दुर्लभ व दुःशक्य बन जाता है। जीवन में महानता इन संपत्तियों से आती है, लेकिन बुरी लतें और झूठी जहरतों की अधमता टले तब न ?

बुरी लतों-पकड़ व जहरतों से जीवन अधम ही बना होता है। फिर चाहे देव अरिहंत ऊँचे से ऊँचे मिले, गुरु भी चे त्यागी और तत्त्वज्ञ मिले तथा धर्म अनुपम, अद्वितीय मिला, लेकिन यदि जीवन में अधमतायें उसी तरह खड़ी हों, तो वहाँ तिरने के अच्छे-से-अच्छे से आलंबन मिलने का क्या लाभ लिया जा सकेगा ?

**उच्च तारक आलंबनों की कीमत समझिए :-**

ध्यान में रखिये,-विश्वश्रेष्ठ अरिहंत परमात्मा, त्यागी गुरु, जिनशासन, जिनागम, तीर्थ, धार्मिक आचार, अनुष्ठान



आदि ऐसे अद्भुत आलंबन मिले हैं, जिनके आधार पर आत्मा स्वयं को एकदम बदल ही डाले ! तुच्छ लत-पकड़-आवश्यकतायें नहींवत् कर सकती है । ये आलंबन इस विराट विश्व में मिलने अति कठिन हैं ! अति दुर्लभ हैं ! इनके आधार से ही उन्नति साधी जा सकेगी । जीवन पूरा होने पर इन्हें खो देने के मिलने का महत्त्व खूब ही नजरों के समक्ष रखकर इनका उपयोग कर लेना चाहिए । किसमें ? इन तुच्छ लतों को पकड़ों व जहरतों को नाम शेष करने में ।

## जीवन क्यों हार जाते हो ?

जीव को यह विचार नहीं आता कि 'मैं ये तुच्छ लतें रखकर बैठा हूं, तुच्छ आवश्यकतायें मानकर बैठा हूँ, तो

(1) क्या मुझे ऐसा सुन्दर, दुर्लभ मानव भव मिलने के बाद आत्महित की किन्हीं लतों का अभ्यास ही नहीं करना है ?

(2) आत्म हित की कोई पकड़ ही नहीं रखनी है ?

(3) क्या मेरे आत्महित की कोई आवश्यकतायें ही नहीं हैं ? क्या उन्हें जीवन में मुख्य बनाना ही नहीं है ?

कोने में कचरा पड़ा रहा, कपड़ा फटा, कपड़ा मैला हुआ, यह नहीं चलेगा, ठंड बहुत पड़ रही है,'—ऐसे-ऐसे बेकार, मूर्ख विकल्पों से आत्मा का दीदार सुधरता है ? 'कचरा होना ही नहीं चाहिए, कपड़ा जल्दी फटना ही नहीं चाहिए...कपड़ा फटा, तो तुरन्त सीया जाना चाहिए....कपड़ा साफ ही चाहिए...' ऐसी - ऐसी लत-पकड़-जहरतों को मानने से आत्मा का क्या सुधरता है या बिगड़ता है ? क्या जीवन की जहरतों में यही सब

कुछ आता है ? ऐसा ही जीवन चले, तो क्या आप जीवन जीत गये या पूरी तरह से हार गए ? आप कहते हैं न कि अब ज्यादा धर्म कौन-सा करें ? इन तुच्छ लतों को छोड़ने का अभ्यास करते रहें, यही धर्म कहां कम है ?

### आत्महित की आवश्यकताएँ :-

कोई दान-शील-तप भाव, देव-गुरु भक्ति, क्षमादि गुण, व्रत नियम और पवित्र आचार-अनुष्ठानों की ही कोई पकड़ रखने का धर्म कहां कम है ? क्या उसकी जरूरत ही नहीं ? उसकी खास जरूरत मानने को कोई स्थान ही नहीं ? लेकिन जहाँ तुच्छ लतों, जरूरतों के टोले के टोले खड़े हों, वहां इसको स्थान कैसे मिलेगा ? भूलिए मत, इन तुच्छ लतों पर आर्तध्यान भरपूर चलेंगे । आगे बढ़कर शायद रौद्रध्यान की विचारधारा भी घुस जाये ।

असम्मत नास्तिक को यह लत लगी कि 'नगर में मैं ही सबसे होशियार हूं, मेरी ही बाहवाही होनी चाहिये, मेरे सामने सरे की बड़ाई हो ही नहीं सकती ।' इस लत में उसने नास्तिक-द फैलाया और अब मुनि की भारी तपस्या तथा उसके प्रभाव की प्रशंसा वह सहन नहीं कर सकता ; जिससे वह भयंकर दुष्ट रौद्रध्यान में चढ़ा और मुनि को खत्म करने का उपाय खोजता है ।

### मुनि को जलाने का प्रयत्न :-

नास्तिक ने उपाय खोज निकाला, रात को वह उद्यान में जा यहूंचा । लकड़ियां इकट्ठी करके ध्यानस्थ मुनि के आसपास

रखकर मुनि को जलाने के विचार से कलड़ियाँ सुलगाकर घर चला गया। घर पहुँचकर चैन ही साँस लेता है कि 'वस ! अब मुनि जलकर भस्म हो जाएगा, फिर लोग उसे याद भी नहीं करेंगे। चलो, मेरे रास्ते का कांटा तो दूर हुआ।' मानव जैसा मानव होने पर भी नास्तिक की जंगली जानवरों जैसी भयंकर विचारधारा तो देखिये !

अज्ञानता भरे विचार जीव को कितनी अधमता में उतारकर, उसकी कैसी भयंकर विडम्बना करते हैं।

पहले तो अपकृत्य का दुर्व्यभिचार ! फिर उसके उपाय का चिन्तन !....., उपाय मिलने पर आनन्द-उत्साह !... फिर उपाय का प्रयत्न !.....उसके बाद सोचा हुआ हो जाने की कल्पना !....और उस पर अपार हर्ष भरे विचार !....ऐसा-ऐसा भयंकर चलता है। इसलिये ठेठ पहले से मलीन विचार-चिन्तन शुरू होकर अपकृत्य हो गया हो, ऐसा माना, बाद में भी उसके कल्पित लाभ के हर्ष में भी कोयले जैसा काला हृदय होता है !

### ईर्ष्या-असहिष्णुता के कैसे दारुण परिणाम ?

(१) इसमें नरक का पाथेय बाँधे रखने का ही धंधा होता है या और कुछ होता है ?

(२) दूसरे पवित्र विचार को बिल्कुल अवकाश ही नहीं रहता। यह भी कितनी बड़ी कमी है ?

(३) मानव के चोले में कैसी जंगली पशु हृदय की कार्यवाही चलती है ? वह भी दिल में बिना किसी खेद के, उमंग से चलती है !

(४) धृष्टता भी कंसी बढ जाती है फिर दूसरे अपकृत्यों का विचार व प्रयत्न करने में कोई संकोच ही नहीं होता ? देखिये, दृढप्रहारी ने ब्राह्मण के घर चोरी करने के लिये घुसते हुए बीच में गाय आयी, तो उसे काट मारा ! धोठाई कितनी बढ गयी कि अन्दर जाते हुए गर्भिणी ब्राह्मणी सामने आने पर उसके पेट पर प्रहर करते हुए भी संकोच का अनुभव नहीं किया ! बाद में चोरी में कुछ न मिलने पर वापिस लौटता है, वहाँ सामने ब्राह्मण आया, उसे भी काट गिराया ।

अपकृत्यों में धीठता आये, यह जीव की कैसी विडम्बना है ? यहाँ पर भी यदि कोई सज्जन उसे शावाशी देने वाला नहीं है, तो फिर मरने के बाद तो शावाशी मिलने की बात ही कहाँ से खुनस की मात्र एक खुजली उतारते हैं, परन्तु उसमें नये-नये खुनस की खुजली उठती है ।

जीव मोह मूढ़ भावनाओं का गुलाम ही है न ? पवित्र भावों के अभ्यास के लिए उसका कोई वर्चस्व ही नहीं ? कोई स्वातंत्र्य ही नहीं ?

खूबी तो वापस इस बात की है कि अपकृत्य पार पड़ेगा या नहीं, यह निश्चित नहीं है, फिर भी मूढ़ता से विडम्बित जीव यह मान बैठता है कि वह अपकृत्य पार पड़ेगा ! और उससे मनमाने लाभ की कल्पना करके हर्ष के उन्माद में चढ़ता है । इससे वहाँ भी हृदय की रौद्र स्थिति रहा करती है । वास्तव में देखा जाय, तो सोचा हुआ शायद न भी बने, किन्तु बेचारा जीव भयंकर विचारों से बच नहीं सकता ।

असम्मत नास्तिक की भी यही दशा हुई है। उसने मुनि को जलाने तक के प्रयत्न किये, उसके विचार से खुश हुआ, परन्तु अब मुनि जलेंगे या नहीं, यह प्रश्न है, परन्तु नास्तिक तो हृष में ऐसे रौद्र परिणाम का अनुभव कर रहा है कि—‘चलो, अब शान्ति हुई, मुनि जल गया !’

कोर्ट में झूठी दलीलें देने के बाद घर आकर व्यक्ति आनन्द का अनुभव करता है कि ‘चलो, मेरा पासा तो सीधा पड़ गया ! न्याय मेरे पक्ष में होगा और सामने वाला मात खायेगा ।’ वह ऐसे मलीन विचार किया ही करता है, जैसे फैसला हो गया हो । किसे मालुम है कि फैसला क्या आयेगा ? परन्तु असत् कल्पना की विडम्बना भारी होती है !

### अपकृत्य के लाभ खून के लड्डू जैसे हैं :-

अपकृत्य शायद पार पड़ भी जाए, फिर भी उससे होने वाले मनमाने लाभ में भी जीव को हर्ष का विचार होता है, उसमें भी जीव की काली दशा है । अनीति करके धन कमाया, उस धन के लाभ में अंश मात्र भी पछतावा हुआ ? कि ‘अरे अरे ! यह लाभ तो खून के लड्डू जैसा है । कसाई की हवेली देखकर क्या खुश होना ? बकरे-पाड़े के कत्ल से हुए धनलाभ की क्या कीमत ? इसी तरह झूठ, अनीति, विश्वासघात या पर निन्दा से मिले हुए धन — माल या मान-पूजा-प्रतिष्ठा की क्या कीमत ?

परन्तु अपकृत्य के आवेश ही ऐसे हैं कि वे खून के लड्डू पर हर्ष के उन्माद जगाते हैं ।

अब उसके जीवन में अच्छा क्या आयेगा ? वह तो ऐसे धन से कोई सुकृत भी करके आये, वहाँ लोगों की बाह-बाह सुनकर मन में ऐसा होगा कि 'देखो, इस तरह से व्यापार चलाकर पैसे कमाये, तो ऐसे सुकृत से बाह-बाही मिली।' इस तरह वहाँ भी सुकृत की अनुमोदना के बदले स्वयं ने किये हुए अनीति आदि के दुष्कृत्य की भारी विडम्बना है। उसमें दुर्ध्यान व आत्म पर नये-नये पाप कर्मों का प्रवाह चालु रहता हैं ! उत्तम भव में ये पाप भरे सर्जन न करने हों तो नाशवंत के क्षणिक लाभ में मत ललचाईये, अपकृत्य के आवेश कभी मत रखिये।

अपकृत्य से मिले हुए लाभ को कसाई धन जैसा समझिये ॥

**नास्तिक का पछतावा : बुरे विचार कैसे रुकें ?**

**शास्त्रव्यवसाय अति आवश्यक**

असम्मत नास्तिक घर जाकर हर्ष का अनुभव कर रहा है। मुनि के शरीर की राख देखने के लिये बड़े आनन्द से सुवह उद्यान में आता है। परन्तु यह क्या ? राख के बीचोंबीच ध्यान में जीवित खड़े मुनि को देखकर स्तब्ध बन जाता है कि 'अरे ! यह क्या ? मुनि जले नहीं ?'

ऐसा कैसे हुआ ? मुनि के तप के प्रभाव से और अग्नि की ज्वालाओं के बीच से भी बाहर न निकलकर वहीं खड़े रहकर धैर्य व स्थैर्य रखा, जिससे एक व्यन्तर देवता प्रभावित हो गया, उसने मुनि की रक्षा की।

**तप करने पर भी रक्षा होगी, ऐसा कोई नियम नहीं है:-**



**प्र०—**क्या तप के प्रभाव से देव रक्षा करते ही हैं ?

**उ०—**नहीं, रक्षा करे ही, ऐसा कोई नियम नहीं है; क्योंकि तप होने पर भी दूसरी ओर अपने तीव्र अशुभ अशाता देदनीय आदि कर्म का उदय हो, तो देवता का ख्याल उस तरफ भी नहीं जाता और रक्षा न भी हो, ऐसा भी होता है ।

महावीर प्रभु पर गोशाला ने तेजोलेश्या छोड़ी । भगवान के पास जघन्य से एक करोड़ देव निरन्तर सेवा में रहते हैं, तो एक भी देवता ने तेजोलेश्या नहीं रोकी ? क्यों ? क्या देव इस विचार में थे कि—‘चलो, इस तेजोलेश्या के निमित्त से अशुभ कर्म भोगे जाकर क्षय हो जायेंगे ?’ नहीं, भक्त ऐसे विचार नहीं करता । तो तेजोलेश्या क्यों नहीं रोकी ? यही कहना पड़ेगा कि उस क्षण में देवता का उस तरफ ख्याल ही नहीं रहा ! स्वामी का बलवान अशुभ कर्म ही ऐसा है कि वह सेवक को ख्याल भुला देता है, रक्षा के साधन को भी स्थगित कर देता है ।

खंधक सूरि के शिष्यों को पापी पालक ने घाणी में पील दिया, वहाँ देवता कहां रक्षा करने आए ? उस समय विचरते हुए मुनि सुव्रतस्वामी प्रभु के पास करोड़ देवता हाजिर ही थे । गजसुकुमाल के सर पर ससुर सोमिल ने अंगारे रखे, देवता ने कहा रक्षा की ? वे तो विचरते हुए नेमिनाथ प्रभु के काल में थे, उस समय देवों की उपस्थिति रहती थी और देव आते-जाते रहते थे । तो फिर उनकी रक्षा क्यों न हुई ? इसका एक ही जवाब है कि—

तीव्र अशुभ का उदय हो, तो रक्षा के साधन भी स्थगित हो जाते हैं और वह अशुभोदय सहना ही पड़ता है ।

प्र०—तप लब्धि से स्वयं की रक्षा क्यों नहीं करते ?

उ०—महातपस्वी महर्षियों को तप से चाहे महालब्धियाँ मिली हों, फिर भी उनका उपयोग वे स्वयं के रोग-उपद्रव टालने के लिये नहीं करते; क्योंकि ऐसा करने में वे देखते हैं कि—

(१) एक तो शरीरादि के राग का पोषण होता है और ।

(२) वे समझते हैं कि अशुभ कर्मों को समता से भोग लेने से उनका निर्मूलन (मूल से नाश) हो जाता है । इसीलिए महामुनि ऐसे महाविकट अवसर में भी समता-समाधि रख सकते हैं, जिससे रोगादि उपद्रवों को कर्मनाश में सहायक मित्र समझकर शांति से सह लेते हैं ! आपको ऐसा लगता होगा कि,

प्र०—अति असह्य उपद्रव कैसे सहन हो सकते हैं ?

उ०—फोड़े की मरहम-पट्टी की जाय, तो पीड़ा नहीं होती ? होता है । फिर भी वह पीड़ा आप कैसे सह लेते हैं ? क्योंकि आप समझते हैं कि इससे फोड़ा मिट जाता है । तो इसी तरह समझ लीजिये कि रोग-आपत्ति की पीड़ा को सस्वागत स्वीकार लें, तो कर्म के फोड़े मिटते जाते हैं । महात्मा कर्म के फोड़े को टालने के लिये रोगादि उपद्रवों की असह्य पीड़ा भी समता-समाधि से सह लेते हैं, यह स्वाभाविक है । साथ-ही-साथ उनके पास समता-समाधि का बल है, इसलिए असमाधि के योग से होनेवाले नये कर्मबन्ध उन्हें नहीं होंगे । इस पर से समझ में आयेगा कि—

**मुनि दवा क्यों लेते हैं ?**

सामान्य समाधि बल वाले मुनि रोग टालने के लिए उपचार

करते हैं, वह भी इसीलिए कि हायहाय करते हुए रोग सह ले, तो थोड़े अशुभ कर्म तो निकलेंगे, परन्तु असमाधि के योग से नये अशुभ कर्म बहुत घुस जाते हैं ।

## श्रुतज्ञान का महत्त्व :

अलवत्ता, मुनि को मिली हुई श्रुतज्ञान-शास्त्रज्ञान की शक्ति से दूसरों को यह ज्ञान विरासत में देकर श्रुत परम्परा टिकाने के लिये भी समाधि रहती हो, फिर भी मुनि रोग का उपचार कराते हैं; क्योंकि रोग ग्रस्त अशक्त शरीर से वे मुनियों को शास्त्र वाचना नहीं दे सकते हों, इससे शास्त्रज्ञान की धारा आगे न चले, उसकी परंपरा टूटती हो, तो आगे दूसरे भव्य जीवों का कल्याण नहीं होता आत्म कल्याण का अति आवश्यक साधन शास्त्रज्ञान है । वह न मिलने पर कल्याण कैसे साधा जा सकेगा ? कल्याण की खबर ही कैसे पड़ेगी ? जीवन में शास्त्र-तत्त्वों का खूब रटन न हो तो मन को संकल्प-विकल्पों से बचाने के लिये दूसरा कौन है ? ऐसे महान कल्याण-साधनभूत श्रुत-ज्ञान की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चले; इसके लिये श्रुतज्ञान अखंडित रखना चाहिये । इसीलिये रोग को उपचार से शान्त कर दिया जाय, तो श्रुतज्ञान की परम्परा टिकायी जा सकती है ।

## सन्तानों के प्रति किसमें लापरवाह ?

आप लोगों को शास्त्रबोध के इस ऊँसे महत्त्व का ख्याल नहीं है । शायद यह ख्याल हो, तो भी परवाह नहीं है, यानी श्रावकोपयोगी शास्त्रों के बोध के लिये न तो स्वयं को मेहनत करनी है और न ही सन्तानों को वह ज्ञान देने की कोई परवाह है । सन्तान के लिये दूसरी अनेक परवाहें करते हो, परन्तु उनमें

सम्याग्ज्ञान आये, इसकी परवाह ही आपको कहाँ है ? आज आप जो कुछ थोड़ा भी शास्त्रपदार्थों का ज्ञान रखते हैं, उतना भी सन्तानों को देने की आपको लगन है ? नहीं, स्कूल का पढ़ाने की और व्यापार-धंधे में छोड़ने की पक्की लगन है, सिर्फ धर्म-बोध देने की ही लगन नहीं है ! फिर उस बोध के बिना सन्तान की विचारधारा दिन-रात कैसी रहेगी, इसका कोई विचार भी है ? विषय-कषायों की जोरदार विचारधारा रहेगी ही न ? फिर उसका परलोक में क्या स्थान होगा ? उसके हितैषी माँ-बाप होकर अन्त में आपने उसे यही दिया न ?

**बुरे विचारों से कैसे बचा जाय ? शास्त्र रटन का महत्त्व:-**

तब क्या तुम्हें स्वयं भी रोज-बरोज बोध बढ़ाने की कोई परवाह है ? दिमाग में शास्त्र-पदार्थों का बारंबार रटन करने की कोई परवाह भी है ? यदि नहीं है, तो फिर मन में आर्तध्यान, फिजुल विचार और पाप विचार चला करे, इसमें कोई नयी बात है ?

**नया-नया शास्त्रश्रम चालु न हो तो कैसे नुकसान ?**

(१) नया-नया बोध नहीं बढ़ाया, तो क्या अज्ञानता से बुरे विचार नहीं चलेंगे ?

(२) उत्सूत्र-उन्मार्ग की जानकारी नहीं है, तो उसके विचार व आचरण संभव नहीं होंगे ?

(३) यहाँ-वहाँ राग-द्वेष नहीं चलेंगे ?

लेकिन इस सब भ्रंयकरता का ख्याल ही नहीं है, इसलिये

इसको टालनेवाला जो एक मात्र साधन शास्त्रव्यवसाय है, उससे शास्त्रबोध को बढ़ाने का कोई विचार ही नहीं आता ।

ध्यान में रखिये कि स्वयं भगवान के काल में भी उनके पास रहने मात्र से आत्मा का बचाव नहीं होता । वहाँ भी भगवान द्वारा कहे हुए तत्त्वाँ का रटन ही बचा सकता है । उसमें भी श्रावक भगवान के पास चौबीसों घंटे कहाँ रह सकते हैं ? तो फिर उनको बचाव कैसे मिले ? मन शास्त्रतत्त्वाँ में ही गूँथा रहे, तभी बचाव मिल सकता है ।

शास्त्रबोध-शास्त्ररटन अशुभ व बेकार विचारों से वचने का और आत्मा के उद्धार का जबरदस्त साधन है ।

इसीलिये तो कहा गया है कि—

अस्मिन् हृदयस्थे सति हृदयस्थस्तत्त्वतो मुनीन्द्र इति—

अर्थात् यदि ये जिनवचन हृदय में रमते हों, तो वहाँ वास्तव में परमात्मा ही हृदय में बसे हैं । जिनोक्त शास्त्रों के तत्त्वों का ध्यान, सच्चा परमात्मध्यान है । सिर्फ 'अरिहंत-अरिहंत' रटा करे और जिन वचन के ज्ञानचिन्तन की तरफ कोई प्रयत्न ही न हो, तो काम नहीं बनेगा—न तो मन उल्टे-सीधे विचारों से बच सकेगा और न ही सार-असार, वाच्य-अवाच्य, विचार्य-अविचार्य वस्तु की सूझ रहेगी । शास्त्रबोध ही एक ऐसी चीज है कि जिससे सार-असार आदि को जानकारी भी मिलती है और स्वात्मरक्षा भी होती है । इसीलिये स्वयं में और सन्तान में यह बोध कैसे आये, कैसे बढ़े, उसका रटन कैसे चालु रहे, इसकी चिन्ता रखिये, सावधानी रखिये ।

बात यह थी श्रुत परंपरा टिकाने के लिये मुनि श्रुत-

दान करते रहते हैं और यह करने के लिये रोगी अवस्था में रोग हटाने के लिये जरूरी औषधो-पचार कर लेते हैं। इसी तरह गच्छ रक्षा का भार सर पर हो, तो उसमें जरूरी शरीर शक्ति-स्वास्थ्य टिकाने के लिये भी उपचार से रोग को हटाते हैं। दवा-उपचार करने का यही उद्देश्य होता है।

यदि ऐसा कोई प्रश्न न हो, तो शान्ति-समाधि से रोग को सहन करके कर्मों को चकचूर करने के लिये और नये कर्म-बन्ध टालने के लिये ही मुनि मेहनत करे। वहां कोई तीव्र उपद्रव आने पर वह भी सह ले, किन्तु उसे टालने के लिये अपनी लब्धि का उपयोग न करे। तीव्र अशुभ कर्म का उदय निर्धारित हो, तब देवता को भी रक्षा करने का ख्याल नहीं आता। देखिये न, जब गोशाला प्रभु महावीर पर तेजीलेश्या छोड़ता है, तब प्रभु के पास रहे हुए करोड़ देवों में से एक को भी प्रभु की रक्षा करने का ख्याल नहीं आया। फिर भी ऐसा न हो, वहां पर तप के प्रभाव से देव रक्षा में लग जाने की संभावना है। अर्थात् तप का प्रभाव तो वैसे भी बड़ा ही है।

### तप के प्रभाव पर नास्तिक को आश्चर्य और कर्मबुद्धि

ललितांग मुनि की रक्षा हुई, यह देखकर असम्मत नास्तिक स्तब्ध हो गया। वह सोचता है कि 'अरे! पानी की वाढ़ तो डूबा देती है, चारों ओर से जलती आग तो जलाकर भस्म कर देती है, लेकिन मुनि को इन दोनों से कोई फर्क नहीं पड़ा। यह कैसा आश्चर्य? धर्म के सिवाय यहाँ कौन-सा तत्त्व काम कर गया ?



तप का अचिन्त्य प्रभाव देखकर असम्मत नास्तिक भी आश्चर्य चकित हो गया । आज तक धर्म के प्रभाव की ओर उसकी दृष्टि ही नहीं थी, इसीलिए वह धर्म को निरर्थक ही नहीं विडम्बनाकारी भी गिनता था । परन्तु अब जहाँ धर्म का यह प्रभाव देखा, वह तो ढीला पड़ गया । उसे लगा कि—

### असम्मत की सुन्दर विचारधारा :--

‘अरे ! क्या धर्म का ऐसा अचिन्त्य प्रभाव है कि कुदरत के नियम को भी पलट दे ? बाढ़ तो समान सतह पर रहे हुए सब को समान रूप से डुबाती है, वृक्ष—पत्ते आदि सब पानी में डूब गये, परन्तु मुनि क्यों नहीं डूबे ? अग्नि तो अपने पास में रहे हुए लोगों को जला देती है, ये मुनि तो चारों ओर से अग्नि से घिरे हुए होने पर भी क्यों नहीं जले ?

### नास्तिक का मननीय पछतावा :--

#### थोड़े - से भी धर्म का प्रभाव :--

नास्तिक के मन में अब अपार पछतावा होने लगा कि ‘अरे ! यदि धर्म ऐसे प्रत्यक्ष प्रभाव वाला है, तो यह सूचित करता है कि धर्म तारणहार हैं । उसमें कोई गजब का सामर्थ्य रहा हुआ है । इस हिसाब से शायद संयोग न हो और धर्म ऐसा प्रत्यक्ष प्रभाव न भी दिखाये या इतनी उच्च कोटि का धर्म न भी साधा हो, जिससे ऐसा प्रत्यक्ष भाव न दिखता हो, फिर भी अन्दर जरूर कुछ न कुछ सामर्थ्य पंदा करता ही होगा । तो फिर क्या मैंने ऐसे सामर्थ्यशाली धर्म को ही निरर्थक कहा ? ऐसे कल्याणकारी धर्म को विडम्बनाकारी माना ? मैं कैसा अधम हूँ कि मैंने लोगों को

धर्म का निरर्थक व विडम्बनाकारी कह-कहकर कैसे उल्टे मार्ग पर चढ़ाया ? कई लोग बेचारे धर्मसाधना करते होंगे, उन्हें धर्म भुलाकर पाप में डूबो दिया ? धर्म के प्रति और लोगों के प्रति मेरा कैसा द्रोह ?

‘मैं मानता था कि संसार में जीव विभिन्न प्रकार के अप-कृत्य करने में स्वतंत्र हैं, तो फिर वे धर्मसाधना करने लिये भी स्वतंत्र हैं, ऐसा मैंने क्यों नहीं माना ? मैंने तो उल्टा, धर्म पर प्रहार करके लोक में धर्म का प्रसार होने में रूकावट पैदा की । सचमुच यह तो मैंने धर्म के प्रति द्रोह किया ही गिना जाएगा, यह तो धर्म के प्रति गुंडागोरी की, यही कहा जाएगा ।

मेरे भरोसे, मेरी चालाक वाणी में फँसकर लोग धर्म भूल गये, इसमें भी मैंने लोक का द्रोह किया ही गिना जाएगा । मेरा कृत्य कैसा भयंकर है ?’

### द्वेष-दुर्बुद्धि का पश्चात्ताप :-

मैंने ऐसे समर्थ व प्रभावी धर्म को साधने वाले महात्मा के प्रति ईर्ष्या की ? मैंने उनको जला डालने तक का उपाय अपनाया ! यह मेरा कैसा भयंकर कृत्य है ? दुनिया में मुझे कोई दूसरा दुष्ट ही नहीं दिखायी दिया, जो मैंने ऐसे धर्मात्मा को ही दुष्ट के रूप में देखा ? मेरी कैसी खतरनाक दुर्बुद्धि कि ऐसे गुणवान के गुण गाना तो दूर रहा, मैंने इनमें दुष्टता का आरोपण किया । तारण-हार व प्रभावी धर्म पर भारी द्वेष करके मारने वाली नास्तिकता व अधर्म को अच्छा मानने की तथा इस प्रकार उसका प्रचार करने की भी मेरी कैसी भयंकर दुर्बुद्धि ? महा मूल्यवान मानव बुद्धि का

यह कैसा भयंकर दुरूपयोग !'

### आत्मा कर्म की साबितो :-

असम्मत नास्तिक को धर्म व धर्म के प्रति किए हुए द्वेष, ईर्ष्या व द्रोह के लिये अपार पश्चात्ताप हुआ । इसमें उसे आत्मा, परमात्मा धर्म, पुण्य-पाप .. आदि पर श्रद्धा हो गयी । उसके मन में हुआ कि "जब इन महर्षि को वचाव का कोई प्रत्यक्ष साधन नहीं था, बाढ़ में डूबने और अग्नि में जलकर राख होने के पूरे कारण थे, फिर भी ये न डूबे और न ही तनिक भी जजे । इससे सूचित होता है कि यह सब धर्म के कारण ही हुआ इनके अदृश्य पुण्य का ही इसमें हाथ था । धर्म और पुण्य कोई शरीर की विशेषता नहीं है । शरीर तो जड़ है, पौद्गलिक है, उसे भला धर्म और पुण्य कैसे घटेंगे ? इससे साबित होता है कि यह विशेषता आत्मा की है । इसलिये आत्मा जैसी वस्तु है, इसी तरह धर्म वस्तु तथा पुण्य-पाप कर्म जैसी वस्तु भी है । यह होने से परलोक भी है । नहीं तो इस जगत में विचित्र अवतार कैसे होते ? जन्मधारी प्राणियों में कई प्रकार की विचित्रतायें होती हैं । यह सब आत्मा, कर्म तथा परलोक के कारण ही है ।

### परलोक चिन्ता-आत्म चिन्ता :-

"तब मैंने इस जीवन में यह सब उड़ाने की धृष्टता की ?  
लोभों से द्रोह किया ?

धर्म गुरुओं को सताया ?

जीवन में स्वयं ने कुछ धर्म नहीं किया ?

अभीमान, विषय लंपटता, धनतृष्णा और हिंसादि पापों  
का सेवन किया ?

तो अब मेरा क्या होगा ? उत्तम मानव जीवन की कैसी भयंकर बरबादी की ? आत्मा को भूलकर सिर्फ शरीर के सामने ही दृष्टि रखी, इसी से यह जीवन भयंकर अपकृत्य—दुष्कृत्य भरा बनाया ! धिक्कार हैं मेरे इस नाशवंत शरीर को, इन्द्रियों को और उनके विषयों को, जो लंपटता—तृष्णा—मद और हिंसादि पापचरण कराते हैं !

मैं सनातन—शाश्वत आत्मा हूँ, इन सब नश्वर पदार्थों के साथ मेरा क्या सम्बन्ध ? इन सबसे मेरी आत्मा को क्या लाभ ?

**नास्तिक केवल ज्ञान पाता है :-**

बस, पापों के घोर पश्चात्ताप से नास्तिक का मन हिंसादि दुष्कृत्यों और क्रोधादि कषायों पर से पूरी तरह से उठ गया ; और शरीर तक के बाह्य पदार्थों के प्रति उसे इतना अभाव हो गया कि वह उन्हें आत्मा से पूर्णतः भिन्न देखने लगा । वह परम आस्तिक बनकर अपनी आत्मा को शरीर आदि से बिल्कुल निराली, संबन्ध—रहित और शरीर के सुख—दुःख की असर से रहित देखने लगा । आत्मा के अतिष्ठ भाव और ज्ञानादि गुणों में ध्यान लग गया । इस तरह पापों से विरति, ज.गृति और अनासक्त योग पैदा हो गये ।

गुणस्थानक की सीढ़ी पर चढ़ते—चढ़ते हिंसादि पापों से और क्रोधादि कषाय के भावों से पूर्णतः विराम पाकर, अनासक्त योग से शुक्लध्यान में लीन बना, क्षपकश्रेणी प्रारंभ की, आत्मा के अन्दर रहे हुए घाती कर्मों को ध्यानाग्नि में जलाकर साफ कर डाला, वीतराग बना और केवल ज्ञान पाया ।

## आत्मा की महा स्वतंत्रता कहाँ ?

आत्मा के शुभ और शुद्ध भाव का कितना ऊँचा प्रभाव है ? इसमें खूबी तो यह है कि ऐसे भाव करने में कोई संयोग-परिस्थिति बाधक नहीं है । यह करने में आत्मा स्वतंत्र है और जितना पुरुषार्थ करे, उसी के अनुसार आगे बढ़ सकती है । इसीलिये तो ललितांग मुनि अभी भी सरागता व छद्मस्थता की धरती पर खड़े हैं और एक समय का महा नास्तिक असम्मत्, अब वीतरागता और सर्वज्ञता के आसमान में उड़ रहे हैं !

## मुनि क्यों पीछे रहे ?

क्या मुनि ने आत्मा को शरीर से पूर्णतः निराली नहीं मानी ? क्या उन्होंने हिंसादी पापाचरणों और क्रोधादि कषाय दोषों को नहीं बिसराया था ? सब कुछ था, लेकिन अभी भी अनासक्तयोग की ऐसी प्रबलता उनमें नहीं जगी थी । जब कि असम्मत् को अपने घोर दुष्कृत्यों के सुलगते पश्चात्ताप से विकसित हुए शुभ और शुद्ध भाव से अनासक्त योग जगमगा उठा और इसी से वह मुनि से भी आगे बढ़ गया !

## पापबीज-नाश : आत्म स्वातंत्र्य

इसमें से दो बड़ी वस्तुयें सीखने को मिलती हैं :--

- (१) पापों के पश्चात्ताप के जोश का प्रभाव और,
- (२) शुभ और शुद्ध भाव के विषय में आत्मा का पूर्ण स्वातंत्र्य ।

## (१) पाप पश्चात्ताप से दुष्कृत्य बीज नाश :-

यद्यपि पापाचरण बुरी चीज हैं, परन्तु यदि पाप करने के बाद हृदय में सच्ची समझ आ जाय, तो सेवन किए हुए पापाचरण पर, अपनी पापी आत्मा के प्रति इतनी घृणा-जुगुप्सा होती है और पापाचरण का इतना पश्चात्ताप होता है कि उसमें तमाम दुष्कृत्यों के बीज जलकर राख हो जाते हैं। ये दुष्कृत्यों के बीज जलकर नाश होना, यह बहुत बड़ी चीज है। इसका कारण यह है कि जीव नये-नये जन्मों में जो नये-नये दुष्कृत्य करता है, उसमें पूर्व के संस्कार बहुत काम करते हैं। ये संस्कार ही दुष्कृत्य के बीज हैं। वे सच्चे पश्चात्ताप से जल उठते हैं।

दुष्कृत्यों के बीज अपने में होने का पता कैसे चले ?

### दुष्कृत्यों के बीज के लक्षण :-

(1) पहले तो स्वयं को मिथ्यामति और कुमति हो, जीवन में पापों को कर्तव्य मानने की दुर्बुद्धि-दुराग्रह हो, इससे दुष्कृत्यों के बीज अन्दर पड़े होने का पता चलता है। अब दुर्बुद्धि पर प्रहार होना, यानी आत्मा पर से महा मोह का अधिकार-वर्चस्व उठ जाता है।

### मोह का अधिकार उठ गया यानी,-

- (१) मोह नचाये वैसे नाचना छाड़ दिया जाय।  
(२) ज्ञानी के वचन का आत्मा पर अधिकार-वर्चस्व स्थापित किया जाय। (३) उनके द्वारा कहे गये सत्कृत्य कर्तव्य लगे,  
(४) दुष्कृत्यों की ममता-पकड़ छूट जाय और (५) सत्कृत्यों की ममता जगे।



मोह का अधिकार उठाने लिये भी ये उपाय हैं ।

(२) इसलिये दुष्कृत्यों के बीज का दूसरा लक्षण है-गहा मोह का अधिकार, वर्चस्व, आत्मा की महा मोह के प्रति गुलामी होना ।

(३) तीसरा लक्षण है - दुष्कृत्यों की ममता, खुशी, दुष्कृत्यों के दिखने वाले लाभ में खुशी होना । उदाहरण के लिये- किसी पर क्रोध किया, उसमें हमारी चल गयी, सामने वाला दब गया, अपनी वाह-वाह हुई, वहाँ पर यह लाभ अच्छा लगने से, उसके लिये किया गुस्सा भी अच्छा लगता है । लाभों की खुशी में किये गये दुष्कृत्य का भी आनन्द होता है, ऐसा यह दुष्कृत्य का बीज सूचन करता है । उसके बाद नये दुष्कृत्य करने के भाव रखता है, दिल में उसके लिये कोई संकोच नहीं होता, कोई रंज नहीं होता, दुष्कृत्यों का सेवन फिर से करना पड़ेगा, उसका उल्लास रहता है ।....यह सब क्या है ? दुष्कृत्यों का बीज सलामत रहा ।

(४) दुष्कृत्य करने वाली अपनी आत्मा अच्छी लगे, यह अन्दर में दुष्कृत्य बीज पड़े होने का लक्षण है । फिर दुष्कृत्य करने में जीव सज्ज ही रहेगा । पुरुषार्थ करके यदि ये लक्षण हटाये जायें, तो दुष्कृत्य के बीज जलकर साफ हो जायें । फिर दुष्कृत्य करने का कोई उल्लास नहीं रहेगा और न होशियारी रहेगी । आत्मा की दशा और दिशा ही पलट जाएगी । दुष्कृत्यों के सुलगते पश्चात्ताप में उनके बीज जला डालने की जोरदार ताकत है ।

पश्चात्ताप करना आना चाहिये, वह पश्चात्ताप हृदय की गहराई में से उठना चाहिये । असम्मत नास्तिक ऐसे पश्चात्ताप में चढा था । उसने देखा कि 'मेरी योजना से मुनि चाहे

जले नहीं, परन्तु मैंने तो उन्हें जला डालने का ही प्रयत्न किया; इसलिये वास्तव में तो मैंने जला डालने का ही पाप किया ! इतना बड़ा पाप भरा कार्य कैसे हुआ ? इसका कारण यही है कि नास्तिकवाद से जीवन में छोटे-बड़े पापाचरण ही किये । इसलिये इन पापचरणों में डुबने वाला और कातिल विषय सुखों में लयलीन बनाने वाला नास्तिकवाद भी बुरा है; और वे पापाचरण तथा विषयासक्ति भी बुरे हैं ।’

इस तरह असम्मत को हृदय से पापाचरण की पहचान हो गयी और उनके प्रति पश्चात्ताप की आग में भुलसने लगा । पश्चात्ताप बढ़ते - बढ़ते दुष्कृत्यों के बीज जल गये, जिससे अब सन्मति का प्रवाह बढ़ता है; उस पर भावना भाते हुए आत्मज्ञान अधिकाधिक जगमगा उठता है ।

## (२) शुभ भाव के स्वातन्त्र्य पर आत्मा की साबिती :

तीव्र पश्चात्ताप से असम्मत के दुष्कृत के बीज ऐसे जल गये कि अब आत्मभान जोरदार चमक उठा । उसे ऐसा होता है कि—

‘मुनि के आन्तरिक संमय और तप धर्म का इतना प्रभाव देखा, इससे सूचित होता है कि धर्म ही सच्ची चीज हैं, यह शरीर को नहीं, आत्मा की वस्तु है, इसीसे आत्मा भी एक सत् तत्त्व है । वह है, इसीलिये तो दुष्कृत्य कराने वाले राग-द्वेष-मिथ्यामति आदि मलीन भावों को छोड़कर सन्मति-वैराग्य-क्षमा-अहिंसादि शुभ भाव करने में आत्मा स्वतन्त्र है । इसमें उसे अपने शरीर को भी परवाह रखने की जरूरत नहीं है । शरीर नष्ट हो जाय, फिर भी आत्मा मलीन भावों को रोकने में और पवित्र

भावों को विकसित करने में स्वतन्त्र है। इसीलिये तो मुनि यह कर सके। इससे काया से अलग आत्म द्रव्य की सिद्धि होती है। अब मुझे इस शरीर से क्या लेना-देना ? बाहर के विषय, मान सम्मान और इस शरीर के साथ मेरा क्या संबंध ? कुछ नहीं। मेरा संबंध तो आत्मा के साथ है, आत्मा के वैराग्य भाव, उपशम भाव, उदासीन भाव आदि पवित्र भावों के साथ मेरा संबंध है।'

### आत्म स्वातंत्र्य की आजमाईश :-

बस, असम्पन्न नास्तिक ने मन से काया और कायिक सुख की पराधीनता छोड़कर आत्मा का वास्तविक स्वातंत्र्य आजमाया। अशुभ भावों से वह स्वयं की आत्मा को सर्वथा अलिप्त करते-करते शुभ भावों में चढ़ा और आगे बढ़ते-बढ़ते शरीर-आत्मा के भेद का ठोस अनुभव करते हुए शरीर के प्रति पूर्णतः अनासक्त भाव में चढ़ गया। आत्म तत्त्व के एकाकार चिन्तन में रमण करते हुए वह आत्मा की स्वरूप रमणता के शुभ भावों में आरूढ़ हुआ। वहाँ शुक्लध्यान लगने पर उसने क्षपक श्रेणी प्रारम्भ करके पहले मीहनीय कर्म का और बाद में दाकी के ज्ञानावरणीय आदि समस्त घाती कर्मों का सर्वथा नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया ! कैसे किया ? कहिये, पहले वह नास्तिकता का आचरण करने के लिये स्वतन्त्र था, वह स्वतन्त्रता अब शुभ भावों का विकास करने में काम में ली।

आत्मा के इस स्वतन्त्र्य पर विचार करने जैसा है। वही का वही शरीर होने पर भी एक बार तो प्रतिकूलता में क्रोधादि भाव भड़क उठते हैं और विवेक आने पर दूसरी बार

क्षमादि भाव जगमगा उठते हैं। इससे सूचित होता है कि शरीर के अंदर इन भावों का परिवर्तन करने वाली आत्मा जैसी कोई अलग वस्तु है, जो क्षमादि शुभ भाव करने में स्वतन्त्र है।

आत्मा के इस महा कल्याणकारी स्वतन्त्र्य पर लक्ष्य दिया जाय तो बाहर के संयोगों को महत्त्व न देते हुए स्वयं अंतर के मलीन भावों को रोक कर शुभ पवित्र भाव चमकाये जा सकते हैं। सिर्फ अपनी स्वतन्त्रता का भान होना चाहिये, उसका महत्त्व समझना चाहिए, उसके सदुपयोग का पुरुषार्थ करने की खाहिश चाहिए, तमन्ना चाहिए ! यह खाहिश और तमन्ना पैदा की जाय, फिर देखिये कंसा पुरुषार्थ होता है !

आत्मा के स्वतन्त्र्य के सदुपयोग का पुरुषार्थ करने के लिये क्या मानव भव जैसा दूसरा कई भव है ? नहीं है। आत्मा तो तिर्यच शरीर में भी है, देव और नारकी के शरीर में भी है, किन्तु तिर्यच गति में विवेक नहीं है, देवगति में निःसीम भोग विलास हैं, नरक में भयंकर दुःख हैं, वहाँ स्वातंत्र्य कितना आजमाया जा सकता है ? एक यह मानव भव ही ऐसा सहायक है कि जहाँ मलीन अशुभ भावों को रोकने में और शुभ-शुद्ध पवित्र भाव विकसित करके परम शुद्ध भाव में पहुँचने में आत्मा अपना स्वातंत्र्य आजमा सकती है।

**बीज बोने के सहारे क्या ? मानव भव के सहारे कैसे खास भाव ?**

इसलिये इस मानव भव का सहारा समझिये। किसान के पास गेहूँ के बोरे पड़े हों, उनसे माल मिठाई बनाकर खाने के

मजे ले सकता है, परन्तु किसान ऐसा नहीं करता, वह तो उन गेहूँ-आम्रों से खेत में ढेर सारी फसल उपजाता है। इसी तरह मानव भव के सहारे इन्द्रियों के विषयों में मूढ़ बन-कर मलीन भावों में रमते रहा जा सकता है, परन्तु इसका परिणाम क्या? ऐसे भाव तो अन्य भावों में कहां नहीं हो सकते थे? किसान की तरह 'लम्बे काल के बाद क्या?' ऐसा विचार रखकर इस भव के सहारे शुभ पवित्र भावों में रमण करना चाहिये। समझना चाहिए कि 'बाह्य की बातें होने में मुझे चाहे कर्म की परतंत्रता हो लेकर अंतर के निर्मल भाव करने में मेरी आत्मा स्वतन्त्र है। बाह्य संयोग चाहे जैसे हों, फिर भी मैं अन्तर में निर्मल भावों का विकास कर सकता हूँ।'।

आत्मा के स्वातंत्र्य का उपयोग मलीन भावों को रोकने में और शुभ भावों को विकसित करने में करना चाहिये।

असम्मत् नास्तिक ने इस स्वातंत्र्य का उपयोग किया तो केवलज्ञान पाने तक के शुभ व शुद्ध भाव विकसित किए। परन्तु इसमें कौन सा निमित्त मिला? ललितांग महर्षि के तप का प्रभाव वह निमित्त बना! मुनि उसका नास्तिकवाद छुड़ाने के के लिये वाद विवाद में उतरने के बदले बाह्य व आभ्यन्तर तप में चढ़े, उसका यह प्रभाव पड़ा कि नदी में आयी हुई बाढ़ उन्हें डुबा नहीं सकी, अग्नि उन्हें जला नहीं सकी, यह देखकर नास्तिक श्रेष्ठ पुत्र असम्मत् चौंक उठा और अपने-आप हृदय-परिवर्तन करके नास्तिकता छोड़कर शुभ भाव में चढ़ा।

तप की बलिहारी है। इसीलिए तो भगवान् कहते हैं

‘पूर्व में प्रतिक्रमण—प्रायश्चित्त से नहीं तोड़े गये पाप कर्म या तो भोगने से नाश पाते हैं या तप से नाश पा सकते हैं।’ तब सर्व कर्म भोगकर ही नष्ट करने के लिये कौन तयार होगा ? इसके लिये कितने जन्म चाहिये ? इसीलिये कर्म नाश का श्रेष्ठ उपाय तप ही है। इस उच्च मानव भव में वास्तव में करने जैसा यही है कि-यथाशक्य उत्कृष्ट तप में लगकर कर्मों के भुण्ड के भुण्ड साफ करना।

## बाह्य तप का क्या महत्त्व है ?

तप में स्वाध्याय ध्यान आदि आभ्यन्तर तप बढ़िया हैं किन्तु उन्हें वास्तव में पुष्ट करने वाला बाह्य तप ही है।

अनशन—उपवासादि द्रव्य संक्षेप, रस त्याग, काय कष्ट आदि से मन की बाह्य वृत्तियों पर अंकुश रखा हो, तभी शास्त्र-स्वाध्याय स्वस्थ चित से हो सकता है, स्थिर ध्यान लग सकता है। नहीं तो जहाँ मन की बाह्य वृत्तियाँ दौड़-कूद कर रही हों, वहाँ स्थिरता और स्वस्थता से कैसे ध्यान होगा ? बाह्य तप के द्वारा इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने पर कोई रोक-टोक न रखी हो, अंकुश न रखा हो, अर्थात् उन्हें छूट दे रखी हो या इन्द्रियों की अविरति—आसक्ति हो, तो भी ध्यान को कितनी जगह रहती हैं ?

## ध्यान में चित्त स्थैर्य के उपाय :-

कहने का सार यह है कि महर्षि बाह्य तप के बल पर ही ध्यान में स्थिर रह सकते थे। ‘कायकष्ट’ तप में उपवास करके



काया को कायोत्सर्ग में खड़ी रखने में कष्ट पड़े, वह  
 लिया। इसी से अब मन काया में नहीं जा सकता। इसी तरह  
 'संलीनता' तप से काया वाणी-इन्द्रिय विषयों की प्रवृत्ति का  
 संकोच कर लिया, जिससे मन उनमें नहीं जाएगा! यानी मन सहज  
 रूप से ही ध्यान व स्वाध्याय में स्थिर रह सकेगा। कहने का  
 तात्पर्य यह है कि -

बाह्य तप में मन को बाह्य में से हटाया जाता है और  
 आभ्यन्तर तप में स्थिर किया जाता है।

इस प्रकार बाह्य तप के बल पर पैदा की हुई महर्षि की  
 आभ्यन्तर तप की साधना का जो प्रभाव पड़ा उससे असम्मत  
 नास्तिक नास्तिकता छोड़कर आस्तिक बना। अपने पापों पर उसे  
 अपार पश्चात्ताप और धर्म पर ऐसी अथाह श्रद्धा हुई कि शुभ  
 भावना में आगे बढ़ते-बढ़ते वह ठेठ केवल ज्ञान तक पहुँच गया।

**भोगने से जितने कर्म टूटें, उनसे अनेक गुणा कर्म तप से  
 टूटते हैं :-**

(१) यदि सिर्फ भोगकर ही कर्म तोड़ने हों, अथवा

(२) तप से थोड़े प्रमाण में ही कर्मनाश होता हो, तो  
 कभी कर्मों का सम्पूर्ण नाश करने में पार ही नहीं आएगा। इसी-  
 लिये कहिये,

जंगी कर्मनाश तप से होता है। असम्मत नास्तिक ने पूर्व  
 भव में ऐसी महा तप की साधना से कर्मनाश किया होगा, परन्तु  
 किसी धर्म-विराधना से यहाँ नास्तिकता पायी होगी, फिर भी

‘पूर्व में प्रतिक्रमण’ उसका हृदय - परिवर्तन हुआ और वह भोक्ते के तप के, तो समस्त घाती कर्मों का क्षय कर डाला।  
 शुभ ध्यान में लगाना है ?

तो स्थिर मन से लगा जा सकेगा और इस के लिए काया, इन्द्रियों और उनके विषयों में फँसने वाले मन को बाह्य तप के द्वारा रोकना पड़ेगा। वहाँ अशुभ आर्तध्यान रहेगा, तभी शुभ धर्मध्यान लगेगा। सुख शीलता असंयम और विषयासक्ति आर्त-ध्यान को प्रेरित करने वाले है। इन्हें रोके बिना आर्तध्यान कैसे सकेगा ? और इसके बिना शुभ ध्यान कहाँ से लगेगा ? एक समय में मन एक ही ध्यान में रह सकता है, यदि वह आर्तध्यान में होगा, तो धर्मध्यान में नहीं होगा। इसीलिये मन को आर्तध्यान में ले जाने वाली काया, इन्द्रियों और विषयों के अभ्यास बाह्य तप के लंबे अभ्यास से कम करने पड़ते है। बाह्य तप की महिमा बहुत बड़ी है।

(सम्पूर्ण)

तपोवन चिट्ठोष (ज्ञान भंडार)

तपोवन संस्कार धाम (प्रभावक दृष्ट)

मु. धारागिरि, पो. कालीपौर

न्यसारी - 365 828

फोन: 02530-235650, 235813

E 13 263



मधु प्रिन्टर्स, बिजयनगर